भूमिका

मैं उन लोगों में से हूँ जो विश्वास करते हैं कि सब विषयों की उच्च से उच्च पढ़ाई, विशेष कर अर्थशास्त्र की एम० ए० तक पढ़ाई, हिन्दी के माध्यम द्वारा आसानी से हो सकती है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अर्थशास्त्र विषय की उत्तमा परीक्षा बिना अँग्रेजी का एक भी ग्रंथ पढ़े कोई भी परीक्षार्थी उत्तीर्ण कर सकता है। मैं उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा था जब इस प्रान्त के इन्टरमीडियेट कालेजों में अर्थशास्त्र की पढ़ाई हिन्दी के माध्यम द्वारा होना आरम्भ हो जाय। परमेश्वर की कृपा से वह दिन अब आगया। युक्तप्रान्त के इन्टरमीडियेट बोर्ड की सन् १९४१ की परीक्षा में कोई भी परीक्षार्थी अपने इच्छानुसार अर्थशास्त्र के प्रश्नपत्रों के उत्तर हिन्दी में लिख सकता है। ऐसे परीक्षार्थियों की सुविधा के लिये ही यह ग्रन्थ तैयार किया गया है। इसमें इन्टरमीडियेट बोर्ड के अर्थशास्त्र विषय के पाठ्यक्रम के अनुसार प्रायः सब आवश्यक बातों का समावेश कर दिया गया है। सब बातें भारतीय दृष्टिकोण से ही लिखी गई हैं। यह भी इस पुस्तक की विशेषता है। प्रत्येक अध्याय के अंत में कुछ चुने हुए प्रश्न दिये गए हैं। जिस वर्ष में जो प्रश्न इंटरमीडियेट बोर्ड की परीक्षा में पूछा गया था उसकी सूचना प्रश्न के साथ में ही दे दी गई है। मुझे आशा है कि यह ग्रन्थ उन विद्यार्थियों को भी लाभदायक सिद्ध होगा, जिन्होंने अपने अध्ययन का माध्यम

अँग्रेजी रखा है। इस पुस्तक में कुछ बातें ऐसी दी गई हैं जो अँग्रेजी पुस्तकों में भी नहीं मिलेंगी।

यह पुस्तक मेरे करीब २० वर्षों के इस शास्त्र के अध्ययन और पढ़ाई के अनुभव के आधार पर लिखी गई है। यदि इस पुस्तक के लिखने में मेरे मित्र, अर्थशास्त्र-संबन्धी कई ग्रन्थों के रचयिता श्रीभगवानदास केला का सहयोग प्राप्त न होता तो यह इतने शीघ्र प्रकाशित न हो पाती। श्रीमहेशचन्द्र अग्रवाल एम० ए०, बी० एस-सी०, 'विशारद' ने इस पुस्तक के लिखने में बड़ी सहायता दी। श्रीमान् केलाजी का 'भारतीय अर्थशास्त्र' 'भारतीय राजस्व' और 'धन की उत्पत्ति' तथा श्रीमुरलीधर जोशी का 'संपत्ति का उपभोग' से बड़ी सहायता ली गई है। इन सब सज्जनों का मैं बहुत आभारी हूँ। इस पुस्तक के अंत में परिशिष्ट (२) में ऐसी सहायक पुस्तकों की सूची दी गई है जिनके पढ़ने से अर्थशास्त्र के ज्ञान की वृद्धि होगी।

यदि अर्थशास्त्र के विद्यार्थी और अध्यापकगण इस पुस्तक की त्रुटियों के संबन्ध में मेरा ध्यान आकर्षित करने की कृपा करेंगे तो मैं उनका बहुत आभारी रहूँगा और इस पुस्तक के दूसरे संस्करण में उन त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न करूँगा। पुस्तक में यदि कुछ गलतियां रह गई हों तो मैं आशा करता हूँ कि विज्ञ पाठकगण उनको सुधार लेंगे।

श्री दुबे-निवास, दारागंज (प्रयाग)
श्रावण शुक्ल ४, संवत् १९९६
तारीख १८ अगस्त १९३९

दयाशंकर दुबे
अर्थशास्त्र-अध्यापक,
प्रयाग-विश्वविद्यालय

विषय-सूची

प्रथम खंड—विषय-प्रवेश

पहला अध्याय

अर्थशास्त्र का विषय

दूसरा अध्याय

अर्थशास्त्र के भाग

तीसरा अध्याय

अर्थशास्त्र का अन्य विद्याओं से संबंध

चौथा अध्याय

आर्थिक जीवन का विकास

द्वितीय खंड—उपभोग

पांचवां अध्याय

आवश्यकताएँ

छठा अध्याय

उपयोगिता

सातवां अध्याय

आमदनी खर्च करने की विधि

आठवां अध्याय

मांग

नवां अध्याय

पारिवारिक आय-व्यय

दसवां अध्याय

उपभोग में सामाजिक दृष्टि

तृतीय खंड—उत्पत्ति

ग्यारहवां अध्याय

उत्पत्ति और उसके साधन

बारहवां अध्याय

भूमि

तेरहवां अध्याय

श्रम

चौदहवां अध्याय

पूँजी

पन्द्रहवां अध्याय

व्यवस्था

सोलहवां अध्याय

उत्पत्ति के साधनों की क्षमता

सत्रहवां अध्याय

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति

अठारहवां अध्याय

खेती

उन्नीसवां अध्याय

घरेलू उद्योग-धंधे

बीसवां अध्याय

उत्पत्ति के नियम

इक्कीसवाँ अध्याय

उत्पत्ति का आदर्श

चतुर्थ खंड—विनिमय

बाईसवाँ अध्याय

अदल-बदल

तेईसवाँ अध्याय

मांग और पूर्ति

चौबीसवाँ अध्याय

व्यापार के साधन

पच्चीसवाँ अध्याय

देशी और विदेशी व्यापार

छब्बीसवाँ अध्याय

विदेशी व्यापार

सत्ताईसवाँ अध्याय

मुद्रा

अठाईसवाँ अध्याय

साखपत्र

उन्तीसवाँ अध्याय

बैंक

पंचम खंड—वितरण

तीसवाँ अध्याय

लगान

इकतीसवाँ अध्याय

मज़दूरी

बत्तीसवाँ अध्याय

सूद

तेंतीसवाँ अध्याय

मुनाफा

चौंतीसवाँ अध्याय

असमानता

छठवाँ खंड—राजस्व

पैंतीसवाँ अध्याय

छत्तीसवाँ अध्याय

केन्द्रीय सरकार का आय-व्यय

सैंतीसवाँ अध्याय

प्रान्तीय आय-व्यय

अड़तीसवाँ अध्याय

स्थानीय राजस्व

उन्तालीसवां अध्याय

आर्थिक स्वराज्य

परिशिष्ट (१)

परिशिष्ट (२)

परिशिष्ट (३)

रेखा-चित्र-सूची

—०:०:०—

नकशा-सूची

—:०:—

Contents

(According to the Syllabus of Economics prescribed by the Board of Intermediate Education of U. P.)

[युक्तप्रांत के इंटरमीडियेट बोर्ड के अर्थशास्त्र-विषय के पाठ्यक्रम के अनुसार विषय-सूची]

Introductory [प्रारम्भिक]

Production [उत्पत्ति]

Exchange [**विनिमय**]

Distribution [**वितरण**]

Consumption [उपभोग]

Taxation [कर-प्रणाली]

पहला खंड

विषय प्रवेश

पहला अध्याय

अर्थशास्त्र का विषय

अर्थशास्त्र किसे कहते हैं—संसार में हम लोगों को नाना प्रकार के कार्य करते हुए देखते हैं। एक आदमी सर्दी गर्मी सहन करके प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक खेती का काम करता है। दूसरा, दिन भर परिश्रम करके जंगल से घास या लकड़ी लाता है अथवा कई घंटों तक कल-कारखाने में मजदूरी करता है। तीसरा, सबेरे से रात को नौ दस बजे तक दुकानदारी करता है। चौथा, किसी दफ़्तर में कष्ट-साध्य लेखन-कार्य करता है। पांचवां, रात भर जाग कर बस्ती में पहरा देता है। ये लोग इन कामों में क्यों लगे हैं? क्या ये केवल अपने मनोरंजन के लिए इन कामों में लगे हैं, अथवा क्या इनका उद्देश्य केवल लोक सेवा है? सम्भव है हजार आदमियों में से केवल एक दो लोकसेवा के लिये ही कार्य करते हैं। शेष सब तो इन कार्यों को इसी लिए करते हैं कि उन्हें इन कार्यों के करने के उपलक्ष्य में आवश्यक भोजन वस्त्र आदि मिलता है, या द्रव्य आदि मिलता है, जिस से हम भोजन वस्त्र आदि प्राप्त कर सकते हैं। निदान, हमारे विविध प्रयत्नों का मूल हमारी

आवश्यकताएँ* हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए हम तरह तरह के प्रयत्न करते रहते हैं। हमारे ये प्रयत्न 'आर्थिक प्रयत्न'† कहे जाते हैं, और जिस शास्त्र में मानवी आवश्यकताओं तथा उनकी पूर्ति के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों का अध्ययन किया जाता है, उसे 'अर्थशास्त्र'‡ कहते हैं।

परन्तु अर्थशास्त्र में सभी मनुष्यों की आवश्यकताओं का विचार नहीं किया जाता। जो आदमी जंगल या गुफा आदि में एकान्त जीवन व्यतीत करता है, जिसका दूसरे व्यक्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसे आदमी की आवश्यकताओं का अध्ययन करना अर्थशास्त्र का कार्य नहीं है। अर्थशास्त्र में केवल उन्हीं आदमियो की आवश्यकताओं का विचार होता है, जो समाज में रहते हैं, जिनका अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरे से विविध प्रकार का सम्बन्ध होता है। अर्थशास्त्र सामाजिक मनुष्य के सम्बन्ध में विचार करता है। इसलिए यह एक सामाजिक विद्या है। अर्थशास्त्र के अतिरिक्त और भी कई एक सामाजिक विद्याएँ हैं, उनसे अर्थशास्त्र का सम्बन्ध है, यह आगे एक स्वतंत्र अध्याय में बताया जायगा।

अर्थशास्त्र केवल सामाजिक मनुष्यों का विचार करता है, किन्तु उनके भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये जाने वाले सब प्रयत्न इसके क्षेत्र में नहीं आते। घरों में विशेषतया स्त्रियां और

---

* Wants

† Economic Activity

‡ Economics

बच्चे बहुत से ऐसे कार्य करते हैं जिनसे आदमियों की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं, अनेक आदमी ताश, चौसर, क्रिकेट, फुटबाल आदि खेल करके मन बहलाते हैं, तथापि क्योंकि वे कार्य किसी प्रतिफल के लिहाज से नहीं किये जाते, उनका अर्थशास्त्र में विचार नहीं किया जाता। अर्थशास्त्र में ऐसे प्रयत्नों का विचार किया जाता है, जो प्रधानतः प्रतिफल, पारिश्रमिक, वेतन, पुरस्कार या मुआवजे की दृष्टि से किये जाते हैं, केवल प्रेम, मित्रता, स्नेह, मनोरंजन या धार्मिक भावना आदि से नहीं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र समाज में रहने वाले मनुष्यों के धन सम्बन्धी अर्थात् आर्थिक प्रयत्नों का विवेचन करता है।

इस शास्त्र को अर्थ-शास्त्र के अतिरिक्त संपत्ति-शास्त्र, धन-शास्त्र, अर्थ-विज्ञान और धन-विज्ञान, आदि भी कहते हैं।

धन या संपत्ति—अर्थ-शास्त्र में धन* या संपत्ति केवल रुपए-पैसे आदि सिक्कों या सोने-चाँदी आदि धातुओं को ही नहीं कहते, वरन् इसके अंतर्गत वे सब पदार्थ समझे जाते हैं, जिनसे मनुष्य की किसी प्रकार की कोई आवश्यकता पूरी हो सकती हो, एवं जिनको देकर बदले में दूसरी उपयोगी वस्तुएँ मिल सकती हों। इस प्रकार अन्न, कोयला, लोहा, लकड़ी आदि चीज़ें भी धन हैं। संक्षेप में समस्त उपयोगी और विनिमय-साध्य चीज़ें धन हैं। कोई वस्तु विनिमय-साध्य तब कही जाती है, जब उसे देकर उसके बदले में अन्य उपयोगी वस्तु मिल सके। संसार में बहुत सी वस्तुएँ ऐसी हैं, जो उपयोगी तो हैं, परन्तु विनिमय-

* Wealth

साध्य नहीं; इन वस्तुओं को अर्थ-शास्त्र में धन नहीं कहते। उदा-हरणवत् हवा और रोशनी का विचार कीजिए। इनके उपयोगी होने में किसी को सन्देह नहीं है, परन्तु साधारणतया ये अपरिमित मात्रा में मिलती हैं, अतः ये विनिमय-साध्य नहीं होतीं, और इसलिए अर्थशास्त्र में धन नहीं मानी जाती। हाँ, विशेष दशाओं में, खान आदि में, ये परिमित परिमाण में होती हैं, इन्हें अधिक मात्रा में प्राप्त करने के लिए श्रम अथवा द्रव्य खर्च करना होता है, तब ये विनिमय-साध्य होती हैं, और, इसलिए वहां धन मानी जाती हैं। इससे मालूम हुआ कि किसी चीज़ का, धन होने के लिए, विनिमय-साध्य होना आवश्यक है।

ऊपर धन के जो उदाहरण दिए गए हैं, वे भौतिक पदार्थों के हैं। उनके अतिरिक्त, अ-भौतिक धन भी होता है। एक आदमी दूसरे की, किसी प्रकार की सेवा करता है, यह उपयोगी तो है ही, इसके बदले में उसे द्रव्य या अन्न आदि अन्य उपयोगी वस्तुएं भी मिलती हैं। अतः उसकी सेवा धन है। इसी प्रकार किसी व्यवसाय की प्रसिद्धि या ख्याति उपयोगी भी है, और विनिमय-साध्य भी है; अर्थात्, इसका क्रय-विक्रय हो सकता है। इसलिए यह भी अर्थ-शास्त्र में धन मानी जाती है।

राष्ट्रीय संपत्ति—हमारे नगर में दूसरे नगर से जो सड़क आती है, इसके बनवाने में हजारों रुपये लगे हैं। इसी प्रकार हमारे नगर के पास का नदी पर जो विशाल पुल बना है, वह तो लाखों रुपये में तैयार हुआ है। अतः उपर्युक्त सड़क तथा पुल के सम्पत्ति होने में तो किसी को शंका ही नहीं हो सकती, परन्तु प्रश्न यह है कि यह किसकी सम्पत्ति है। कोई आदमी ऐसा नहीं जो इसे अपनी कह सके; हाँ,

सरकार या राष्ट्र इसपर अपना अधिकार बता सकता है। इस से मालूम हुआ कि कुछ चीजें ऐसी होती हैं जो किसी व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति न होने पर भी राष्ट्रीय सम्पत्ति* अवश्य होती हैं। ऐसी अन्य वस्तुएँ सार्वजनिक मकान, स्कूल, अस्पताल, अजायबघर, डाक, तार, रेल, नदी, नहर आदि हैं। इस प्रकार सम्पत्ति के दो भेद हुए, वैयक्तिक और राष्ट्रीय। भारतवर्ष की राष्ट्रीय सपत्ति में यहाँ की जनता की सम्पत्ति के अतिरिक्त भारत-सरकार, प्रांतिक सरकार, स्थानीय, स्वराज्य-संस्थाओं म्युनिसिपल और लोकल बोर्डों, ग्राम पंचायतों और मन्दिर, मसजिद, धर्मशाला आदि संस्थाओं की विविध सम्पत्ति सम्मिलित होनी चाहिए। इन सब के जोड़ में से वह रकम घटा देनी चाहिए, जो भारतवर्ष में अन्य देशों की लगी हुई है, अर्थात् जो दूसरों को देनी है। कुछ अर्थशास्त्रियों के मत से तो राष्ट्रीय साहित्य, वैज्ञानिक आविष्कार आदि के अतिरिक्त देश के निवासी भी राष्ट्रीय संपत्ति के हिसाब में सम्मिलित किए जाने चाहिए; क्योंकि ये भी अपने देश के धन को बढ़ाते हैं।

अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता—आजकल किसी समाज या देश के आदमियों का सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करना, समय पर उचित भोजन वस्त्र तथा विश्राम प्राप्त करना, रहने के लिए मकान आदि की व्यवस्था करना, शिक्षा स्वास्थ्य आदि के यथेष्ठ साधन होना—ये सब बाते बहुत-कुछ उनकी आर्थिक स्थिति पर निर्भर होती हैं। धनहीन व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करने से वंचित रह जाते हैं, क्योंकि उनके पास पुस्तकों या फीस आदि के लिए रुपया नहीं होता। वे अपनी बीमारी

* National Wealth

में उचित इलाज नहीं करा सकते, क्योंकि उनके पास औषधि आदि के लिए द्रव्य नहीं होता। भूख प्यास से व्याकुल व्यक्ति से ईमानदारी, सच्चरित्रता, स्वाभिमान की भी आशा नहीं हो सकती उसका भगवद्-भक्ति या उपासना आदि म भी लगना कठिन है; कहा है 'भूखे भजन न होय गोपाला'। उसका दूसरो की सहायता या सेवा करना तो प्राय: असम्भव ही है। इस प्रकार मनुष्यो की सुख शान्ति की वृद्धि के लिए उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी होना आवश्यक है। और हम किसी समाज या देश की आर्थिक उन्नति में तभी सहायक हो सकते हैं, जब हमें अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो का समुचित ज्ञान हो। तथा उन सिद्धान्तो के अनुसार उचित उपायो का अवलम्बन किया जाय। इस प्रकार जो व्यक्ति किसी समाज या देश की सुख-समृद्धि के अभिलाषी हैं, उनके लिए अर्थ-शास्त्र का पठन पाठन अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है।

अभ्यास के प्रश्न

(१) अर्थशास्त्र में साधारणतः किन विषयों पर विचार होता है? किसानों के सबंध में किन विषयों पर विचार होता है? मजदूरों के सम्बन्ध में किन विषयों पर विचार होता है? उद्योगधंधों के सम्बन्ध में किन विषयों पर विचार होता है?

(२) यदि आपको किसी अपढ व्यक्ति को अर्थशास्त्र का महत्व समझाना हो तो आप कैसे समझावेंगे?

(३) अर्थशास्त्र क्या है? व्यावहारिक जीवन में अर्थशास्त्र के ज्ञान की क्या उपयोगिता है? (१९३२)

(४) भारत में इस समय अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता समझाइए।

(५) धन या सम्पत्ति की परिभाषा लिखिये। निम्नलिखित वस्तुएं किन दशाओं में धन मानी जा सकती हैं? कागजी रुपया, घर का कूड़ा-कचरा, जहर, रेल का टिकट, समाज-सेवा।

(६) राष्ट्रीय सम्पत्ति में कौनसी वस्तुएं सम्मिलित रहती हैं? अपने नगर की राष्ट्रीय संपत्ति की सूची तैयार कीजिये।

(७) कुछ विद्वानों ने अर्थशास्त्र की धन-विज्ञान के रूप में परिभाषा की है। क्या यह परिभाषा ठीक है?

दूसरा अध्याय

—:०:—

अर्थशास्त्र के भाग

मनुष्य को भूख लगती है; उसे भोजन की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए खेती की जाती है। खेती करने वालों को किसान कहते हैं। सृष्टि की प्रारम्भिक स्थिति में एक समय ऐसा होता है जब अधिकांश आदमी किसान ही होते हैं। किसान अन्न उत्पन्न करते हैं, उपज का कुछ भाग तो वे अपने लिए रखते हैं, कुछ भाग वे नाई, धोबी या कुम्हार आदि को देते हैं जिन्होंने उन्हें विविध प्रकार से सहायता दी है; शेष भाग को वे व्यापारी के हाथ बेच देते हैं। बेचने के दो उद्देश्य होते हैं एक तो यह कि उन्हें जमींदार या सरकार को भूमि का लगान देना होता है, और महाजन को उधार लिए हुए रुपये का सूद चुकाना होता है, दूसरे यह कि उन्हें अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुएं जैसे कपड़ा आदि खरीदना होता है। किसानो को अपनी उपज की बिक्री से जो रुपया मिलता है, उससे ये काम किये जाते हैं। इस प्रकार आर्थिक प्रयत्नों के कई भेद हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए इन प्रयत्नों के,

अर्थात् अर्थशास्त्र के पांच भाग किये जाते हैं—(१) उपभोग*, (२) उत्पत्ति†, (३) विनिमय‡, (४) वितरण,|| और (५) राजस्व × । अब हम यह बतलाते हैं कि इनमें से प्रत्येक का क्या आशय है, और उसमें कैसे-कैसे प्रश्नों पर विचार किया जाता है ।

उपभोग—हम बहुधा कहते और सुनते रहते हैं कि अमुक आदमी ने वह चीज खर्च कर दी। परन्तु अर्थशास्त्र में वस्तुओं के सभी प्रकार के खर्च को उपभोग नहीं कहा जाता। यह विचार करना होता है कि उस वस्तु के खर्च होने से किसी व्यक्ति को तृप्ति या संतुष्टि प्राप्त हुई है या नहीं। उदाहरणार्थ एक आदमी एक रोटी खाता है, और दूसरा एक रोटी को आग में फेंक कर जला डालता है। दोनों दशाओं में रोटी खर्च हो गई, उसकी उपयोगिता नष्ट हो गई। परन्तु प्रथम दशा में रोटी से खाने वाले की संतुष्टि हुई, इस दशा में उसका उपभोग हुआ, यह कहा जायगा। इसके विपरीत, दूसरी दशा में रोटी के जलने से किसी व्यक्ति की संतुष्टि नहीं हुई, इस दशा में अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से उसका उपभोग नहीं माना जायगा।

अच्छा, एक कारखाने में कोयला खर्च होता है, उसके जलने से उसकी उपयोगिता नष्ट होती है। इसी प्रकार वहाँ मशीन धीरे-धीरे घिसती है, क्रमशः उसकी उपयोगिता घटती जाती है। क्या इसे उपभोग कहा जायगा? यहां विचारने की बात यह है कि यद्यपि कोयले और मशीन के उपयोग से जो वस्तुएँ बनेंगी, उनसे मनुष्यों की आवश्यकताओं

* Consumption † Production ‡ Exchange
|| Distribution × Finance

की पूर्ति होगी, कोयले और मशीन के खर्च का तात्कालिक उद्देश्य किसी व्यक्ति की तृप्ति या संतुष्टि नहीं है, वरन् और अधिक धन की उत्पत्ति है, अतः इस क्रिया को, अर्थ-शास्त्र में उपभोग न कह कर उत्पत्ति कहा जायगा।

अस्तु, अर्थ-शास्त्र में उपभोग का आशय किसी वस्तु (या सेवा) के ऐसे उपयोग से होता है, जिससे किसी व्यक्ति की तृप्ति या संतुष्टि* हो। अर्थ-शास्त्र के इस भाग में यह विचार किया जाता है कि मनुष्य जो विविध पदार्थों का उपभोग करते हैं, वह कहां तक उनके तथा देश के लिए हितकर है, और किन दशाओं में वह हानिकर है। इसी प्रसंग में पारिवारिक आयव्यय का भी विचार होता है, तथा यह भी सोचा जाता है कि रहन-सहन का दर्जा कहाँ तक घटाना या बढ़ाना उपयोगी है, एवं वस्तुओं के उपभोग से अधिकतम संतुष्टि किस प्रकार प्राप्त हो सकती है।

उत्पत्ति—अब हम यह विचार करें कि अर्थशास्त्र में 'उत्पत्ति' का अर्थ क्या है। इस प्रसंग में इस प्रश्न पर भी ध्यान देना है कि क्या मनुष्य वास्तव में कोई ऐसी चीज पैदा कर सकता है, जो सर्वथा नयी हो अर्थात् जो किसी न किसी रूप या स्थान आदि में पहले से विद्यमान न हो।

'उत्पत्ति' शब्द का अर्थ है ऊपर आना। जो वस्तु नीचे दबी या छिपी हुई थी, वह ऊपर आ गयी। जो गुप्त रूप या स्थान आदि में थी, वह प्रकट हो गयी। इसका यह अर्थ नहीं है कि जो वस्तु

---

* Satisfaction

पहले नहीं थी उसका नया अस्तित्व हुआ। वास्तव में यह तो हो ही नहीं सकता। भारतवर्ष के ऋषियों ने चिरकाल से इस सिद्धान्त की घोषणा कर रखी है कि अभाव से भाव नहीं हो सकता, और इसी प्रकार भाव से अभाव भी नहीं हो सकता।* विज्ञान के विद्यार्थी भली भाँति जानते हैं कि कोई सर्वथा नया पदार्थ† नहीं बनाया जा सकता (और न किसी विद्यमान पदार्थ का सर्वथा नाश ही किया जा सकता है। जिसे नाश करना कहा जाता है, वह भी वास्तव में रूपान्तर होना ही है।)

उदाहरण के लिये दर्जी कोट सी कर लाता है। साधारण बोल-चाल में कहा जाता है कि दर्जी ने कोट बनाया। परन्तु क्या दर्जी कोई सर्वथा नयी चीज बनाता है? उसे कपड़ा मिला था, उसे उसने काट कर एक खास माप का सी दिया है। उसने कपड़े को अधिक उपयोगी बनाने के लिए उसका रूप या आकार आदि बदल दिया है। अच्छा, अगर यह कहा जाय कि जुलाहे ने कपड़ा बनाया है, तो उसने भी कोई सर्वथा नयी वस्तु नहीं बनायी। उसने सूत लेकर उसका कपड़ा बुन दिया है, अर्थात् उसका रूप इस प्रकार बदल दिया है कि वह आज दर्जी के लिये सूत की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो गया है। इसी प्रकार सूत कातने वाले ने भी कोई नयी वस्तु नहीं बनायी, उसने धुनी हुई रूई ली, और उससे सूत काता, जिससे वह जुलाहे के लिये रूई की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो गया। सूत कातने वाले से पहले

* नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। —भगवद्गीता

† Matter

रूई धुनने वाले ने रूई को धुना और कपास ओटने वाले ने कपास ओट कर रूई तैयार की। इन्होने भी कोई नयी वस्तु तैयार न कर पूर्व प्राप्त वस्तु का रूपान्तर किया है, जिससे वह पूर्वापेक्षा अधिक उपयोगी हो गयी। अस्तु। शायद यह कहा जाय कि कपास पैदा करने वाले किसान ने तो नयी वस्तु पैदा की है। परन्तु विचार करने पर विदित होगा कि उपयुक्त अन्य व्यक्तियो की भाँति किसान ने भी कोई सर्वथा नयी वस्तु नहीं तैयार की। उसने कपास के बीज (बिनौले) लिये, उन्हें जमीन में बोकर, तथा खाद और पानी देकर खेती की। हवा, मिट्टी, और पानी की सहायता से बिनौले से कपास के पेड़ पैदा हुए, जिनसे कपास मिली। इस प्रकार उसने बिनौलो का रूपान्तर करके उनकी अधिक उपयोगी वस्तु, अर्थात् कपास पैदा की।

निदान, उपयुक्त किसी भी व्यक्ति ने कोई सर्वथा नयी चीज पैदा नहीं की। प्रत्येक ने किसी वस्तु को लेकर उसके रूप आदि का कुछ परिवर्तन किया, जिससे वह पहले से अधिक उपयोगी हो गयी। इस उपयोगिता* की बृद्धि को ही अर्थशास्त्र में 'धनोत्पत्ति' कहते हैं। स्मरण रहे कि प्रत्येक वस्तु थोड़ी बहुत उपयोगी तो पहले से ही होती है। मनुष्य अपने विविध प्रयत्नों से उस उपयोगिता को बढ़ाने का कार्य करता है। उपयुक्त उदाहरण में बिनौले कुछ उपयोगी तो हैं ही, पर किसान ने खेती करके, कपास को बिनौलो से अधिक उपयोगी बनाया, उसके बाद कपास ओटने वाले, रुई धुनने वाले, सूत कातने वाले, कपड़ा बुनने वाले और दर्जी ने क्रमशः उपयोगिता-वृद्धि का कार्य किया।

* Utility

स्मरण रहे कि वही उपयोगिता-वृद्धि उत्पत्ति कही जाती है, जिसका आर्थिक दृष्टि से कुछ मूल्य हो, जिसके होने से उस वस्तु का मूल्य पहले से अधिक हो जाय, अर्थात् उसके बदले में उपयोगी वस्तु पहले से अधिक मिल सके।

उपयोगिता-वृद्धि किस किस प्रकार से होती है, अर्थात् उत्पत्ति के कितने भेद हैं, इसका विचार आगे किया जायगा। यहाँ हमें यही बतलाना अभीष्ट है कि अर्थशास्त्र में उत्पत्ति से अभिप्राय उपयोगिता-वृद्धि का होता है।

उत्पत्ति के साधन* भूमि,† श्रम,‡ पूँजी,|| और व्यवस्था × हैं। इनके सम्बन्ध में विशेष आगे लिखा जायगा। धनोत्पत्ति के अन्तर्गत भूमि में यह विचार किया जाता है कि देश की प्राकृतिक शक्ति कितनी है, जल-वायु, वर्षा, नदी, पहाड़, जंगल, खान, समुद्र आदि कहाँ तक उत्पादन कार्य में सहायक हैं, और उन्हें कहाँ तक उपयोग में लाया जा रहा है। श्रम में जनता के सम्बन्ध में विचार होता है; उदाहरणवत जन-संख्या कितनी है, वह देश की उत्पादन शक्ति के विचार से अधिक तो नहीं है, उसकी वृद्धि कहां तक हो रही है, उसका स्वास्थ्य, शिक्षा और कुशलता आदि कैसी है और देश की धार्मिक,• सामाजिक या

---

* Factors of Productin

† Land

‡ Labour

|| Capital

× Organisation

राजनैतिक, स्थिति का उस पर क्या प्रभाव पड़ता है। पूँजी के सम्बन्ध में यह सोचा जाता है कि कृषि-पूँजी (पशु-धन, खेती के औजार आदि) और उद्योग-पूँजी (मकान और मशीनें आदि) की स्थिति कैसी है; इसकी किस प्रकार वृद्धि की जानी चाहिए। व्यवस्था में यह विचारणीय होता है कि उत्पादन की कौन सी विधि में क्या क्या लाभ हैं, भूमि श्रम और पूँजी की क्षमता किस प्रकार और कहाँ तक बढ़ायी जा सकती है; खेती और उद्योग धंधों की उन्नति किस तरह की जानी चाहिए।

विनिमय—कोई मनुष्य अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ उत्पन्न नहीं कर सकता। हमें बहुधा अपने जीवन-निर्वाह के लिए भी दूसरों की उत्पन्न की हुई, या बनाई हुई चीजों की जरूरत होती है। ये चीजें तभी मिल सकती हैं, जब हम उनके स्वामियों को उनके बदले में अपने परिश्रम का कुछ फल दें। निदान, अदल-बदल सामाजिक मनुष्य के लिए अनिवार्य है। परन्तु हर समय एक चीज के अदल-बदल का सुबीता नहीं होता; अतः समाज ने बड़े अनुभव से इस कार्य के लिए एक माध्यम अर्थात् मुद्रा* का निश्चय किया है; मुद्रा से विशेष सम्बन्ध रखनेवाली संस्थाएँ बैंक कहलाती हैं। मुद्रा और बैंकों के सम्बन्ध में यह विचार किया जाता है कि देश में मुद्रा किस धातु की और कितनी होनी चाहिए, तथा उसका विदेशी मुद्राओं से विनिमय किस दर से होना चाहिए, काग़ज़ी मुद्रा का चलन किस सीमा तक होना उचित है, उसके संबंध में किन नियमों का पालन होना आवश्यक है,

* Money

बैंक किस-किस उद्देश्य से खोले जाते हैं, उनका संचालन किस प्रकार किया जाय कि उनका दिवाला न निकले और उनसे जनता को यथेष्ट लाभ होता रहे।

पदार्थों का अदल-बदल* इसीलिए होता है कि दोनों पक्षवालों को लाभ हो, और तभी तक होता है, जब तक कि दोनों को लाभ होता रहे। किसी भी पक्ष का लाभ हटते ही यह कार्य बंद हो जायगा। जब दो चीजों का अदल-बदल होता है, तो उनके परिमाण में कुछ अनुपात-संबंध रहता है, अर्थात् एक वस्तु के कुछ परिमाण के बदले कुछ परिमाण में दूसरी वस्तु दी जाती है। इसे हम उसका मूल्य कहते हैं। उदाहरणार्थ यदि दस सेर चावल के बदले बीस सेर गेहूँ मिले, तो दस सेर चावल का मूल्य बीस सेर गेहूँ हुआ; अर्थात् एक सेर चावल का मूल्य दो सेर गेहूँ हुआ। जब किसी वस्तु की एक इकाई का मूल्य मुद्रा में बताया जाता है, तो हम उसे उस चीज की कीमत कहते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में यदि एक सेर गेहूं का मूल्य दो आने हो, तो गेहूँ की कीमत दो आने फी सेर हुई। पदार्थों को ऐसे हिसाब से लेना-देना आधुनिक समय का विनिमय है। प्राचीन समय में, जब मुद्रा का प्रचार नहीं था, पदार्थों का अदल बदल ही विनिमय था। विनिमय में यह विचार किया जाता है, कि देश के भिन्न-भिन्न भागों में तथा विदेशों में कहां तक कैसी-कैसी वस्तुओं का व्यापार होता है, उसमे क्या बाधाएँ हैं, और उन बाधाओं का किस प्रकार निवारण हो सकता है; विदेशी व्यापार की स्थिति कैसी है।

---

* Barter

वितरण—धनोत्पत्ति के विविध साधनों के मालिकों को उनका प्रतिफल मिलने का नाम अर्थ-शास्त्र में धन वितरण है। भूमिवाले को लगान, श्रम करनेवाले को वेतन, पूँजीवाले को सूद, व्यवस्था करनेवाले को मुनाफा मिलता है। संभव है, किसी किसी उत्पादक कार्य में दो या अधिक उत्पादन साधनो का प्रतिफल पाने का अधिकारी एक ही व्यक्ति या व्यक्ति-समूह हो, तथापि प्रत्येक के प्रतिफल का पृथक् पृथक् हिसाब लगाया जा सकता है।

उत्पादक साधनों में उत्पन्न पदार्थ ही हमेशा नहीं बटता। मेज़, कुर्सी आदि बहुत-सी चीज़ें ऐसी होती हैं, जिनका भाग या टुकड़े होने पर उपयोगिता नष्ट हो जाती है। बहुधा ऐसा भी हो सकता है कि कोयला, लोहा आदि जो चीज़ तैयार हुई है, उसकी सब को आवश्यकता न हो। इसलिए उत्पादकों को उत्पन्न वस्तु का हिस्सा न देकर ऐसी रक़म दे दी जाती है, जो उनके हिस्से की वस्तु की मापक हो। किसी उत्पन्न वस्तु के कुल मूल्य को कुल उपज रकम कहते हैं। उसमें से उस वस्तु में लगी हुई कच्ची सामग्री और कारखाने की टूट-फूट की सँभाल अथवा बीमे की रक़म निकाल देने पर जो रकम शेष बचती है, उसे वास्तविक या असली उपज रकम कहते हैं। उत्पादक साधनों में असली उपज-रकम का ही बटवारा होता है, अर्थात् इसी रकम में से लगान, वेतन, सूद आदि दिए जाते हैं।

अर्थ शास्त्र के इस भाग में यह विचार किया जाता है कि धनोत्पत्ति के विविध साधनों के मालिकों को लगान, वेतन, सूद आदि किस हिसाब से मिलना चाहिए, ऐसा तो नहीं होता कि भूमिवाला या

पूंजीवाला अथवा व्यवस्थापक उत्पन्न धन में से इतना अधिक भाग ले ले कि श्रमियों के पास बहुत कम रह जाय, और सर्व-साधारण जनता की अवस्था चिन्तनीय हो; देश में धन-वितरण यथासम्भव समान हो, ऐसा असमान न हो कि जिससे समाज को बहुत हानि हो, तथा असंतोष-सूचक विविध आन्दोलनों की नौबत आए।

राजस्व—मनुष्य जो विविध आर्थिक प्रयत्न करते हैं, उनका किया जाना तभी विशेष सुविधाजनक होता है, जब देश में शान्ति और सुव्यवस्था हो। यदि हरदम लूटमार की आशंका हो, जिसकी लाठी उसकी भैंस हो, तो धन की उत्पत्ति, विनिमय, वितरण एवं उपभोग अच्छी तरह नहीं हो सकता। देश में शान्ति और सुव्यवस्था रखने का काम सरकार करती है। सरकार को अपना कार्य चलाने के लिए द्रव्य की आवश्यकता होती है, यह द्रव्य किसी न किसी रूप में जनता से ही लिया जाता है। सरकारी खर्च और आय के विवेचन को राजस्व कहते हैं। राजस्व में यह विचार किया जाता है कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकार तथा म्युनिसिपैलिटी और जिला-बोर्ड आदि स्थानीय संस्थाएँ किन-किन तथा कैसे-कैसे करों द्वारा आय प्राप्त करती हैं और अपनी आयको कैसे-कैसे कार्यों में खर्च करती है, उन कार्यों से जनता का क्या हित सम्पादन होता है।

पाठक अब समझ गए होंगे कि अर्थशास्त्र के विविध भागों—उपभोग उत्पत्ति, विनिमय, वितरण और राजस्व का क्या अर्थ है, तथा इनमें कैसे कैसे प्रश्नों का विचार किया जाता है।

इन भागों का पारस्परिक सम्बन्ध—स्मरण रहे कि अर्थ-शास्त्र के उपर्युक्त भाग एक दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र नहीं हैं, बरन् ये भाग केवल अध्ययन की सुविधा के लिए किये जाते हैं। इन भागों का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ उत्पत्ति और उपभोग को ही लीजिये। मनुष्य धन इस वास्ते उत्पन्न करता है, कि वह उसे उपभोग करता है। यदि उसे उपभोग न करना हो तो वह धनोत्पत्ति ही न करे। हम नित्य देखते हैं कि किसी वस्तु का उपभोग जितना अधिक होता है, उतनी ही उसकी उत्पत्ति भी अधिक हो जाती है। जब कि कोई आदमी धनोत्पत्ति करता है तो उसे उत्पत्ति के समय के लिए धन की आवश्यकता होती है, यदि वह उस समय उपभोग न करे, तो उसमें धनोत्पत्ति की क्षमता ही न हो।

इसी प्रकार उत्पत्ति और विनिमय का परस्पर में घनिष्ट संबंध है, क्योंकि उत्पन्न पदार्थों का ही तो विनिमय होता है, यदि उत्पत्ति न हो तो विनिमय ही कहाँ से हो। पुनः जब कोई वस्तु हमारे पास ऐसी होती है, जो हमारे लिए उत्पत्ति में सहायक नहीं होती, तो बहुधा हम उसके विनिमय में ऐसी वस्तु लेते हैं, जो हमें उत्पत्ति में अधिक सहा-यक हो।

अब उत्पत्ति और वितरण की बात लीजिये। वितरण का अर्थ जमींदार, श्रमी, पूंजीपति, और व्यवस्थापक को लगान, मजदूरी, सूद और मुनाफे का मिलना है। परन्तु उत्पत्ति के इन साधकों को उनके हिस्से का प्रतिफल तभी मिलता है, जब वे किसी वस्तु की उत्पत्ति में भाग लेते हैं। उत्पत्ति न हो तो वितरण भी न हो। पुनः यदिसमाज में

धन का वितरण अच्छी तरह हो, आर्थिक विषमता कम हो तो लोगों में अधिक संतोष हो, और वे उत्पादन कार्य अधिक अच्छी तरह कर सकें।

उपभोग और विनिमय का पारस्परिक सम्बन्ध भी स्पष्ट है। मनुष्यों की आवश्यकताएँ भिन्न भिन्न प्रकार की तथा अनेक हैं, और कोई मनुष्य अपनी सब आवश्यकताओं की पूर्ति केवल अपने प्रयत्न से ही नहीं कर सकता, इसीलिए तो उसे अपनी वस्तु दूसरों को देकर, विनिमय द्वारा उनसे अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएँ लेनी होती हैं। यदि प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकताएँ इतनी कम हों कि वह स्वयं ही उनकी पूर्ति कर ले, अर्थात् यदि मनुष्य सर्वथा स्वावलम्बी हो तो विनिमय की क्रिया का प्रश्न न रहे।

इसी तरह उत्पत्ति, विनिमय और वितरण के पारस्परिक सम्बन्ध का विचार किया जा सकता है। कल्पना करो कि कुछ आदमी मिलकर खान में कोयला निकालने का उत्पत्ति कार्य करते हैं, और प्रत्येक को उसके द्वारा लगायी हुई भूमि, श्रम, पूंजी या व्यवस्था के अनुसार प्रतिफल-स्वरूप उस कोयले में से निर्धारित भाग मिलता है। पर उन आदमियों को कोयले की आवश्यकता नहीं है। हाँ, उन्हें आशा है कि कोयले का विनिमय करके वे अपने लिए आवश्यक अन्न वस्त्र आदि प्राप्त कर सकते हैं। इसी आशा पर तो वे कोयले की उत्पत्ति में भाग लेते हैं। यदि कहीं विनिमय न होता, तो वे लोग कोयले का क्या करते; वितरण में अपने हिस्से का कोयला क्यों लेते, अथवा कोयले की उत्पत्ति में ही क्यों भाग लेते।

राजस्व का विषय लीजिये। राज्यकर इसलिए दिये जाते हैं कि देश में शान्ति और व्यवस्था का कार्य करनेवाली एक संस्था होती है, जिसे सरकार कहते हैं। यदि सरकार न हो तो देश में शान्ति सुव्यवस्था भी न हो। उस दशा में न धन की उत्पत्ति ही अच्छी तरह निश्चिन्तता-पूर्वक हो सकती है, न धन का विनिमय हो, और न वितरण ही। पुनः यदि धन की उत्पत्ति न हो तो राज्य को कर आदि कहाँ से दिये जायँ, यदि धन का वितरण न हो तो जिस व्यक्ति को अपने उत्पादन कार्य का प्रतिफल न मिले, वह अपना कर कैसे चुकावे; इसी तरह यदि विनिमय न हो और प्रत्येक व्यक्ति अपने भिन्न भिन्न रूप वाले प्रतिफल द्वारा राज्य-कर चुकावे, कोई राज्य में कोयला ही ले आवे, कोई मिट्टी ही लावे, कोई पत्थर आदि लाया करे तो राज्य को इन सब वस्तुओं का संग्रह करके रखने तथा उनका जनता के हितार्थ उपयोग करने में कितनी भारी असुविधा हो, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। निदान राजस्व का और अर्थशास्त्र के अन्य चारो भागो का परस्पर में अनिवार्य सम्बन्ध है। एक भाग के बिना दूसरे भाग की क्रिया अपूर्ण तथा असुविधा-जनक हो जाती है।

अस्तु, ये कुछ उदाहरण मात्र हुए। अर्थशास्त्र के पांचो भागों का परस्पर में घनिष्ट सम्बन्ध है। प्रत्येक भाग के अन्तर्गत कई ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं जिन पर विचार करने के लिए दूसरे भाग के प्रश्नों पर सोचना आवश्यक हो जाता है। तथापि, जैसा कि पहले कहा गया है, अध्ययन की सुविधा के लिए अर्थशास्त्र के पांच भाग

कर लिये जाते हैं (१) उपभोग, (२) उत्पत्ति, (३) विनिमय, (४) वितरण और (५) राजस्व। इनमें से कोई एक विषय दूसरे विषयों से सर्वथा पृथक और स्वतंत्र नहीं है। प्रत्येक का दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है और सब का अध्ययन करने पर ही अर्थशास्त्र के विषय का सम्यक् ज्ञान होता है।

अभ्यास के प्रश्न

(१) अर्थशास्त्र के कौन से मुख्य मुख्य भाग हैं? इन भागों में जो पारस्परिक सम्बन्ध रहता है उसकी विवेचना कीजिए।

(२) किसी एक मनुष्य का मोटर पर जाना किन दशाओं में उत्पादन कार्य और किन दशाओं में उपभोग का कार्य माना जायगा?

(३) निम्नलिखित विषयों का विचार अर्थशास्त्र के किन भागों में किया जायगा? (क) ग्रामसुधार की पांच वर्षों की योजना (ख) उद्योग धंधों को आर्थिक संरक्षण देने की नीति (ग) वस्तुओं के मूल्य का नियंत्रण (घ) असमानता दूर करने के उपाय।

(४) 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' श्री भगवद्गीता के इस कथन की सत्यता आर्थिक दृष्टि से सिद्ध कीजिये।

(५) अर्थशास्त्र के विनिमय भाग में किन बातों का विचार होता है? इस भाग का सम्बन्ध वितरण और उपभोग से उदाहरणों सहित समझाइये।

तीसरा अध्याय

—:-*-:—

अर्थशास्त्र का अन्य विद्याओं से सम्बन्ध*

इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में यह बताया जा चुका है कि अर्थशास्त्र एक सामाजिक विद्या है। अन्य सामाजिक विद्याएँ समाजशास्त्र,† नीतिशास्त्र,‡ राजनीति,|| कानून/ और इतिहास हैं। इनमें मनुष्य का, एक सामाजिक प्राणी के तौर पर अध्ययन किया जाता है। इन विद्याओं का तथा कुछ और भी विद्याओं का अर्थशास्त्र से घनिष्ट सम्बन्ध है। इस अध्याय में हम यह विचार करते हैं कि अर्थशास्त्र का मुख्यतया किस किस विद्या से क्या सम्बन्ध है। पहले समाजशास्त्र को लीजिए।

*** पाठक इस अध्याय को, सम्पूर्ण पुस्तक को एक बार पढ़ लेने के बाद, पढ़ें तो उनकी समझ में यह और अच्छी तरह आयेगा।**

† Sociology

‡ Ethics

|| Politics

/ Law

अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र—समाजशास्त्र वह विद्या है जिसमें मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का विचार होता है। इसमें बताया जाता है कि मनुष्य एक दूसरे से कैसा व्यवहार करते हैं, कैसी कैसी सामाजिक संस्थाएँ, रीति या नियम आदि बनाते हैं और किस प्रकार सामाजिक जीवन व्यतीत करते हैं। इस विद्या का क्षेत्र इतना व्यापक है कि कुछ लेखक अर्थशास्त्र (और अन्य सामाजिक विद्याओं) को इसका अंग मात्र मानते हैं। यह ठीक है कि मानवी जीवन के भिन्न भिन्न पहलुओं का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है और मनुष्य के धन-सम्बन्धी प्रयत्नों को नीति, कानून, राजनीति आदि से सर्वथा पृथक् करके स्वतन्त्र रूप से अध्ययन नहीं किया जा सकता, तथापि सब सामाजिक विद्याओं का एकत्रित रूप में सम्यक् विवेचन नहीं किया जा सकता, कारण कि मनुष्यों की विविध क्रियाओं का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इस प्रकार उत्तम यही है कि आर्थिक सिद्धान्तों की गवेषणा और मनन के लिए अर्थशास्त्र को एक पृथक् विद्या समझा जाय, साथ ही इसका अन्य सामाजिक विद्याओं से जो सम्बन्ध है, उसका भी ध्यान रखा जाय।

अर्थशास्त्र और नीति—अच्छा, अर्थशास्त्र और नीति का परस्पर में क्या सम्बन्ध है। नीति हमारे सामने आदर्श उपस्थित करती है; वह बतलाती है कि कौनसा कार्य अच्छा है कौनसा बुरा; मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। अर्थशास्त्र का जहा तक सिद्धान्त से सम्बन्ध है वह केवल वस्तुस्थिति का विचार करता है, वह बताता है कि आर्थिक स्थिति क्या है, अथवा क्या होती

है। उदाहरणवत वह बताता है कि शराब आदि मादक पदार्थ ऐसी वस्तुएँ हैं जो तैयार की जाती हैं और विनिमयसाध्य हैं अर्थात् बेची तथा खरीदी जाती हैं। अर्थशास्त्र नीतिशास्त्र की भांति यह निर्णय नहीं करता कि शराब बनाना या बेचना बुरा है। इस प्रकार अर्थशास्त्र को नीति-रहित कहा जा सकता है। (तथापि वह नीति-विरोधी तो नहीं है)।

व्यावहारिक दृष्टि से अर्थशास्त्री को आर्थिक समस्याओं के—विशेषतया वितरण-सम्बन्धी आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में—नैतिक दृष्टि-कोण का भी विचार करना होता है। उसके सन्मुख ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं कि श्रमजीवियों को कितना वेतन मिलना चाहिए, सूद की दर कहा तक होना ठीक है, वस्तुओं का उचित मूल्य क्या है। इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए नैतिक दृष्टि से विचार करना आवश्यक होता है। आधुनिक काल में तो यह प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है।

पुनः आर्थिक परिस्थितियों का भी मनुष्यो के नैतिक जीवन पर प्रभाव पड़ता है। जिस देश में धन की उत्पत्ति कम होती है, अथवा जहां धन वितरण बहुत असमान रूप से होता है, वहां अधिकतर जन-समाज बहुत असन्तुष्ट और कष्टपीड़ित रहता है, उनका नैतिक जीवन तथा आदर्श ऊँचा नहीं होता। अस्तु, जब कि अर्थशास्त्र और नीति-शास्त्र दोनो का उद्देश्य समाज का हित है, एक को दूसरे से सर्वथा पृथक नहीं किया जा सकता।

अर्थशास्त्र और राजनीति—अर्थशास्त्र और राजनीति भी एक

दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। राजनीति में राज्य के नियमों का विवेचन होता है। आयात निर्यात कर, अन्य कर, कारखानों के कानून, सरकार के जन सेवा सम्बन्धी कार्य इत्यादि ऐसे विषय हैं जिनका राजनीति और अर्थशास्त्र दोनों विद्याओं से सम्बन्ध है। व्यापार और भूमि आदि विषय की सरकारी नीति से आर्थिक परिस्थिति में परिवर्तन होता है तो धनोत्पत्ति और वितरण सम्बन्धी आर्थिक स्थिति का प्रभाव सरकार के कार्यों तथा स्वरूप पर पड़ता है। जहां धन का वितरण बहुत असमान हो, वहां यह सम्भावना रहती है कि राज्य प्रजातन्त्रात्मक होते हुए भी मतदाताओं पर अनुचित प्रभाव पड़ने से, वह वास्तव में कुछ पूंजी-पतियों के इशारे पर चलनेवाला हो जाय। राजनीति अर्थनीति को नियंत्रित करने का दम भरती है, तो अर्थशास्त्र राज्य का ढांचा बदलने में बहुत कुछ सफल हो सकता है।

अर्थशास्त्र और कानून—इसी प्रकार अर्थशास्त्र और कानून के पारस्परिक सम्बन्ध का विचार किया जा सकता है। कानून के सम्यक् पालन के बिना देश में शान्ति और सुव्यवस्था नहीं हो सकती जो कि व्यापार और उद्योग आदि की उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार कानून लोगों की आर्थिक उन्नति में सहायक होता है। साथ ही आर्थिक परिस्थितियों का भी कानून पर प्रभाव पड़ता है, जैसे-जैसे किसी देश की आर्थिक स्थिति बदलती जाती है, नये नये कानून बनाये जाते हैं, अथवा पुराने कानूनों में संशोधन या परिवर्तन होते रहते हैं। उदाहरणवत कल-कारखानों के नियम आधुनिक आर्थिक व्यवस्था के कारण ही बने हैं।

अर्थशास्त्र और इतिहास—अब अर्थशास्त्र और इतिहास के पारस्परिक सम्बन्ध का विचार करें। आर्थिक इतिहास (आर्थिक घटनाओं का इतिहास) बतलाता है कि देश में कब कब अनावृष्टि या अति-वृष्टि हुई, उसका प्रभाव कितना व्यापक हुआ, उसके लिए क्या क्या उपाय काम में लाये गये और उनमें कहां तक सफलता मिली। अथवा देश में विविध पदार्थों के व्यापार में कब कब विशेष प्रगति हुई, उसके कारण क्या थे, समय समय पर सरकार की व्यापारनीति तथा मुद्रा-नीति क्या थी, इत्यादि। इस सामग्री से अर्थशास्त्र में दुर्भिक्ष या व्यापार आदि के सम्बन्ध में विचार अच्छी तरह हो सकता है; गलत सिद्धान्तों की आलोचना करने और बैंक या साख समितियां आदि संस्थाओं की सुदृढ़ आधार पर स्थापना करने में सहारा मिलता है। पुनः इस समय जो आर्थिक समस्याएँ और विचार विद्यमान हैं, उनका उद्गम या प्रादुर्भाव भूतकाल में हुआ है, उनके यथेष्ट विश्लेषण के लिए उनके क्रमिक विकास को इतिहास बहुत सहायक होता है। इस प्रकार आर्थिक इतिहास एवं आर्थिक विचारों के इतिहास से अर्थ-शास्त्र का घनिष्ट सम्बन्ध है।

अर्थशास्त्र और अन्य विद्याओं का सम्बन्ध—उपर्युक्त विद्याओं के अतिरिक्त भूगोलादि का भी अर्थशास्त्र से बहुत सम्बन्ध है। आधुनिक भूगोल विशेषतया मानव भूगोल* का मुख्य विषय यह होता है कि मनुष्य का उसकी प्राकृतिक परिस्थिति से क्या सम्बन्ध है—भूमि,

* Human Geography

जल, वायु, नदी, पहाड़, जंगल, गर्मी, सर्दी, वर्षा आदि से उसके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। अब अर्थशास्त्र की बात लीजिये। जैसा कि आगे बताया जायगा धन की उत्पत्ति भूमि बिना हो ही नहीं सकती; उसमें पृथ्वी के ऊपरी सतह के अतिरिक्त भू-गर्भ, जल वायु, वर्षा आदि का भी असर होता है। इन सब को भूमि के ही अन्तर्गत माना जाता है। मनुष्य की आवश्यकताओं (उपभोग) और व्यापार (विनिमय) सम्बन्धी प्रयत्नों का, उसकी प्राकृतिक परिस्थिति का सम्यक् विचार किये बिना, अध्ययन नहीं किया जा सकता। इससे स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का भूगोल से कितना सम्बन्ध है।

अर्थशास्त्र का मनोविज्ञान से भी बहुत सम्बन्ध है। कारण, अर्थ-शास्त्र में यह अध्ययन किया जाता है कि मनुष्यों की आवश्यकताएँ क्या हैं, उसे किन वस्तुओं की प्राप्ति से कितना संतोष या सुख मिलता है, और यह विषय मनोविज्ञान के अन्तर्गत है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन में गणित तथा अंकशास्त्र से बहुत सहा-यता मिलती है। यद्यपि मानवी इच्छाओं और आकांक्षाओं का ठीक ठीक नाप तोल नहीं हो सकता, तालिका, रेखाचित्रों, 'ग्राफ', समी-करण आदि से आर्थिक समस्याएँ और सिद्धान्त अच्छी तरह समझ में आ जाते हैं। अतः अर्थशास्त्र के ऊंचे दर्जे के ग्रन्थों में इनका देना आवश्यक होता है। इससे अर्थशास्त्र का गणित तथा अंकशास्त्र से सम्बन्ध स्पष्ट है।

ये कुछ उदाहरण मात्र दिये हैं। अन्य बातें पाठक स्वयं विचार सकते हैं। निदान, अर्थशास्त्र का सामाजिक विद्याओं से तो घनिष्ठ

सम्बन्ध है ही, इसके अतिरिक्त अन्य कई विद्याओं से भी न्यूनाधिक सम्बन्ध है। अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को, इस शास्त्र के अध्ययन करने में इस बात को स्मरण रखना चाहिए।

अभ्यास के प्रश्न

(१) स्पष्ट बताइए कि अर्थशास्त्र का अन्य विद्याओं से क्या सम्बन्ध है ? उदाहरण दीजिए। (१६३०)

(२) आपकी समझ में अर्थशास्त्र का किस अन्य विद्या से सर्वाधिक सम्बन्ध है ? विवेचनापूर्वक बताइए।

(३) क्या समाजशास्त्र अर्थशास्त्र का एक अंग है अथवा अर्थशास्त्र समाजशास्त्र का अंग है ? समाजशास्त्र के अन्तर्गत और कौन सी विद्याएं सम्मिलित हैं ?

(४) अर्थशास्त्र का नीतिशास्त्र, राजनीति और इतिहास से सम्बन्ध उदाहरणों सहित समझाइए।

(५) निम्नलिखित विषयों का विचार अर्थशास्त्र में किस सीमा तक होता है—

(क) उत्पादक को कितना मुनाफा लेना उचित है ?

(ख) न्यूनतम मजदूरी की दर क्या होनी चाहिये ?

(ग) सार्वजनिक कार्यों में सरकार का स्थान।

(घ) धर्म और अर्थ का सम्बन्ध।

चौथा अध्याय

—:*-:—

आर्थिक जीवन का विकास

प्रथम अध्याय में यह बताया जा चुका है कि अर्थशास्त्र मनुष्य के आर्थिक प्रयत्नों का विवेचन करता है। किन्तु, क्या हमारा आर्थिक जीवन सदैव एक सा ही रहा है, क्या इसमें समय समय पर कुछ परिवर्तन नहीं हुए हैं? आर्थिक जीवन का आशय यह है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं से प्रेरित होकर कैसे कैसे प्रयत्न करता है, और इन प्रयत्नों से उसकी आवश्यकताओं की कहाँ तक पूर्ति होती है। आर्थिक जीवन के विकास* पर कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। साधारणतया इस आधार पर विचार करना सुबोध होता है कि मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियों पर किस प्रकार अधिकाधिक अधिकार प्राप्त किया है। इस दृष्टि से उत्पत्ति के क्रम नीचे लिखे अनुसार हैं:—

१—शिकार अवस्था†

२—पशुपालन अवस्था‡

---

* Development of Economic Life

† Hunting stage, ‡ Pastoral stage.

३—कृषि अवस्था*

४—कारीगरी या दस्तकारी अवस्था†

५—कल कारखानों की अवस्था‡

स्मरण रहे कि यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक देश में एक क्रम एक साथ ही आरम्भ तथा समाप्त हो, अथवा किसी देश में एक क्रम के समाप्त होने के बाद ही दूसरा क्रम आवे। भिन्न भिन्न देशों की प्रगति पृथक् पृथक् रही है, और एक देश में एक ही समय में उत्पत्ति के दो तीन क्रम एक साथ भी मिलते हैं।

शिकार अवस्था—प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विविध पदार्थ उत्पन्न करने या बनाने का कार्य नहीं करता। वह यह जानता भी नहीं था कि पशुओं का पालन तथा कृषि-कार्य कैसे किया जाय। पहले वह जंगल में रहता था, एक-दूसरे से मिल कर गाँव या खेड़े में रहने की आदत न थी। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति की केवल खाने पीने की आवश्यकताएँ होती थीं, इन्हें वह स्वयं बिना किसी दूसरे व्यक्ति के सहयोग के पूर्ण करता था। भोजन के लिये वह शिकार करता, अथवा जंगल में जो कुछ फल आदि मिल जाता, उसी पर निर्वाह कर लेता था।

पशुपालन अवस्था—प्रथमावस्था में मनुष्य को नियमित रूप से, निर्धारित समय पर, भोजन मिलना कठिन था। फिर, उसे जंगली

---

* Agricultural stage, † Handicraft stage,
‡ Manufacturing stage

जानवरो से अपनी रक्षा करने की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। क्रमशः उसमें मिल जुल कर जत्था या टोली बनाकर रहने की भावना बढ़ी। उसने पशुओं को पालना सीखा। बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध से उसकी भोजन की चिन्ता कम हुई। मछलियां पकड़ने के लिये वह जाल और किश्तियाँ बनाने और नदी और समुद्र-तट का उपयोग करने लगा। इस प्रकार धीरे-धीरे उसने उन्नति में कदम बढ़ाया। पर इस अवस्था में भी वह अधिकतर घूमता फिरता रहता था। हाँ, वह प्रायः जत्था बना कर रहता था। जहाँ कहीं किसी जत्थे के लिये तथा उसके पशुओं के लिये खाद्य वस्तुएँ मिलतीं, वहां ही कुछ दिन ठहर जाता, पश्चात् किसी और अनुकूल स्थान की खोज करता। उस समय भूमि पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार न था, 'सबै भूमि गोपाल की' थी। जिसका जहाँ जी चाहता, रहता और स्वच्छन्द भ्रमण करता था।

कृषि अवस्था—क्रमशः मनुष्य ने कृषि-कार्य सीखा, जिससे प्रकृति उसके लिये प्रचुर मात्रा में भोजन वस्त्र आदि की सामग्री प्रदान करने लगी। जब उसने कृषि के लिये भूमि तैयार की, तथा उसमें बीज बोया तो फसल तैयार होने तक उसे एक ही स्थान में ठहरना आवश्यक हुआ। इस प्रकार मनुष्य की आवारागिर्दी कम हुई। उसने गाँव या खेड़े मे स्थायी रूप से रहने की बात सोची। जिस भूमि को जिस व्यक्ति ने जोता बोया, उस पर अब उसी व्यक्ति ने अपना विशेष अधिकार रखना आरम्भ किया। अब भूमि लोगों की व्यक्तिगत सम्पत्ति होने लगी, पर उसके काफी परिमाण मे होने तथा जनसंख्या कम होने से उसके सम्बन्ध में कुछ विशेष झगड़ा होने की बात न थी।

ऐसी अवस्था में प्रत्येक गाँव प्रायः पूर्णतः स्वावलम्बी होता है, उसके निवासी अपनी आवश्यकताओं के पदार्थ मिलजुल कर स्वयं बनाते हैं, वे बाहर के आदमियों के आश्रित नहीं रहते। अधिकतर आदमी खेती करने वाले होते हैं, कुछ मज़दूर उन्हें सहायता करते हैं, और कारीगर खेती के लिये तथा अन्य व्यवहारोपयोगी वस्तुएँ बनाते हैं, या सुधारते हैं। योरप में उद्योग धन्धों की उन्नति होने से पूर्व प्रायः यही अवस्था थी। इस अवस्था में प्रायः पदार्थों का अदल-बदल होता है, मुद्रा द्वारा क्रय विक्रय नहीं। मज़दूरी भी बहुधा जिन्स में दी जाती है, नकद वेतन नहीं दिया जाता।

इसका सब से अच्छा उदाहरण प्राचीन भारतीय ग्राम-संस्थाएँ हैं, जो समय के अनेक उलट फेर होते हुए भी, यहाँ अंगरेज़ों के आने के समय तक अपनी स्वतन्त्रता तथा स्वावलम्बन बहुत कुछ बनाये हुए थीं, और अब भी किसी न किसी रूप में अपनी पूर्व महत्ता की सूचना दे रही हैं। प्रत्येक गाँव में कुछ पुश्तैनी कार्य कर्ता होते थे—यथा लुहार, बढ़ई, तेली, नाई, धोबी, जुलाहा, कुम्हार, भंगी, चमार, आदि। पुजारी, पहरेदार, महाजन आदि के कार्य के लिये भी प्रत्येक गाँव में अपनी व्यवस्था थी। निदान, रोजमर्रा की सब साधारण आवश्यकताओं की वहीं की वहीं पूर्ति हो जाती थी। जो चीजें गाँव में नहीं होतीं थीं, वे बाजार या हाट से ले ली जाती थीं जो प्रायः प्रति सप्ताह या सप्ताह में दो बार कुछ गाँवों के केन्द्रीय स्थानों पर लगता था। साधारण आवश्यकताओं की वस्तुओं में विशेषतया नमक और लोहा ये दो ऐसी हैं, जो कुछ खास स्थानों में ही मिलती हैं।

हल आदि कृषि-सम्बन्धी औजारों के लिये लोहे की ज़रूरत होती है। नमक तो जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुओं में से है, पर यह हर कहीं सुगमता से नहीं तैयार हो सकता, अनुकूल भूमि में ही हो सकता है। वहाँ से व्यापारी इसे विविध स्थानों में ले जाकर, बेचते हैं; प्रारम्भिक अवस्था में अन्यान्य वस्तुओं की भाँति नमक का मूल्य जिन्स में ही लिया जाता था। कुछ लोगों का मत है कि नमक और लोहा उन वस्तुओं में से है, जिनके लिये पहले-पहल व्यापार होना आरम्भ हुआ।

अस्तु, कृषि-प्रधान अवस्था में, गाँव साधारणतया स्वावलम्बी होता है। और, जिस तरह गाँव स्वावम्लबी होता है, उसी तरह देश भी अपनी सब आवश्यकताओं की स्वयं पूर्ति करता हुआ स्वावलम्बी हो सकता है। भारतवर्ष ने अति प्राचीन काल से ईसा की अठारहवीं शताब्दी तक स्वावलम्बी जीवन व्यतीत किया। जो वस्तुएँ गाँव में नहीं बनती थीं, उन्हें गाँव वाले तीर्थयात्रा के स्थानों या राजधानी आदि के नगरों में जाकर ले आते थे, इसी प्रकार नगर निवासी अपनी कारीगरी के लिये कच्चा माल देहातों से लेते थे। आज कल तो गाँव गाँव तक में विलायती पदार्थों ने प्रवेश कर लिया है। आधुनिक जगत में किसी देश के लिये सर्वथा स्वावलम्बी बना रहना प्रायः असम्भव ही है।

कारीगरी या दस्तकारी अवस्था—क्रमशः मनुष्य की जब आर्थिक उन्नति होती है, मनुष्य की सब आवश्यकताएँ बढ़ती हैं। कृषि-अवस्था

में उसकी मुख्य आवश्यकताएँ भोजन वस्त्र की होती हैं। ये आवश्य-कताएँ सदैव बनी रहती हैं। पर ज्यों ज्यों आर्थिक उन्नति होती है, मनुष्य की सब आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वस्तुओं की तुलना में भोजन वस्त्र का परिणाम बहुत कम हो जाता है। आज दिन कोई मध्य श्रेणी का व्यक्ति भी अपने घर के कुल पदार्थों की सूची बनाकर देखे, उनमें कितनी ही वस्तुएँ मिलेंगी, जिनका भोजन वस्त्र से प्रत्यक्ष या विशेष सम्बन्ध नहीं। जिस परिवार में सौ या डेढ़ सौ रुपया माहवार खर्च होता है, उसमें सम्भव है केवल भोजन वस्त्र का विशुद्ध व्यय चालीस पचास रुपये से अधिक न हो। शेष सब खर्च अन्य वस्तुओं में होता है। ज्यों ज्यों अधिक आय वाले परिवार का विचार करेंगे, त्यों त्यों उनका, कुल खर्च में, भोजन वस्त्र के व्यय का अनुपात कम मिलेगा। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य की अन्य वस्तुओं की आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। ये वस्तुएँ जिन कच्चे पदार्थों से बनती हैं, वे तो कृषि द्वारा ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु उनकी तैयारी में पीछे और भी विशेष श्रम करना होता है। उसके लिये शिल्प, दस्तकारी या कारीगरी की जरूरत होती है।

कारीगर को ऐसी जगह रहने की जरूरत होती है, जहाँ उसे अपने काम के लिये कच्चा पदार्थ मिल सके, तथा उसके तैयार किये हुए सामान के खरीदार भी हों। इस प्रकार उसे बस्ती में तो रहना होता ही है। बहुधा उसे उसी प्रकार के दूसरे कारीगर के पास रहने में सुविधा होती है। इस तरह एक प्रकार के बहुत से अथवा भिन्न भिन्न कार्य करने वाले थोड़े थोड़े कारीगरों की एक बस्ती हो जाती है, जिसमें कृषक

अपेक्षाकृत कम होते हैं। यह नगर-निर्माण का मार्ग है। कारीगरी की वृद्धि के साथ नगरों का बढ़ना अनिवार्य है।

कारीगर (बहुधा अपने परिवार की सहायता से) स्वतंत्र रूप से श्रम करता है, किसी की अधीनता में नहीं। वह जो पूँजी लगाता है, वह स्वयं उसकी ही होती है, चाहे कुछ दशाओं में वह उधार ली हुई ही हो। जो वस्तु वह तैयार करता है, उस पर उसी का स्वामित्व होता है, वह उसे अपने नगर में अथवा कभी कभी दूसरे स्थान में बेचने का प्रबन्ध करता है। उससे जो आय होती है, वह पूर्ण रूप से उसकी होती है। उसमें जो तरह तरह का खर्च है, उसे चुकाने का दायित्व उसी पर रहता है, उदाहरणार्थ दुकान का किराया, कच्चे माल का मूल्य, पूँजी का सूद आदि। इस अवस्था में उत्पत्ति छोटी मात्रा में होती है, (बड़ी मात्रा में नहीं), जिसके लाभ-हानि के विषय में आगे लिखा जायगा। कारीगरी की अवस्था में पदार्थों का अदल-बदल करने की सुविधा नहीं होती, क्रय-विक्रय होता है, माध्यम के लिये मुद्रा का प्रयोग किया जाता है।

भारतवर्ष अपने शिल्प तथा दस्तकारी के लिये अब से सौ वर्ष पहले तक विश्व-विख्यात रहा है। यहाँ के हाथ से कते सूत की, बुनी मलमल विदेशियों को चकित करती थी। यहाँ के तैयार किये हुए बढ़िया माल की ओर अन्य देशों के निवासी ईर्षा और प्रतिस्पर्द्धा की दृष्टि रखते थे। वर्तमान काल में पांसा बिल्कुल पलट गया—जो भारत औरों के लिये आदर्श और अनुकरणीय था, अब अपनी साधारण आवश्यकताओं के लिये विदेशों का मोहताज है।

कल-कारखानों की अवस्था—उत्पत्ति की उपर्युक्त अवस्थाएँ थोड़े बहुत रूप में इस समय भी विद्यमान हैं, तथापि अब कल-कारखनों की वृद्धि हो रही है। औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों में अधिकांश उत्पत्ति कल-कारखानों द्वारा ही होती है। इस पद्धति के सम्बन्ध में विशेष बातें आगे प्रसंगानुसार कही जायँगी। यहाँ यही वक्तव्य है कि इसमें भाफ, पानी या बिजली आदि की शक्ति से चलने वाली मशीनों या यंत्रों का उपयोग होता है, तथा श्रमजीवी (मजदूर) स्वतंत्र नहीं होते, वे सहस्रों लाखों की संख्या में एकत्रित होकर, एक पूँजी वाले व्यक्ति या संस्था के लिये माल तैयार करते हैं। उन्हें आवश्यक कच्चे माल खरीदने तथा तैयार माल बेचने से कुछ प्रयोजन नहीं। न उन्हें आवश्यक पूँजी का प्रबन्ध ही करना होता है। उनका काम तो माल तैयार करना है। जो माल तैयार होगा, उस पर उनका कुछ स्वामित्व नहीं, उसका मूल्य मुनाफा आदि उन्हें न मिलेगा, (कल कारखाने वाले को मिलेगा), उन्हें तो केवल निर्धारित मजदूरी ही दी जायगी। इस पद्धति में उत्पादन व्यय कम हो जाता है, माल सस्ता हो जाता है, दस्तकार अर्थात् हाथ से काम करने वाले प्रतियोगिता में नहीं ठहर पाते। उन्हें बहुधा अपना धन्धा छोड़ने को विवश होना पड़ता है। अनेक शिल्पी और दस्तकार अपने स्वतंत्र धंधे को छोड़ कर कल-कारखानों में नौकरी करने लगे हैं, और बहुत से बेकार ही हो जाते हैं। अस्तु, इस युग में विविध कारणों से कुछ स्वतंत्र शिल्पी या दस्तकार रहते तो हैं, पर उनकी संख्या, असंख्य वेतन भोगी श्रमजीवियों की तुलना में बहुत कम होती है। परन्तु यह बात औद्योगिक दृष्टि से

उन्नत देशों के विषय में ही है। भारतवर्ष आदि जिन देशों में मशीनों का अभी यथेष्ट प्रचार नहीं हुआ है, कारखानों में काम करने वाले श्रमजीवियों की अपेक्षा कारीगरों की संख्या कहीं अधिक है, हाँ, प्रतियोगिता के कारण उनमें से अधिकांश की आय, अथवा आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है।

अस्तु; मनुष्य के आर्थिक जीवन में देशकालानुसार हेर-फेर होता रहा है, इसलिए उसके आर्थिक प्रयत्नों का स्वरूप और परिमाण भी बदलता रहा है। इसका अर्थशास्त्र पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। अतः हमें अर्थशास्त्र का अध्ययन करते समय लोगों के आर्थिक जीवन का ध्यान रखना चाहिए।

अभ्यास के प्रश्न

(१) स्पष्ट समझा कर बताइये कि पशुपालन अवस्था में जनसंख्या क्यों शिकार अवस्था की अपेक्षा अधिक परन्तु कृषि अवस्था की अपेक्षा कम होती है (१६२७)

(२) क्या कल-कारखानों की अवस्था अन्य सब अवस्थाओं से सर्वोच्च है। सकारण अपने विचार प्रकट कीजिए।

(३) आजकल आपके गाँव या शहर में आर्थिक जीवन की कौन सी अवस्था प्रचलित है। विस्तार पूर्वक समझाइए।

(४) कल-कारखानों की अवस्था के गुण दोष लिखिये।

(५) प्राचीन भारतीय ग्राम संस्थाओं की विशेषताएं समझाइये। उनका पुनरुद्धार अब किस प्रकार हो सकता है ?

द्वितीय खंड

उपभोग

पाँचवाँ अध्याय

आवश्यकताएँ

उपभोग का महत्व—प्रत्येक मनुष्य को नाना प्रकार की आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी वह तृप्ति करना चाहता है। कई एक आवश्यकताएँ तो ऐसी होती हैं जिनकी पूर्ति उसको जीवित रहने अर्थात् मृत्यु से बचाने के लिए करनी पड़ती है; जैसे भोजन, वस्त्र और निवास-स्थान। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसको श्रम और उद्योग करना पड़ता है। अपने उद्योग से या तो वह अपनी आवश्यकता की वस्तु स्वयं बना लेता है, या दूसरी वस्तु बनाकर या सेवा कर विनिमय से उस वस्तु को प्राप्त करता है। इससे यह प्रकट हो जाता है कि अर्थशास्त्र सम्बन्धी सब क्रियाओं का श्रीगणेश उपभोग ही में है। इन सब क्रियाओं का अन्त भी उपभोग में ही है; क्योंकि जब इच्छित वस्तु या सेवा को प्राप्त करके उसका उपभोग कर लिया और तृप्ति हो गई, तब फिर उसके सम्बन्ध में और कुछ करने को नहीं रह जाता है।

प्रत्येक मनुष्य को उपभोग का महत्व जानने की आवश्यकता है। प्रत्येक उत्पादक व्यक्ति को कोई भी काम करने के लिए शक्ति और स्फूर्ति की आवश्यकता होती है। इनको प्राप्त करने के लिए उसको विशेष प्रकार के खाने, पीने, पहनने की आवश्यकता होती है। अच्छी

और पौष्टिक वस्तुओं का सेवन करने से मनुष्य की शक्ति और उत्साह में वृद्धि होती है और इसके विपरीत शराब पीने से या शक्ति ह्रास करने-वाली अन्य वस्तुओं के सेवन करने से उलटा असर होता है। शक्ति क्षीण होने से मनुष्य कम उपार्जन कर सकता है। इसका फल यह होता है कि उसको खाने को भी पूरा नहीं मिल पाता है। आधुनिक काल की नाना प्रकार की मिलावट की वस्तुओं में से अपने काम की असली वस्तुओं को छाँटकर उनका उपभोग करने से प्रत्येक मनुष्य को सब से अधिक सन्तोष होता है और ऐसा ही करने की उसको कोशिश करनी चाहिए।

वस्तुओं का उचित रीति से उपभोग करना सहल काम नहीं है। जिनका अपने मन पर पूर्ण अधिकार है वही वस्तुओं का उचित उपभोग कर सकते हैं। यह सच है कि द्रव्य का उपार्जन करना जितना सरल है उसका उचित उपभोग उतना ही कठिन है। आजकल के लोग प्राचीन काल के लोगों की तरह अपनी सब आवश्यकीय वस्तुओं को स्वयं पैदा नहीं करते। वे किसी भी काम को करके द्रव्य उपार्जन करते हैं और उस द्रव्य से अपनी आवश्यकीय वस्तुओं को मोल लेते हैं। लेकिन प्रत्येक मनुष्य यह नहीं जानता है कि उसको किस किस वस्तु की कितनी आवश्यकता है। अगर किसी मनुष्य को बीस रुपया देकर बाजार भेजिये कि वह अपनी जरूरत की वस्तुएँ मोल ले लेवे तो बाजार पहुँचकर वह मनुष्य ठीक ठीक निश्चय नहीं कर सकेगा कि वह कौन सी वस्तु ले। वह सोचेगा कि एक फोउन्टेन पेन खरीदे या एक सूट सिलवाये, एक जोड़ी जूता खरीदे या प्राइमस स्टोव खरीदे, एक

रुपये में सिनेमा देखे या उसको किसी भविष्य में आनेवाली आवश्यकता के लिए बचा रखे, इत्यादि अनेक प्रकार के प्रश्न हमारे खरीददार के मन में उपस्थित होंगे। अक्सर ऐसा देखा गया है कि खरीददार विज्ञापनों के धोखे या मित्रों के बहकाने में आकर ऐसी वस्तुएँ खरीद लेता है जिनकी उपयोगिता उसको उतनी नहीं होती जितनी और वस्तुओं की होती है। कभी कभी खरीददार यह नहीं सोचता कि जो वस्तु वह खरीद रहा है उसके उपभोग का अन्तिम परिणाम क्या होगा। इसलिये वह अपनी खराब आदत के कारण नशीली वस्तुएँ भी खरीद लेता है। इससे उसको अन्त में हानि ही अधिक होती है। ऐसे लोगों को अपने द्रव्य की पूरी उपयोगिता नहीं मिलती। इसको प्राप्त करने के लिए मनुष्य को यह जानना चाहिए कि उसकी आवश्यकताएँ क्या क्या हैं और कौन सी वस्तु कितनी खरीदने से उसकी सबसे अधिक तृप्ति हो सकती है। एक मनुष्य सोच समझकर खर्च कर बीस रुपये में इतनी उपयोगिता और सन्तोष प्राप्त कर सकता है जितना कि दूसरा मनुष्य पचास रुपये में भी प्राप्त नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि पहला मनुष्य उपभोग के महत्व को और उसके रहस्य को जानता है और दूसरा मनुष्य नहीं जानता।

हर एक उत्पादक या उत्पादक-संघ को भी उपभोग का विषय अच्छी तरह जानना चाहिए। उन लोगों को जानना चाहिए कि उपभोक्ता को किन किन चीजों की कितनी जरूरत है। व्यापारिक मंदी* और

---

* Depression

धूम* से ससार मे जो हलचल होती है उसका एक कारण यह भी है कि उत्पादक आवश्यकता से अधिक या कम पैदा करते हैं।

किसी भी देश की शक्ति उस देश के निवासियों की शक्ति पर निर्भर रहती है। जिस देश के लोग लाभदायक और पौष्टिक वस्तुओं का सेवन करते हैं और नशीली और अन्यान्य स्वास्थ्य को हानि पहुँ-चानेवाली वस्तुओं को त्याग देते हैं उस देश के लोग हृष्ट-पुष्ट, बलवान् और प्रवीण होते हैं। इससे विपरीत आचरण करनेवाले लोग कमजोर, रोगी और आलसी होते हैं। देश की समृद्धि और रक्षा पहले प्रकार के लोगो से ही हो सकती है। उपर्युक्त वर्णन से उपभोग का महत्त्व भलीभाँति विदित होता है।

आवश्यकता का अर्थ—मनुष्य विविध वस्तुओं का उपभोग इसलिए करता है कि उसकी कुछ आवश्यकताएँ होती हैं। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहता है। इस अध्याय मे हमे आव श्यकताओं के सम्बन्ध मे विशेष विचार करना है, अतः हमें यह जान लेना चाहिए कि अर्थशास्त्र में इस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है। प्रायः आदमी इच्छा† और आवश्यकता‡ का एक ही अर्थ में प्रयोग करते रहते हैं, किन्तु अर्थशास्त्र मे इनका अर्थ भिन्न भिन्न लिया जाता है। इच्छा का विस्तार बड़ा है, आवश्यकता उसके अन्तर्गत है। एक बालक बाजार में बहुत-सी चीजे देखता है और उसका जी उनके लिए ललचाता है। इस दशा मे हम यह तो कह सकते हैं कि बालक

* Boom † Desire ‡ Want

को उन वस्तुओं के लेने की इच्छा है। लेकिन हम यह नहीं कह सकते कि उसे उनकी आवश्यकता है। आवश्यकता केवल ऐसी ही इच्छा को कह सकते हैं जिसमें इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के लिये मनुष्य के पास साधन रहते हैं और उस वस्तु को प्राप्त करके उसकी तृप्ति होती है। जिस इच्छा को पूर्ण करने के लिए मनुष्य उद्योग करने को बाधित नहीं होता वह कोरी इच्छा मात्र रहती है, वह पानी के बुलबुलों की तरह पैदा होती तथा नाश होती रहती है। उसे आवश्यकता नहीं कहा जा सकता।

आवश्यकता और उद्योग का गहरा सम्बन्ध है। जैसे जैसे मनुष्य की आवश्यकता बढ़ती जाती है वह उनकी तृप्ति के लिए उद्योग करता रहता है। आरम्भ में यही क्रम चलता है लेकिन कभी कभी उद्योग से भी नई आवश्यकताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। कई एक मनुष्य किसी खास आवश्यकता की तृप्ति के लिए ही उद्योग और परिश्रम नहीं करते। वे लोग अपनी फुरसत का समय आलस्य में नहीं बिता देते वरन् विज्ञान, साहित्य इत्यादि का मनन करते हैं। इससे ये लोग नयी नयी बातों का आविष्कार करते हैं। इन आविष्कारों की सहायता से नयी नयी वस्तुएँ बनायी जाती हैं और मनुष्यों को इन वस्तुओं की भी आवश्यकता प्रतीत होती है।

आवश्यकताओं के लक्षण—आवश्यकताएँ अपरिमित हैं। कोई भी कैसा ही धनवान् मनुष्य यह नहीं कह सकता कि उसकी सब आवश्यकताओं की तृप्ति हो गई है; क्योंकि ज्योंही एक आवश्यकता

की तृप्ति होती है त्यों ही दूसरी, उसके स्थान पर, आ खड़ी होती है। आवश्यकताओं की वृद्धि होने से ही सभ्यता की भी उन्नति होती है।

आवश्यकताएँ अपरिमित तो हैं, लेकिन यदि यथेष्ट साधन हो तो मनुष्य की प्रत्येक आवश्यकता की किसी एक समय में पूर्ति हो सकती है। उदाहरण के लिए एक भूखे आदमी को लीजिए। उसको भोजन की आवश्यकता है, लेकिन उसके भोजन की भी एक सीमा है। पाँच छ रोटियों से उसका पेट भर जाता है और उसको उस वक्त फिर रोटियों की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार किसी एक आवश्यकता का यथेष्ट साधन रहने से किसी खास समय में तृप्ति हो सकती है। कहा जाता है कि कई एक इच्छाएँ ऐसी हैं जिनकी पूर्ति नहीं हो सकती; जैसे धन की इच्छा, अधिकार की इच्छा, बड़प्पन की इच्छा इत्यादि। लेकिन ये इच्छाएँ मिश्रित इच्छाएँ हैं। ये एक एक इच्छा नहीं हैं। धन की इच्छा देखने में तो एक ही इच्छा है; लेकिन इसके अन्तर्गत उस धन द्वारा प्राप्त होनेवाली अनेक वस्तुओं की इच्छा छिपी रहती है।

किसी आवश्यकता की तृप्ति के एक से अधिक साधन होते हैं जिनमें आपस में प्रतियोगिता रहती है। जैसे धूम्रपान की आवश्यकता तम्बाकू, सिगरेट, सिगार, बीड़ी इनमें से किसी से भी तृप्ति हो सकती है। इसी से ये चीजें एक दूसरे का स्थान ग्रहण करने की कोशिश करती है। दुर्भिक्ष के समय ग़रीब लोग गेहूँ की रोटी के बदले चना, मडुवा इत्यादि की रोटी खाते हैं। इसी प्रकार आजकल रेलगाड़ी और मोटर-लारियों में आपस में प्रतियोगिता बढ़ रही है।

कई एक आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं जो आपस में एक दूसरे की पूरक होती हैं। जैसे इक्के के साथ घोड़े की या टैनिस के बल्लों के साथ गेंदों की आवश्यकता परस्पर पूरक हैं। ये आवश्यकताएँ साथ ही साथ चलती हैं।

जब हम किसी आवश्यकता की पूर्ति करते रहते हैं तो फिर वह आवश्यकता स्वाभाविक-सी हो जाती है। जैसे कोई मनुष्य किसी के बहकाने से शराब पीने लगे, तो फिर बाद को उसको शराब का व्यसन हो जाता है और वह फिर पूरा पियक्कड़ बन जाता है। उसको शराब पीने की आदत ऐसी ज़बरदस्त हो जाती है कि वह आसानी से उस आदत को छोड़ नहीं सकता। इसी प्रकार और आवश्यकताओं का भी अभ्यास पड़ जाता है। इसी अभ्यास पर मनुष्यों का रहन-सहन का दर्जा भी निर्भर रहता है। आवश्यकताओं के घटने बढने या और प्रकार के परिवर्तन से रहन-सहन के दर्जे में भी घट-बढ होता रहता है।

सुख तथा सन्तोष—सब लोगों को यह मान्य है कि मनुष्य का परम उद्देश्य सब से अधिक सुख और सन्तोष प्राप्त करना है। वह प्राप्तसुख की वृद्धि के लिए और दुःख को टालने या कम करने के लिए सदैव उद्योग किया करता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि सुख क्या है और दुःख क्या है। नैय्यायिकों ने सुख-दुःख को अन्तर्वेदना* बतलाकर कहा है कि "अनुकूल वेदनीय सुख" अर्थात् जो वेदना हमारे अनुकूल है वह सुख है और "प्रतिकूल वेदनीय

* feeling

दुःखम्" अर्थात् जो वेदना हमारे प्रतिकूल है वह दुःख है। मनुष्य की अनेक इच्छाएँ और आवश्यकताएँ होती हैं। जब उसकी इन आवश्यकताओं की तृप्ति हो जाती है तो उसको सन्तोष मिलता है और वह सुख की वेदना का अनुभव करता है। इसके विपरीत जब उसकी आवश्यकताओं की तृप्ति नहीं होती तो उसको असन्तोष होता है और उसको दुःख की वेदना होती है। उदाहरण के लिए भोजन करने से मन को जो तृप्ति होती है उसे सुख कहते हैं और भोजन न मिलने से उसको जो कष्ट होता है उसको दुःख कहते हैं।

पहले बतलाया गया है कि मनुष्य की आवश्यकताएँ अपरिमित हैं। जैसे कि एक आवश्यकता की पूर्ति हुई शीघ्र ही दूसरी आवश्यकता उसका स्थान ग्रहण कर लेती है। हमको यह भी मालूम है कि आवश्यकताओं की तृप्ति से ही मनुष्य को सुख और सन्तोष मिलता है। ऐसी दशा में यह बात स्वय सिद्ध है कि किसी भी मनुष्य को पूर्ण सुख कभी नहीं मिल सकता है। उसकी कुछ न कुछ आवश्यकताएँ ऐसी बनी रहेंगी जिसके तृप्त न होने से उसको असन्तोष और दुःख होगा। इसके अतिरिक्त, पाये हुए सुख से भी मनुष्य की तृप्ति नहीं होती है। मनुष्य एक ही प्रकार के सुख से तृप्त नहीं रहता। चूंकि उसको प्रति दिन नये नये सुख नहीं मिल सकते हैं, इसलिये उसको सदा असन्तोष ही बना रहता है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसी दशा मे मनुष्य का कर्तव्य क्या है? मनुष्य को पूर्ण सन्तोष मिलना असम्भव है क्या इसलिये सब काम धन्धों को छोड कर जङ्गलों मे भटक कर संन्यासी

हो जाना चाहिये, या सन्तोष और असन्तोष का विचार छोड़ कर अपने आप इच्छा, तृष्णा और वासना का दास बन कर उनको स्वाधीनता खो देनी चाहिये ?

आजकल यह बात मानी जाती है कि आवश्यकताओं की वृद्धि से ही सभ्यता की वृद्धि हुई है। जैसे जैसे मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती गईं और वह उनकी तृप्त के लिए उद्योग करता गया वैसे वैसे सभ्यता की वृद्धि होती गई। इसी प्रकार उद्योग करते रहने से नई प्रकार की आवश्यकताएँ उत्पन्न होती हैं और उनकी तृप्ति के लिए साधन निकाले जाते हैं। इससे यह बात प्रकट होती है कि आवश्यकताओं को बढ़ाने से ही मनुष्य की उन्नति होती है, और यह बात निर्विवाद है कि उन्नति से मनुष्य की सुख और सन्तोष की वृद्धि होती है।

अगर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो मालूम हो जाता है कि आवश्यकताओं को एकदम मर्यादा से बाहर बढ़ा देने से अधिकतम सन्तोष नहीं होता है। यहाँ पर यह कहने का मतलब नहीं है कि सब प्रकार का असंतोष निन्द्य है। उस इच्छा के मूलगत असंतोष को निन्दनीय नहीं कहा जा सकता जो आदेश करता है कि मनुष्य को अपनी वर्तमान स्थिति में पड़े पड़े सड़ना नहीं चाहिये, परन्तु यथाशक्ति अधिकाधिक सुधार करके अपने को और समाज को उन्नति की ओर ले जाना चाहिए। यही वह असन्तोष है जिससे सभ्यता की उन्नति होती आई है। लेकिन वह असन्तोष निन्दनीय है जिससे लोग किसी वस्तु को पाने के लिये रात-दिन हाय-हाय करते रहें, और उसके न मिलने पर रोया करें और शिकायतें करें।

तृष्णा और असन्तोष की सुव्यवस्थित मर्यादा बाँधना एकदम असम्भव नहीं है। हाँ, इसके लिए एक विशेष शक्ति की आवश्यकता होती है जिसको मनोनिग्रह कहते हैं। जो मनुष्य अधिकतम सन्तोष और सुख पाना चाहता है उसको अपने मन को और इन्द्रियों को वश में करना अत्यन्त आवश्यक है। अगर हम अपने को तृष्णा और वासना में बहायें तो हमारे असन्तोष की कोई सीमा न होगी। अगर कोई गरीब किसान जिसको सदा पेट की हाय लगी रहती है, एक मोटर गाड़ी रखने की प्रबल तृष्णा करता रहे, सदा उसी ध्यान में मग्न रहे, तो शायद ही वह सुख और सन्तोष प्राप्त कर सकता है। इसके प्रतिकूल अगर वह अपने मन को वश में करके सोचे कि इस समय ऐसी अवस्था में मोटर गाड़ी की इच्छा करना उसे उचित नहीं है; क्योंकि इस इच्छा की तृप्ति करना उसकी शक्ति के बाहर की बात है, इसलिए उसको उचित है कि उन वस्तुओं को संग्रह करने का और उपभोग करने का प्रयत्न करे जो उसके सामर्थ्य के भीतर है, तो इससे उसको अधिक सुख और सन्तोष प्राप्त होगा।

इससे यह प्रकट हो जाता है कि मनुष्य को अधिकतम सुख और सन्तोष प्राप्त करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह अपनी आवश्यकताओं को मर्यादित करे। इसके साथ ही साथ उसको अपनी फिजूल और हानिकारक इच्छाओं को दबाना चाहिए। अगर स्वास्थ्य और बुद्धि को हानि पहुँचानेवाली इच्छाओं का दमन न किया गया तो परिणाम में मनुष्य को सुख नहीं मिल सकता है।

भारतवर्ष में प्राचीन काल में अनेक महात्मा हो गये हैं जिन्होंने मनोनिग्रह तथा इन्द्रियनिग्रह द्वारा अपनी आवश्यकताओं को अपने

वश में करके और मर्यादित करके परम सुख, सन्तोष और शान्ति पायी है। प्राचीन काल में ही क्यों, इस समय महात्मा गान्धी इसके जीते जागते उदाहरण हैं। लेकिन पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग में आने से भारतवर्ष के लोग भी भौतिक सभ्यता पर विश्वास करने लगे हैं। हम लोगों ने अपनी आवश्यकताओं का बहुत ही अधिक विस्तार कर दिया है। यह भी आज-कल भारतवर्ष में अशान्ति और असन्तोष की लहर का एक प्रधान कारण है। देश को शान्त, सन्तुष्ट और समृद्धिशाली बनाने के लिए आवश्यक है कि यहाँ के निवासी मनोनिग्रह तथा इन्द्रियनिग्रह द्वारा अपने को तृष्णा और वासना की शृङ्खलाओं से मुक्त करके, उनको अपने वश में करके सुखी और सन्तुष्ट बनें। उनको सादगी के तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए। सादा जीवन और उच्च विचार का ध्येय ही आर्थिक दृष्टि से भी सर्वोत्तम है।

अभ्यास के प्रश्न

(१) उपभोग की परिभाषा लिखिए और उसका महत्व समझाइए।

(२) उपभोग से आप क्या समझते हैं? उपभोग और उत्पत्ति में क्या सम्बन्ध है (१९२८)

(३) भिन्न भिन्न प्रकार के उपभोग के उदाहरण दीजिए। कुछ लोगों का कथन है कि हम उपभोग के लिए ही आर्थिक उद्योग करते हैं, दूसरे कहते हैं कि उद्योग करने के कारण क्षीण हुई ताकत की पूर्ति के लिए हम उपभोग करते हैं। सकारण समझाइए कि आपकी राय में कौनसा मत ठीक है। (१९३३)

(४) भारतीय मजदूर की आवश्यकताएँ रीति-रिवाज और आदत पर निर्भर रहती हैं। भारतीय मजदूरों की कुछ मांगों के नाम बताइए। इनमें से कौन सी (अ) रिवाज (ब) आदत और (स) विचार के ऊपर निर्भर हैं? क्या कालेज के विद्यार्थियों की कोई आवश्यकताएँ रिवाज पर निर्भर हैं? उदाहरण दीजिए। (१९२६)

(५) आवश्यकताओं की विशेषताएँ लिखिए और उन पर नियंत्रण रखने की जरूरत समझाइए।

(६) सिद्ध कीजिए कि "सादा जीवन और उच्च विचार" आर्थिक दृष्टि से भी सर्वोत्तम ध्येय है।

(७) बिना आमदनी के बढ़ाए सन्तोष की मात्रा कैसे बढ़ाई जा सकती है?

(८) कुछ स्थानों में चाय का उपभोग बढ़ रहा है। क्या इसका प्रचार रोकना आवश्यक है?

छठा अध्याय

—:o:—

उपयोगिता

उपभोग किसी न किसी वस्तु का किया जाता है, और वह इसलिए किया जाता है कि उस वस्तु की कुछ उपयोगिता होती है। अतः उपभोग सम्बन्धी अन्य बातों को जानने से पूर्व हमें जान लेना चाहिए कि अर्थशास्त्र में वस्तु और उपयोगिता का वास्तविक अर्थ क्या है।

वस्तु—अर्थशास्त्र में उन चीज़ों को वस्तु* कहते हैं, जिनसे मनुष्य की तृप्ति होती है। इनमें से कुछ चीज़ें ऐसी होती हैं, जिनको हम देख सकते हैं, छू सकते हैं और जिनका विनिमय कर सकते हैं, जैसे किताब, लकड़ी, मोटर इत्यादि। कुछ ऐसी हैं जिनको हम देख नहीं सकते, जैसे मित्रता, प्रसिद्धि इत्यादि। पहले प्रकार की वस्तुएँ भौतिक कहलाती हैं, और दूसरे प्रकार की अ भौतिक कही जाती हैं। कुछ वस्तुएँ विनिमय-साध्य होती हैं, और कुछ अ-विनिमय-साध्य।

---

* Commodity

वस्तुएँ साधारणतः दो प्रकार की होती हैं। कुछ वस्तुएँ तो ऐसी होती हैं जिनको विभाजित करने से उनका मूल्य* कम नहीं होता; जैसे यदि हम दस तोले का सोने का एक टुकड़ा लें, और उसके एक एक तोले के दस टुकडे करें तो एक एक तोले वाले सब टुकड़ो का मूल्य दस तोले के टुकडे के बराबर होता है। इस प्रकार की अन्य वस्तुएँ हैं, गेहूँ, चावल, दाल, कपडा, चाँदी, लोहा, इत्यादि। कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनका विभाजित करने से मूल्य मे बहुत कमी आ जाती है, जैसे यदि हम किसी कुर्सी के चार टुकडे कर डालें तो चारों टुकड़ों का मूल्य कुर्सी के मूल्य के बराबर नही होता। इस प्रकार की अन्य वस्तुएँ हैं—मकान, पुस्तक, छाता, कमीज, गाय, बैल, घोडा इत्यादि।

जिन वस्तुओं का मूल्य विभाजित करने से कम नहीं होता, उनकी एकाई भिन्न भिन्न तुलना के लिये भिन्न भिन्न होती है; जैसे एक सेर गेहूँ, एक मन गेहूँ, इत्यादि। गेहूँ का जब बडे परिमाण में तोलना होता है तो मन का उपयोग किया जाता है। कम परिमाण के लिये सेर ही से काम लिया जाता है। सेर का वजन भी भारत के भिन्न भिन्न भागो मे भिन्न भिन्न है। कहीं एक सेर १०० रुपये के वजन के बराबर है, तो कहीं ८० रुपये के, और कहीं २८ ही रुपये के बराबर। परन्तु किसी एक समय में तुलना के लिये एक ही प्रकार के सेर का उपयोग किया जाता है। अन्य देशों में गेहूँ के तोल के लिए टन, हडरवेट, पाउंड इत्यादि का उपयोग होता है। कपडे को नापने के

* Value in Exchange or Price

लिए गज़ का उपयोग होता है। सोना चांदी तोलने के लिए तोला, माशा और रत्ती का उपयोग होता है।

जिन वस्तुओं को विभाजित करने से उनके मूल्य में कमी होती है, उनकी एकाई* एक रहती है, जैसे एक मकान, एक गाय, एक पुस्तक, एक कुर्सी आदि।

उपयोगिता—उपयोगिता† किसी वस्तु का वह गुण है जिससे उस वस्तु की चाह होती है। इसका सम्बन्ध मन से होता है। इसलिए हम किसी वस्तु की उपयोगिता का वर्णन किसी नाप या तोल से नहीं कर सकते। चूँकि प्रत्येक मनुष्य की इच्छा या रुचि में कुछ न कुछ भिन्नता होती है इसलिए किसी एक खास वस्तु की उपयोगिता प्रत्येक मनुष्य को बराबर नहीं होती। किसी वस्तु का मूल्य तय करने में लोग उस वस्तु की उपयोगिता का विचार अवश्य करते हैं।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि हम किसी वस्तु विशेष को उत्पन्न या नष्ट नहीं कर सकते। हम केवल उपयोगिता ही उत्पन्न कर सकते हैं। उदाहरण के लिए कुर्सी को लीजिये। बढ़ई ने अपने औजारों की मदद से लकड़ी का रूपान्तर करके उसमें लकड़ी से ज्यादा उपयोगिता ला दी है, लकड़ी उसने उत्पन्न नहीं की। इसी प्रकार काम में आते-आते कुर्सी की उपयोगिता नष्ट होती जाती है। कुर्सी टूट जाती है, लकड़ी पड़ी रहती है, लेकिन कुर्सी काम की नहीं रहती।

---

* Unit

† Utility

उपयोगिता की एकाई—किसी वस्तु की उपयोगिता भिन्न भिन्न मनुष्यों को भिन्न भिन्न होती है। एक ही वस्तु की उपयोगिता भी किसी मनुष्य के लिये भिन्न भिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न होती है। इसलिये भिन्न भिन्न मनुष्यों की दृष्टि से किसी एक वस्तु की उपयोगिता की तुलना साधारणतः नहीं की जा सकती; और न किसी एक मनुष्य के लिये भिन्न परिस्थितियों में वस्तुओं की तुलना ही की जा सकती है। हम केवल किसी एक समय में, जब कि किसी एक मनुष्य की परिस्थिति में परिवर्तन नहीं होता, उसकी भिन्न भिन्न वस्तुओं से प्राप्त होने वाली उपयोगिता का अन्दाजा लगा कर तुलना कर सकते हैं। किसी वस्तु के उपभोग करने से सन्तोष प्राप्त होता है। इसी संतोष का अन्दाजा लगा कर हम वस्तुओं की उपयोगिता का अंदाजा लगाते हैं। इस तुलना के लिये यह मान लिया जाता है कि किसी एक खास वस्तु के उपभोग से जो संतोष प्राप्त होता है, वह एक के बराबर है, अर्थात् उसकी उपयोगिता एक है। अब अन्य वस्तुओं के उपभोग से प्राप्त संतोष की तुलना, इस प्रथम वस्तु के उपभोग से प्राप्त संतोष से की जाती है और उसी के अनुसार उनकी उपयोगिता बतलाई जाती है। मान लीजिये कि किसी मनुष्य ने एक समय एक केला और एक आम खाया। दोनों के उपभोग से उसे कुछ सन्तोष प्राप्त हुआ; आम के उपभोग से जो संतोष प्राप्त हुआ, वह केले के उपभोग से प्राप्त सन्तोष से करीब चौगुना था। अब यदि हम मान लें कि एक केले की उपयोगिता उसे एक है तो एक आम की उपयोगिता उसे चार होगी। इसी प्रकार यदि एक रोटी खाने से उसे उस समय जो सन्तोष हुआ

उसकी मात्रा एक केले के उपभोग से प्राप्त सन्तोष से दस गुनी है तो एक रोटी की उपयोगिता उसे दस होगी। अब यदि दूसरी रोटी खाने से उसे जो सन्तोष प्राप्त हुआ, वह एक केले के उपभोग से प्राप्त सन्तोष से पाँच गुना है तो दूसरी रोटी की उपयोगिता उसे पाँच होगी।

जब कभी किसी एक मनुष्य के लिये वस्तुओं की उपयोगिता की तुलना की जाती है तब उस तुलना के लिये उपयोगिता की कोई एकाई मान ली जाती है, और उस समय सब वस्तुओं की उपयोगिता का अनुमान इसी एकाई के अनुसार लगाया जाता है; परन्तु यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिये कि भिन्न भिन्न तुलनाओं के लिये उपयोगिता की एकाई भिन्न भिन्न रहती है।

सीमान्त उपयोगिता—यदि किसी मनुष्य के पास दस सेर गेहूँ हों, तो दसवें सेर की उपयोगिता दस सेर गेहूँ की सीमान्त उपयोगिता* मानी जाती है। इस प्रकार, वस्तु के किसी परिमाण की सीमान्त उपयोगिता उस वस्तु की अन्तिम एकाई की उपयोगिता को कहते हैं। सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता में बहुत अन्तर है। दस सेर गेहूँ की कुल उपयोगिता दसों सेर गेहूँ की उपयोगिता के योग के बराबर होती है, जब कि उसकी सीमान्त उपयोगिता केवल दसवें सेर की उपयोगिता के बराबर है। यदि किसी मनुष्य के पास एक ही सेर गेहूँ हो तो उसकी सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता एक-सी होगी। परन्तु जैसे वस्तु का परिमाण बढ़ता जायगा सीमान्त उपयोगिता

* Marginal Utility

घटती जायगी और कुल उपयोगिता एक सीमा तक बढ़ती जायगी। इसे आगे स्पष्ट किया जाता है।

सीमान्त-उपयोगिता-ह्रास-नियम—कल्पना करो एक आदमी अमरूद खाता है। पहले अमरूद की उपयोगिता उसके लिए बहुत अधिक होगी। मान लो वह ३० है, इस दशा में सीमान्त उपयोगिता तथा कुल उपयोगिता दोनो तीस-तीस ही होंगी। अब वह दूसरा अमरूद खाता है, इसकी उपयोगिता पहले अमरूद की अपेक्षा कम होगी। मान लो यह २५ है। दोनों अमरूदों से उसे ५५ उपयोगिता मिली जो कि दो अमरूदो की कुल उपयोगिता हुई। पहिले अमरूद से उपभोक्ता को ३० सीमान्त उपयोगिता थी लेकिन दो अमरूद खाने से सीमान्त उपयोगिता २५ हो गई।

निम्नलिखित कोष्ठक में ऊपर लिखे अनुसार अमरूदों की उपयोगिता दी जाती है—

अमरूद	उपयोगिता	सीमान्त उपयोगिता	कुल उपयोगिता
पहिला	३०	३०	३०
दूसरा	२५	२५	५५
तीसरा	२०	२०	७५
चौथा	१५	१५	९०
पांचवा	१०	१०	१००
छठा	५	५	१०५
सातवा	०	०	१०५
आठवा	–५	–५	९५

इस कोष्ठक से यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि ज्यों ज्यों अधिक अमरूद खाये जायँगे उनकी सीमांत उपयोगिता कम होती जायगी, लेकिन कुल उपयोगिता तब तक बढ़ती जायगी जब तक किसी वस्तु के उपयोग से अधिकतम तृप्ति प्राप्त न हो जावे अर्थात् उसकी सीमान्त उपयोगिता शून्य के बराबर न हो जाय। इसके बाद अनुपयोगिता होने से कुल उपयोगिता भी घट जायगी। लेकिन ऐसी अवस्था बहुत ही कम पाई जाती है जब कि मनुष्य किसी वस्तु का इतने परिमाण में सेवन करे कि उसको अनुपयोगिता मिलने लगे, क्योंकि जैसा आगे बतलाया जायगा हर एक मनुष्य अपने द्रव्य को किसी एक वस्तु पर उतना ही खर्च करेगा जिससे उसको कम से कम उस द्रव्य की उपयोगिता के बराबर उपयोगिता मिले। हां, अगर कोई वस्तु बिना मूल्य मिल जावे और मनुष्य को अपने स्वास्थ्य का कुछ भी ख्याल न हो तो वह अधिकतम तृप्ति मिलने पर भी खाता जावे।

पिछले पृष्ठ पर दिये हुए अंकों का रेखाचित्र अगले पृष्ठ पर दिया गया है। इससे सीमांत-उपयोगिता ह्रास नियम* और स्पष्ट हो जाता है।

इस रेखा चित्र में लम्बों की उँचाई अमरूदों की सीमान्त उपयोगिता बतलाती है। इस चित्र से यह स्पष्ट मालूम होता है कि ज्यों ज्यों अधिक अमरूद खाये गये प्रत्येक की सीमांत उपयोगिता घटती गई और लम्बों की उँचाई भी कम होती गई। यहाँ तक कि सातवें अमरूद की उपयोगिता बतलानेवाले लम्ब की उंचाई कुछ नहीं है और आठवें का लम्ब नीचे चला गया है जिससे यह मालूम होता है कि आठवें अमरूद

*Law of diminishing marginal utility

से अनुपयोगिता प्राप्त हुई। इस चित्र में इन लम्बो का क्षेत्रफल कुल उपयोगिता बतलाता है। यदि हमें चार अमरूदों की कुल उपयोगिता
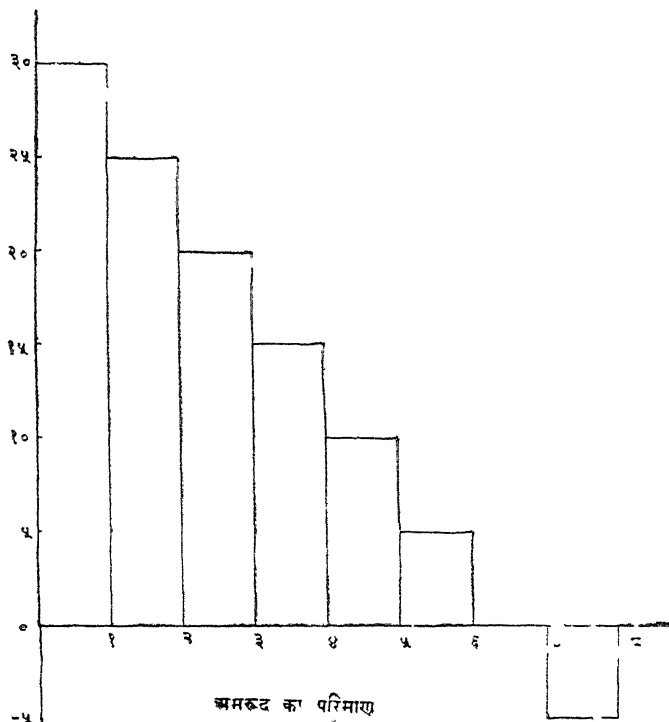
मालूम करना हो तो पहिले, दूसरे, तीसरे और चौथे लम्बों के क्षेत्रफलों को जोड़ देने से वह आसानी से मालूम हो जायगी।

सीमांत-उपयोगिता-ह्रास नियम को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम एक ऐसे वस्तु का एक और उदाहरण लेते हैं जो कि छोटे से छोटे परिमाण में ली जा सकती है। नीचे के कोष्ठक और अगले पृष्ठ पर दिये हुए रेखाचित्र में एक परिवार के एक महीने के लिए १० सेर चीनी की सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता दिखलाई गई है।

सेर	सीमान्त उपयोगिता	कुल उपयोगिता
पहिला	५५	५५
दूसरा	५०	१०५
तीसरा	४५	१५०
चौथा	४०	१९०
पाँचवाँ	३५	२२५
छठा	३०	२५५
सातवाँ	२५	२८०
आठवाँ	२०	३००
नवाँ	१५	३१५
दसवाँ	१०	३२५
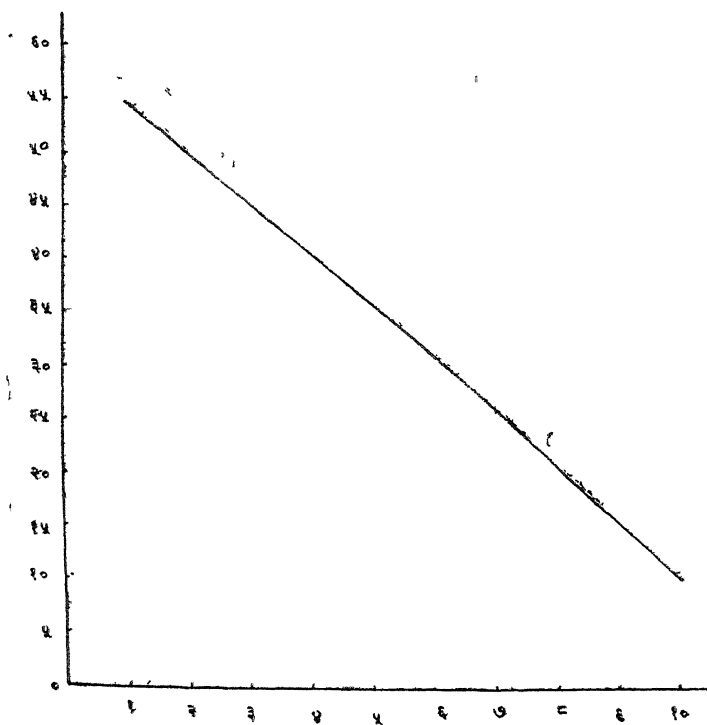
चीनी का परिमाण (सेर)

जैसे पहिले रेखाचित्र में प्रत्येक अमरूद की उपयोगिता दिखलाई गई थी उसी प्रकार इस रेखाचित्र में भी प्रत्येक सेर चीनी की उपयोगिता दिखलाई गई है। लेकिन पहिले रेखाचित्र में उपयोगिता लम्ब के रूप में दिखलाई गई थी और इस रेखाचित्र में उपयोगिता वक्र रेखा द्वारा दिखलाई गई है। यह वक्र रेखा नीचे को गिरती जा रही है जिससे यह

सूचित होता है कि प्रत्येक सेर चीनी की उपयोगिता घटती जा रही है।

नीचे दिये हुए रेखाचित्र में १० सेर चीनी की कुल-उपयोगिता दिखलाई गई है।
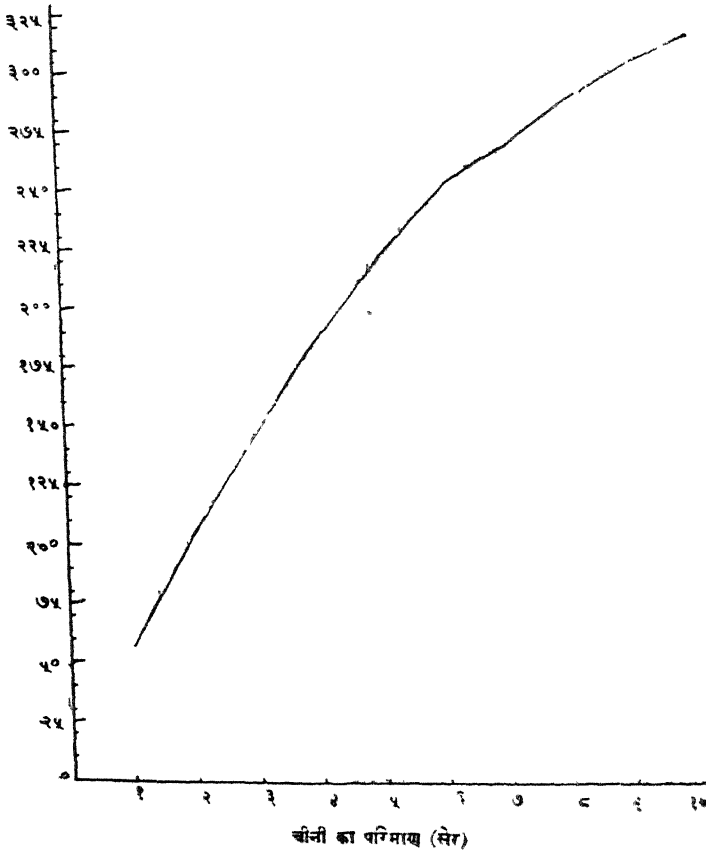
इस रेखाचित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु के अधिक परिमाण में ।सेवन करने से कुल-उपयोगिता बढ़ती है क्योंकि वक्र रेखा जो कि कुल-उपयोगिता दर्शा रही है ऊँची होती जा रही है ।

इस उपयोगिता-ह्रास नियम में यह बात मान ली गई है कि वस्तु का उपभोग किसी खास स्वभाव के मनुष्य द्वारा किसी खास समय में और खास परिस्थिति म हुआ है। अगर कोई मनुष्य एक अमरूद सुबह, एक दोपहर को और एक शाम को खाये तो सम्भव है कि प्रत्येक अमरूद की उपयोगिता उसको बराबर मालूम हो। लेकिन पहिले, दूसरे और तीसरे अमरूद खाने में बहुत समय का अन्तर हो गया है इसलिये यह नियम यहाँ लागू नहीं होता है। इसी प्रकार परिस्थिति और स्वभाव का भी इस नियम में प्रभाव पड़ता है। यह कहा जाता है कि शराब ज्यों ज्यों ज्यादा पी जाती है त्यों त्यों उसको अधिक पीने की इच्छा होती है। इसलिये पहिले प्याले से दूसरे प्याले की उपयोगिता अधिक मालूम होती है इत्यादि। लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि शराब पीने के बाद उस मनुष्य के होश हवास दुरुस्त नहीं रहते हैं इसलिये उसकी ।स्थति पहिले की सी नहीं रहती है। इसीलिये इस असाधारण दशा में उसको अधिक शराब पीने से अधिक उपयोगिता मालूम होती है।

इस नियम के सम्बन्ध में एक आक्षेप यह भी है कि अगर किसी वस्तु का बहुत सूक्ष्म परिमाण में उपभोग किया जाय तो पहिले उसकी सीमान्त-उपयोगिता में ह्रास के बदले वृद्धि होती है। अगर हम अमरूद

की बहुत ही छोटी छोटी फाँकें करके खाँय तो शायद चार पाँच फाँक तक सीमान्त-उपयोगिता की वृद्धि हो और दस बारह फाँक तक सीमान्त उपयोगिता बराबर रहे, लेकिन किसी एक सीमा के बाद फिर उपयोगिता-ह्रास नियम लागू हो जायगा।

कुछ बाहरी दिखावट और फैशन की चीजें ऐसी होती हैं जिनके परिमाण में वृद्धि होने पर भी उनकी उपयोगिता में वृद्धि होती है। अगर दो धनी लोगों के पास एक एक मोटरकार हो और उनमें से एक मनुष्य एक और मोटरकार खरीद ले तो उसको दूसरी मोटरकार से अधिक सन्तोष मालूम पड़ता है और दूसरी मोटर की उपयोगिता पहिली से अधिक मालूम पड़ती है क्योंकि दो मोटर होने से वह अपने को पड़ोसी से श्रेष्ठ समझने लगता है।

इसी प्रकार कुछ ऐसी दुष्प्राय और अप्राप्य वस्तुएँ हैं जिनकी वृद्धि से उपयोगिता में बहुत वृद्धि हो जाती है। उदाहरण के लिये मान लीजिए कि किसी मनुष्य के पास एक बड़ा बहुमूल्य हीरा है। अगर उसको मालूम हो जाय कि ऐसा ही हीरा एक और किसी के पास है तो उसको खरीदने के लिए वह पहिले हीरे की अपेक्षा बहुत अधिक मूल्य देने को तैयार हो जायगा क्योंकि अगर एक के बजाय उसके पास दो इतने बड़े हीरे हो जायँ तो वह पहिले की अपेक्षा बहुत बड़ा आदमी समझा जावेगा। इसलिए दूसरे हीरे से उसको पहिले हीरे की अपेक्षा अधिक उपयोगिता मिलेगी।

द्रव्य की सीमान्त-उपयोगिता—द्रव्य के विषय में भी सीमान्त-

उपयोगिता ह्रास नियम लागू होता है। ज्यों ज्यों कोई मनुष्य धनवान् होता जाता है त्यों त्यों उसके द्रव्य की उपयोगिता कम होती जाती है। उदाहरण के लिए एक ऐसे मनुष्य को लीजिए जिसकी आमदनी ५०) रु० माहवार से १००) रु० माहवार हो गई है। जब तक उसकी आमदनी ५०) रु० माहवार थी तब तक वह तीन सेर घी माहवार खरीदता था, लेकिन जब उसकी आमदनी १००) रु० महीना हो गई तो वह उसी भाव पर महीने में ५ सेर खरीदने लगा। इससे प्रकट हो जाता है कि आमदनी बढ़ जाने से रुपये की सीमान्त-उपयोगिता में कमी होगी। इसके विपरीत जब आमदनी कम होती जाती है तो द्रव्य की सीमान्त-उपयोगिता बढ़ती जाती है। जब माह के आरम्भ में विद्यार्थियों के पास रुपये आते हैं तो पहिले वे दिल खोल कर खर्च करते हैं, लेकिन जब माह के अन्त में रुपया खतम होने को आता है तो फिर वे सँभल कर खर्च करते हैं। इसका कारण यही है कि माह के आरम्भ में अधिक रुपया होने से रुपये की सीमान्त-उपयोगिता कम होती है, और जैसे जैसे रुपया कम होता जाता है बाकी रुपयों की सीमान्त-उपयोगिता बढ़ती जाती है यहाँ तक कि अन्तिम रुपये की उपयोगिता बहुत हो जाती है।

गरीब आदमी को द्रव्य की सीमान्त-उपयोगिता धनवान् आदमी से अधिक होती है। अगर एक आदमी की आमदनी २०) रु० महीना हो और दूसरे की १०००) रु० हो तो गरीब आदमी के बीसवें रुपये की उपयोगिता अमीर आदमी के हजारवें रुपये से बहुत अधिक होगी। इसलिये गरीब आदमी को बीसवाँ रुपया खर्च करने के लिए अधिक

उपयोगिता की आवश्यकता होगी बनिस्बत अमीर आदमी को हजारवाँ रुपया खर्च करने के।

आय की उपयोगिता बहुत धीरे धीरे घटती है। इसका कारण यह है कि द्रव्य एक ऐसी वस्तु है जिससे अनेक प्रकार की वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं। इसलिये ज्यों ज्यों आय में वृद्धि हो और उससे उपभोग की नयी वस्तुएं खरीदी जायँ तो इस आय की वृद्धि से सीमान्त-उपयोगिता में बहुत कम ह्रास होगा। द्रव्य को एक वस्तु मानने के बजाय उसको कई वस्तुओं का समुच्चय समझना चाहिये। नीचे दिये हुए कोष्ठक और अगले पृष्ठ पर दिये हुए रेखा चित्र में यह दिखलाया गया है कि द्रव्य की सीमान्त-उपयोगिता बहुत धीरे धीरे किस प्रकार कम होती है।

मासिक आय	सीमान्त-उपयोगिता
४०) रुपया	१००
४५) ”	९८
५०) ”	९६
५५) ”	९४
६०) ”	९२
६५) ”	९०
७०) ”	८८
८०) ”	८४
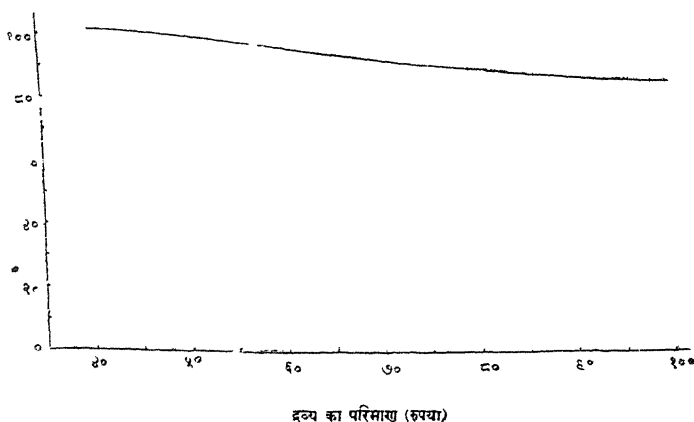
इस रेखाचित्र में वक्र रेखा बहुत ही धीरे धीरे नीची होती चली जा रही है। इससे यह मालूम होता है कि जैसे जैसे उस मनुष्य की मासिक आय बढती गयी, वैसे वैसे उस आय की सीमान्त-उपयोगिता धीरे-धीरे घटती गयी।

अभ्यास के प्रश्न

(१) उपयोगिता से आप क्या समझते हैं? संक्षेप में उपयोगिता ह्रास नियम बताइये।

(२) सीमान्त-उपयोगिता और कुल उपयोगिता के भेद उदाहरणों सहित समझाइए।

(३) उपयोगिता-ह्रास-नियम की परिभाषा दीजिए तथा रेखाचित्र द्वारा उसे समझाइए । स्पष्ट बताइए कि यह नियम कब लागू नहीं होता । (१६३५ और १६२६; १६२८ और १६२६)

(४) किसी वस्तु की पूर्ण उपयोगिता तभी सर्वाधिक होती है जब उसकी सीमान्त-उपयोगिता शून्य हो। रेखाचित्र द्वारा इसे समझाइए। (१६३८)

(५) द्रव्य की सीमान्त-उपयोगिता की विशेषता रेखाचित्र द्वारा समझाइये।

सातवाँ अध्याय

—:-*-:—

आमदनी खर्च करने की विधि

मनुष्य विविध वस्तुओं में अपना द्रव्य खर्च करता है। इसमें क्या नियम काम करता है, तथा द्रव्य खर्च करने का उत्तम तरीक़ा क्या है, इन बातों का विचार करने से पूर्व हम उपभोग की वस्तुओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में कुछ विचार करते हैं।

उपभोग की वस्तुओं का वर्गीकरण—संसार में सब से पहले मनुष्य को अपने शरीर को बनाये रखने की फ़िक्र रहती है। अंधा, अपाहिज कैसा ही मनुष्य क्यों न हो वह अपने चर्म-अस्थि पिञ्जर शरीर को नाश होने से बचाने का सदा प्रयत्न किया करता है। इसलिए उपभोग के पदार्थों में मुख्य स्थान उन पदार्थों को दिया जाता है जो शरीर और प्राण को साथ रखने के लिये ज़रूरी होते हैं। इन पदार्थों को जीवनरक्षक पदार्थ* कहते हैं। इन पदार्थों में जल, अन्न, वस्त्र, मकान इत्यादि शामिल हैं। लेकिन केवल जीवन-रक्षा के लिए ये पदार्थ साधारण दर्जे के हो सकते हैं, जिनसे किसी मनुष्य का निर्वाह मात्र हो सके। जीवन-रक्षक पदार्थों की कीमत बढ़ जावे या घट

---

* Necessaries for Life

जावे लेकिन शरीर की रक्षा के लिए इन वस्तुओं को खरीदना अनिवार्य होता है। इसलिये जैसे जैसे जीवनरक्षक पदार्थों की क़ीमत बढ़ती जाती है वैसे वैसे उन पर किया गया कुल खर्च बढ़ता जाता है क्योंकि मांग उस अनुपात में कम नहीं होती है।

दूसरे प्रकार के उपभोग के पदार्थ निपुणता-दायक पदार्थ* कहलाते हैं। ये वे पदार्थ हैं जिनके सेवन करने से मनुष्य की कार्य करने की शक्ति बढ़ती है। उसके शरीर में बल, उत्साह और स्फूर्ति पैदा होती है। शरीर निरोग रहता है। जीवन-रक्षक पदार्थों में भी ये गुण रहते हैं। परन्तु उनका वर्गीकरण अलग कर देने से निपुणतादायक पदार्थों में जीवन-रक्षक पदार्थ सम्मिलित नहीं किये जाते। कुछ जीवन-रक्षक पदार्थ अधिक मात्रा में और अच्छे दरजे के होने पर निपुणता-दायक पदार्थ कहलाने लगते हैं। जैसे साधारण भोजन करने से, फटा पुराना कपड़ा पहनने से तथा टूटी फूटी झोपड़ी में रहने से भी मनुष्य जिन्दा तो रह सकेगा, लेकिन उसकी तन्दुरुस्ती अच्छी नहीं रहेगी। शरीर रोगी और निर्बल हो जावेगा, और काम करने की शक्ति क्षीण होती जावेगी। लेकिन अगर उसको भर पेट पुष्टिकारक भोजन दिया जावे, जैसे अच्छा अन्न, घी, दूध, फल इत्यादि और स्वच्छ वस्त्र पहनने को दिये जायें, रहने के लिए अच्छा हवादार मकान दिया जाये, व्यायाम, खेल, पुस्तकालय इत्यादि का उसके लिये प्रबन्ध किया जाय तो वह पुरुष हृष्ट पुष्ट, नीरोग, निपुण और तन्दुरुस्त होगा।

---

* Necessaries for Efficiency

काम करने के लिए बल और उत्साह बढ़ेगा इसलिए उसका काम भी अच्छा होगा। निपुणता-दायक पदार्थों में जितना खर्च किया जाता है उसका फल उससे कहीं अधिक मिलता है। कीमत के बढ़ने पर निपुणता-दायक पदार्थों की मांग में भी अधिक कमी नहीं होगी इसलिये इन पदार्थों पर भी, जीवनरक्षक पदार्थों के समान खर्च बढ़ता जाता है जैसे इनके मूल्य में वृद्धि होती है।

उपभोग के पदार्थों के तीसरे विभाग में आराम की वस्तुएं* ली जाती हैं। इन वस्तुओं के उपभोग से शरीर को सुख और आराम तो मिलता ही है किन्तु निपुणता भी बढ़ती है। लेकिन जितना खर्च इन पर किया जाता है उस अनुपात में उससे कार्य-कुशलता नहीं बढ़ती है। जैसे किसी गरीब मनुष्य के लिए धोती, कुर्ता और चप्पल निपुणता-दायक पदार्थ हैं लेकिन अगर वह बढ़िया कमीज, कोट का उपयोग करे तो ये वस्तुएं उसके लिए आराम की वस्तुएं कहीं जावेंगी। इनसे उसकी निपुणता भले ही बढ़े लेकिन उतनी नहीं बढ़ेगी जितना इसमें खर्च हो जायेगा। इसी प्रकार से गरीब किसान के लिये साइकिल, घड़ी, पक्का मकान, इत्यादि भी आराम की वस्तुओं में शामिल किये जा सकते हैं।

चौथे प्रकार के उपभोग की वस्तुएँ 'विलासिता की वस्तुएँ'† कहलाती हैं। इन वस्तुओं के सेवन करने से इन पर किये गये खर्च की

---

* Comfortes

† Luxuries

अपेक्षा इनसे बहुत कम निपुणता अथवा कार्य कुशलता प्राप्त होती है। कभी कभी तो इन वस्तुओं के उपभोग से कार्य-कुशलता का बढ़ने की अपेक्षा ह्रास होने लगता है। ऐसी वस्तुओं के उदाहरण हैं खूब बढ़िया आलीशान अट्टालिकायें, बहुत कीमती भड़कीले वस्त्र, शराब इत्यादि। विलासिता की वस्तुओं को सेवन करने से शरीर आलसी सा हो जाता है। काम करने को जी नहीं करता है। शराब इत्यादि के सेवन से तो मनुष्य की कार्य-कुशलता बिलकुल क्षीण होने की सम्भावना रहती है। विलासिता की वस्तुओं की कीमत में थोड़ा सा अन्तर होने से ही इनकी माँग में बहुत अन्तर हो जाता है। इसलिये जैसे इनकी कीमत बढ़ती है वैसे ही इन पर कुल खर्च घटता जाता है।

उपभोग के पदार्थों का एक और विभाग है। इस विभाग में वे वस्तुएँ हैं जो कि जीवनरक्षा अथवा आराम इत्यादि के लिए आवश्यक नहीं हैं, लेकिन समाज के दबाव से, लोक-निन्दा के भय से अथवा रीति-रस्म, आचार व्यवहार तथा आदत पड़ जाने के कारण ये वस्तुएँ भी आवश्यक होने लगती हैं। इन वस्तुओं को "कृत्रिम आवश्यकताओं की वस्तुएँ"* कहते हैं। जन्मोत्सव, विवाह इत्यादि उत्सवों में खर्च, तथा शराब, तम्बाकू, गाजा, चरस इत्यादि पर खर्च इसके उदाहरण हैं। चूंकि इन वस्तुओं की कीमत बढ़ जाने अथवा घट जाने से भी ये वस्तुएँ करीब करीब उसी परिमाण में खरीदी जाती हैं, इसीलिए कीमत के बढ़ने पर इन पर होने वाला खर्च भी बढ़ जाता है।

---

* Conventional Necessaries

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि उपभोग की वस्तुओं के ये विभाग उपभोक्ताओं की परिस्थितियों के अनुसार किये गए हैं। हम यह नहीं कह सकते हैं कि अमुक वस्तुएँ सब के लिये सदा जीवन-रक्षक पदार्थ हैं, और कुछ वस्तुएँ विलासिता की अथवा आराम की वस्तुएँ हैं इत्यादि। कोई भी वस्तु अपने आप से किसी भी वर्ग में शामिल नहीं की जा सकती है। किसी वस्तु को कौन से वर्ग में रखा जाये इस बात को जानने के लिये हमको बहुत सी और बातें भी ध्यान में रखनी पड़ती हैं। मनुष्यों की प्रकृति, आदत, फैशन, जल-वायु, देश-काल, वस्तुओं की कीमत तथा मनुष्यों की आर्थिक अवस्था से वस्तुओं के वर्गीकरण मे भिन्नता आ जाती है।

कई वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो कि वस्तुतः विलासिता की वस्तुएँ अथवा आराम की वस्तुएँ हैं, लेकिन उनका बार बार उपभोग करने से उन वस्तुओं के उपभोग की आदत पड जाती है। इसलिए वे कृत्रिम आवश्यकता की वस्तुओ में गिनी जाने लगती हैं। उदाहरणार्थ चाय अथवा तम्बाकू को लीजिये। जिन लोगों को इन वस्तुओं का व्यसन पड़ जाता है उनसे अगर उनके सम्बन्ध में पूछा जाय तो वे कहते हैं कि उन वस्तुओं को सेवन किये बिना वे जी नहीं सकते हैं। भोजन ठीक वक्त पर मिले, न मिले इसकी परवाह नहीं, लेकिन तम्बाकू, शराब इत्यादि उनको अवश्य मिलनी चाहिए। कई मनुष्यों की शारीरिक अवस्था ऐसी होती है कि एक वस्तु जो दूसरे मनुष्य को नुकसान पहुँचाती है, उनको लाभदायक होती है।

एक डाक्टर के लिए मोटरकार आवश्यक प्रतीत होती है क्योंकि

उसकी सहायता से वह कम समय में बहुत से मरीजों को देख सकता है, लेकिन एक क्लर्क या अध्यापक के लिए मोटरकार आराम या विलासिता की ही वस्तु समझी जावेगी।

एक अमीर आदमी के लिए आलीशान महल, बिजली का लैम्प, पङ्खे इत्यादि आराम की वस्तुएँ हों लेकिन एक गरीब किसान के लिए ये वस्तुएँ एकदम विलासिता की वस्तुएँ समझी जावेंगी।

किसी वस्तु की कीमत के घटने बढ़ने से भी उस वस्तु के वर्गीकरण में भिन्नता आ जाती है। अगर कोई कपड़ा ६) रु० गज के हिसाब से बिकता हो तो वह किसी मनुष्य के लिये विलासिता की वस्तु समझी जाती है, अगर ३) रु० गज हो जाये तो आराम की वस्तु, १) रु० गज में निपुणतादायक वस्तु तथा ।।) आना गज में जीवनरक्षक वस्तु समझी जा सकती है।

समय या फैशन के अन्तर से, रहन सहन के दर्जे के भेद से तथा कीमत के परिवर्तन से कोई वस्तु एक समय विलासिता की वस्तु, दूसरे समय आराम की वस्तु और किसी समय जीवनरक्षक वस्तु भी समझी जाती है।

सम-सीमांत-उपयोगिता-नियम—प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि वह अपने द्रव्य को इस प्रकार खर्च करे कि जिससे उसको अधिकतम उपयोगिता प्राप्त हो। यही कारण है कि लोगों को प्रायः यह समस्या हल करनी पड़ती है कि कौन सी वस्तु किस समय और कितनी खरीदनी चाहिए। लोग अपने मन में एक वस्तु की उपयोगिता की

तुलना दूसरे वस्तु की उपयोगिता से करते हैं, और उस वस्तु को खरीदते हैं जिसकी उपयोगिता उनको सब से अधिक मालूम हो। अब चूंकि मनुष्य को विविध वस्तुओं की विविध संख्या में आवश्यकता होती हैं, और सीमांत-उपयोगिता-ह्रास नियम के अनुसार प्रत्येक वस्तु को अधिक परिमाण में खरीदने से क्रमशः सीमांत उपयोगिता कम होती जाती है, इसलिए साधारण मनुष्य को यह निश्चय करने में कठिनता होती है कि वह कौन कौन सी वस्तु कितनी कितनी खरीदे कि जिससे उसको अपने द्रव्य से अधिकतम उपयोगिता प्राप्त हो। इसी बात का विवेचन अर्थशास्त्र में सम-सीमांत-उपयोगिता नियम* में किया जाता है। इस नियम का यह मतलब है कि अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करने के लिए प्रत्येक उपभोक्ता अपनी आय को विविध वस्तुओं में इस प्रकार विभाजित करे कि उसको प्रत्येक वस्तु पर खर्च किये अन्तिम रुपये से करीब करीब बराबर उपयोगिता प्राप्त हो। इसको अपने द्रव्य से अधिकतम उपयोगिता तभी प्राप्त हो सकती है जब कि प्रत्येक वस्तु पर खर्च किये गये अन्तिम सिक्के से समान सीमान्त उपयोगिता मिले। यह नियम आसानी से सिद्ध किया जा सकता है।

निम्नलिखित कोष्ठक में यह बतलाया गया है कि यदि कोई मनुष्य गेहूं, चावल, कपड़ा और चीनी पर अपनी आय खर्च करे तो क्रमशः प्रत्येक रुपये से उसको कितनी उपयोगिता प्राप्त होगी।

---

* Law of Equi-Marginal Utility

रुपया	एक रुपया खर्च करने पर प्राप्त उपयोगिता			
	गेहूँ से	चावल से	कपड़े से	चीनी से
पहला	१००	८०	९०	६०
दूसरा	८०	६०	७०	४०
तीसरा	६०	४०	५०	३०
चौथा	५०	३०	३०	२०
पांचवाँ	४०	२०	१७	१५
छठा	३०	१५	१०	१०
सांतवाँ	२०	१०	६	५
आठवाँ	१५	५	३	२
नवां	१०	३	२	१
दसवां	५	२	१	०

इस कोष्ठक से यह पता लगता है कि वह मनुष्य पहिला रुपया गेहूँ पर खर्च करके १०० उपयोगिता प्राप्त करता है, दूसरा रुपया खर्च करने से उसे जो गेहूं मिलता है उसकी उपयोगिता ८० है। यदि वह अपना रुपया चावल पर खर्च करता है तो उसे ८० उपयोगिता मिलती है और दूसरा रुपया चावल पर खर्च करने से उसे ६० उपयोगिता प्राप्त होती है। मान लीजिये कि इस मनुष्य के पास ८ रुपये हैं और वह उन्हें उपर्युक्त चार वस्तुओ पर खर्च करना चाहता है। वह इन चार वस्तुओं पर इस प्रकार खर्च करेगा जिससे उसे अधिकतम उपयोगिता प्राप्त हो, इसलिये वह पहिला रुपया गेहूँ पर खर्च करेगा, दूसरा रुपया वह कपड़े पर खर्च करेगा, परन्तु वह कपड़े पर खर्च किये जाने वाला प्रथम रुपया होगा और उससे उसे ९० उपयोगिता मिलेगी। तीसरा और चौथा रुपया वह

गेहूँ और चावल पर खर्च करेगा, दोनों से ३से बराबर उपयोगिता प्राप्त होगी, वह पांचवा रुपया कपड़े पर खर्च करके ७० उपयोगिता प्राप्त करेगा। छठवां, सातवां और आठवां रुपया वह गेहूँ, चावल और चीनी पर बराबर खर्च करके बराबर उपयोगिता प्राप्त करेगा। इस प्रकार रुपया खर्च करने पर उसे सब से अधिक उपयोगिता मिलेगी।

इस प्रकार अपने रुपये चारों वस्तुओं पर विभाजित करने से उसने प्रत्येक वस्तु पर खर्च किये हुए अंतिम रुपये से प्राप्त उपयोगिता करीब बराबर कर ली। उसने गेहूँ पर ३ रुपया, चावल पर २ रुपया, कपड़े पर २ रुपया और चीनी पर १ रुपया खर्च किया। गेहूँ पर तीसरा रुपया खर्च करने से जो उपयोगिता प्राप्त हुई वह ६० है। इसी प्रकार चावल, कपड़ा और चीनी पर अंतिम रुपया खर्च करने से प्राप्त उपयोगिता क्रमशः ६०, ७० और ६० है। इससे यह सिद्ध होता है कि उसने अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करने के लिये सम सीमान्त उपयोगिता नियम का पालन किया। वस्तुओं के खरीदने के लिये प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य इसी नियम का पालन करता है।

हम यह पहिले बतला आए हैं कि रुपये की भी सीमान्त उपयोगिता होती है और वह बहुत धीरे धीरे घटती है। मान लीजिये कि मपर्युक्त उदाहरण में उस मनुष्य को रुपये की सीमांत-उपयोगिता ३० है तो वह मनुष्य गेहूँ पर ६ रुपये खर्च करने को तैयार हो जायगा; यदि वह सातवां रुपया खर्च करेगा तो उसके बदले में जो गेहूँ मिलेगा उसकी उपयोगिता केवल २० ही रहेगी। रुपये की उपयोगिता उसे ३० है इसलिये वह सातवां रुपया गेहूँ पर खर्च करने को राजी नहीं होगा।

इसी प्रकार वह चावल पर चार रुपये, कपड़े पर चार रुपये और चीनी पर तीन रुपये खर्च करने को राजी होगा। इस तरह वह प्रत्येक वस्तु पर खर्च किये हुए अन्तिम रुपये से प्राप्त उपयोगिता को अपने रुपये की उपयोगिता के बराबर बनाकर समसीमान्त-उपयोगिता-नियम का पालन करेगा। पृष्ठ ७७ पर दिये हुये कोष्ठक के उपयोगिता-सम्बन्धी अंकों को अगले पृष्ठ पर दिये हुए रेखाचित्र में गेहूँ, चावल, कपड़ा, चीनी और द्रव्य की वक्र रेखाओं द्वारा दिखलाया गया है।

इस रेखाचित्र से यह स्पष्ट रूप से मालूम होता है कि वह मनुष्य प्रत्येक वस्तु पर कितने रुपये खर्च करेगा। जिस बिंदु पर द्रव्य की रेखा किसी वस्तु की रेखा पर मिलती है उसी बिंदु से उस पर खर्च किये गए रुपये का परिमाण मालूम हो जाता है। इस रेखाचित्र से भी यही पता लगता है कि वह मनुष्य चीनी पर तीन रुपये, चावल पर चार रुपये, कपड़े पर चार रुपये और गेहूं पर छै रुपये खर्च करेगा। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं के उपयोगिता-सम्बन्धी अङ्क प्राप्त करके या रेखाएं खींचकर यह बतलाया जा सकता है कि कोई भी मनुष्य अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करने के लिये प्रत्येक वस्तु पर कितना रुपया किसी समय खर्च करेगा।

सम सीमांत उपयोगिता नियम से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि जब कोई मनुष्य आवश्यक वस्तुओं को खरीदने के लिये बाज़ार जाता है तो वह उन वस्तुओं की उपयोगिता की तालिका अपने साथ बनाकर ले जाता है या वह बाज़ार में जाकर इसी प्रकार की कोई तालिका बनाता है। परन्तु फिर भी हम देखते हैं कि वह इस नियम का उपयोग अवश्य

सीमांत उपयोगिता
१००
९०
८०
७०
६०
५०
४०
३०
२०
१०
०
१
२
३
४
५
६
७
८
९
१०
गेहूं
कपड़ा
चावल
चीनी
द्रव्य रुपया)
द्रव्य का परिमाण (रुपया)
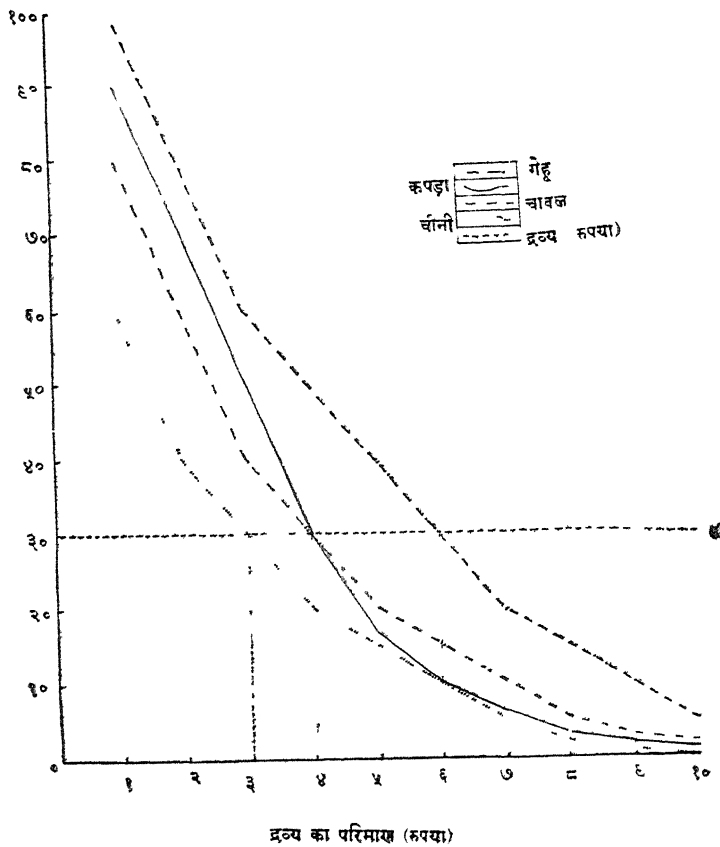
करता है। खरीदते समय वह अपने मन में प्रत्येक वस्तु पर अन्तिम रुपया खर्च करके प्राप्त होने वाली उपयोगिता की तुलना करता है, और जब कभी दो वस्तुओं की इस प्रकार की उपयोगिता बिलकुल बराबर हो जाती है तब वह असमंजस में पड़ जाता है और यह निश्चय नहीं कर पाता कि किसको खरीदा जाय और किसको न खरीदा जाय। यदि उसके पास उस समय दोनों को खरीदने के लिये काफी द्रव्य न हो तो ऐसी दशा में सम-सीमान्त-उपयोगिता-नियम का पालन स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

इस नियम के सम्बन्ध में हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि प्रत्येक मनुष्य भविष्य के लिये कुछ न कुछ इन्तज़ाम करना चाहता है। इसके लिये उसको अपनी वर्तमान आवश्यकताओं में काट छाँट करके भविष्य के लिए द्रव्य का संरक्षण करना पड़ता है। उसको इस समय के आवश्यकीय पदार्थों की उपयोगिता की भविष्य में खरीदे जाने वाले पदार्थों की उपयोगिता से तुलना करनी पड़ती है, जिससे वह भविष्य के लिये द्रव्य बचा कर रखे। लेकिन भविष्य के अनिश्चित होने के कारण मनुष्य को भविष्य में खरीदी जाने वाली वस्तुओं की उपयोगिता का अन्दाज़ लगाना बहुत मुश्किल होता है।

इस नियम में समय का विशेष ख्याल रखना पड़ता है। जिन वस्तुओं को खरीदने के लिए हम एक वस्तु की उपयोगिता को अन्य वस्तुओं की उपयोगिताओं से तुलना करते हैं, यह तुलनात्मक काम एक ही समय में होना चाहिए। समय के बदल जाने से वस्तुओं की

उपयोगिताओं में भी भिन्नता आ सकती है। आज हमको पहिले रुपये से गेहूं खरीदने में सौ और कपड़ा खरीदने में ९० उपयोगिता मिलने से हम पहिले रुपये से गेहूं खरीद ले। लेकिन अगर हम वह रुपया आज खर्च न करके कल के ऊपर उठा रखे तो सम्भव है कि दूसरे दिन हमको प्रथम रुपया खर्च करने से गेहूँ से केवल ९० उपयोगिता ही प्राप्त हो और हम उस रुपये से कपड़ा ही खरीदे। इसलिये यह ध्यान में रखना चाहिये कि जब हम सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम के अनुसार खर्च करने के लिये वस्तुओं की उपयोगिताओं की तुलना करते हैं तो वह तुलना एक समय विशेष के लिए ही लागू हो सकती है। दूसरे समय के लिये हमको नये सिरे से तुलना करनी पड़ती है।

द्रव्य खर्च करने का उत्तम तरीका—अब यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि द्रव्य को खर्च करने का सबसे अच्छा तरीका क्या है? द्रव्य को इस प्रकार खर्च करना चाहिये जिससे अधिकांश लोगों को अधिकतम सुख मिले। यह किस प्रकार हो सकता है? मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिए कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-रक्षक पदार्थ और निपुणतादायक पदार्थ पर्याप्त परिमाण में मिले। जब तक इसका पूरा पूरा इन्तजाम न हो जावे तब तक किसी प्रकार की भी विलासिता की वस्तु अथवा आराम की वस्तु खरीदना फिजूलखर्ची है और समाज का अनहित करना है। जब ये आवश्यकताएँ पूरी हो जावें तो फिर आराम और विलासिता की वस्तुओं को बर्तना चाहिये। लेकिन ये विलासिता की वस्तुएँ ऐसी न होनी चाहिएं जिससे स्वास्थ्य अथवा कार्य-कुशलता की हानि हो, या क्षणिक आनन्द के लिए समाज

की बहुत हानि हो। अगर कोई धनी आदमी अपने द्रव्य को बहुमूल्य शराब, मेले और तमाशों में खर्च करे तो क्षणिक आनन्द के पश्चात् उसके कुछ और हाथ न आवेगा। लेकिन अगर वह इसी द्रव्य को ज़ायदाद खरीदने में, मकान बनवाने में, पुस्तकों और कलाकौशल की वस्तुओं के खरीदने में, अथवा जवाहरात इत्यादि खरीदने में खर्च करे तो ये चीज़ें चाहे उस वक्त उसके कम काम में आवें परन्तु ये उसके पास एक तरह की पूंजी के रूप में हो जाती हैं, जो कि समय पर बेची जा सकती हैं, अथवा भविष्य में उसके काम में आ सकती हैं। इन टिकाऊ वस्तुओं पर किया गया खर्च एक प्रकार से भविष्य के उपभोग के लिए रक्षित द्रव्य है।

टिकाऊ वस्तुओं पर किये खर्च के सम्बन्ध में भी एक बात ध्यान में रखने के योग्य है। ये वस्तुएँ ऐसी नहीं होनी चाहियें जिनसे समाज का उपकार न हो। अगर नदी के किनारे एक कुवां बनाया जाय तो शायद उस पर खर्च की गई पूंजी और श्रम से बहुत कम फायदा होगा। इसी प्रकार अगर ऐसे मकान बना दिये जावें जिनमें कोई न रह सके तो उन पर किय गया खर्च भी फिज़ूल खर्ची माना जावेगा।

कृत्रिम आवश्यकताओं की वस्तुओं में शराब, अफीम, नाच, तमाशे इत्यादि कई एक ऐसी बातें शामिल हैं जिनको दूर करने का सब को प्रयत्न करना चाहिए। शिक्षा की वृद्धि से इस काम को करने में सुगमता हो सकती है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने खर्च पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। कृत्रिम आवश्यकताओं की वस्तुओं पर खर्च करने की आदत

धीरे धीरे कम करना चाहिये, जिससे वह खर्च शीघ्र बन्द हो जाय। ऐसी आराम और विलासिता की वस्तुओं पर भी खर्च कम करके बचे हुए द्रव्य को जीवन-रक्षक पदार्थ अथवा निपुणता-दायक पदार्थों पर लगाना चाहिए, अथवा उसे भविष्य में आपत्ति के समय उपयोग करने के लिए अच्छे बैंक में जमा कर देना चाहिए। इस प्रकार सोच विचार कर खर्च करने से प्रत्येक व्यक्ति को अधिकतम सन्तोष और सुख होगा।

खर्च और बचत—खर्च करने में जिन बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए, उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उनमें एक बात यह भी है कि मनुष्य को भविष्य में उपस्थित होनेवाली आवश्यकताओं के लिए कुछ बचा कर रखने का भी प्रयत्न करना चाहिए। वास्तव में मनुष्य को दूरदर्शी होना चाहिए और उसे अपनी सब आय वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति में ही खर्च न कर डालनी चाहिए। जो लोग इतना धनोपार्जन करते हैं कि उसमें से उनका जीवन निर्वाह हो जाने के उपरान्त कुछ बचत हो सकती है, उन्हें अपनी परिस्थिति के अनुसार थोड़ा बहुत अवश्य बचाना चाहिए। यदि किसी मनुष्य की आय बहुत कम हो तो बचत उसके द्वारा किये जानेवाले खर्च पर निर्भर होगी। जितना वह खर्च अधिक करेगा, उतनी ही बचत कम होगी। इसके विपरीत जितना वह मितव्ययिता से काम लेगा, उतनी ही बचत अधिक होगी।

इसी प्रकार जब किसी आदमी की आय वही बनी रहे तो उसकी बचत से उसके द्वारा किये जानेवाले खर्च का निश्चय हो सकता है। बचत जितनी अधिक होगी, उतना ही खर्च कम होगा; इसके विपरीत

बचत जितनी कम होगी, खर्च उतना ही अधिक होगा। यह पहले बताया जा चुका है कि मनुष्यों का अपने जीवन निर्वाह के खर्च की अपेक्षा ऐशोआराम तथा विलासिता की वस्तुओं पर खर्च अधिक घटता बढ़ता है। इसलिए जब किसी आदमी की बचत कम (या ज्यादह) होती है तो बहुधा यह अनुमान किया जा सकता है कि उसने अपने ऐशो-आराम या विलासिता की वस्तुओं पर खर्च बढ़ा दिया है, (या घटा दिया है।) निदान, खर्च और बचत का एक दूसरे पर बड़ा प्रभाव पड़ता है, और इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

विशेष वक्तव्य—वास्तव में खर्च करना भी एक बड़ी कला है। बहुत कम आदमी यह जानते हैं कि द्रव्य का उपयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए। जो आदमी सोच समझ कर खर्च करता है, वह परिमित आय से भी अपने आप को उन आदमियों से अधिक सुखी बना सकता है, जिनकी आय उतनी ही है, परन्तु जो उसकी अपेक्षा कम सोच समझ कर काम करते हैं। खर्च के सुप्रबन्ध करने में, इस अध्याय में बतलाई हुई बातों पर ध्यान देने से बड़ी सहायता मिलेगी।

अभ्यास के प्रश्न

(१) सर्वाधिक सन्तोष प्राप्त करने की दृष्टि से आप अपनी बहिन को पारिवारिक व्यय के प्रबन्ध के सम्बन्ध में क्या राय देंगे? (१९३८)

(२) मनुष्य की आवश्यक वस्तुओं की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं? उदाहरण सहित आवश्यक, आराम की या विलासिता की वस्तुओं की भिन्नता स्पष्ट कीजिए। (१९३५, १९२९)

(३) निम्नलिखित की भिन्नता स्पष्ट कीजिए तथा भिन्नता का महत्व बताइए :—

(अ) आवश्यक व विलासिता की वस्तुएँ।

(ब) जीवन-रक्षक वस्तुएँ व निपुणतादायक पदार्थ। (१६२८)

(४) यदि कोई कुली अथवा मामूली किसान आपके पास अपने खर्च के सुप्रबन्ध के सम्बन्ध में राय लेने आवे तो आप उसे कौन कौन सी व्यावहारिक बातें बताएँगे? (१६२६)

(५) खर्च और बचत के सम्बन्ध को समझाइए। साधारण परिस्थिति के व्यक्तियों को कम से कम प्रतिमास कितनी बचत करनी चाहिए?

(६) अपनी बचत के धन से सोने चांदी के गहने बनवा लेना कहां तक उचित है?

———

आठवाँ अध्याय

—:-*-:—

मांग

उपभोग के लिए मनुष्यों को विविध वस्तुओं की आवश्यकता होती है। हम बहुधा सुनते हैं कि अमुक वस्तु की मांग बढ़ गयी, या अमुक वस्तु की मांग घट गयी। हमें विचार करना चाहिए कि वस्तुओं की मांग किन कारणों से बढ़ती अथवा घटती है और उसका क्या नियम है। पहले हम यह जान लें कि अर्थशास्त्र में मांग* किसे कहते हैं, यद्यपि साधारण व्यवहार में इच्छा, आवश्यकता और मांग शब्द प्रायः समान अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं, अर्थशास्त्र में इनका प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है। इच्छा और आवश्यकता के सम्बन्ध में, इस खंड के दूसरे अध्याय में लिखा जा चुका है। किसी वस्तु की मांग से इच्छित वस्तु के उस परिमाण का बोध होता है, जिसको कोई मनुष्य, किसी खास समय में, किसी निश्चित कीमत पर खरीदने को तैयार हो। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि किसी बच्चे को उसके पिता ने एक आना दिया। उसने बाज़ार जाकर नारंगियां देखीं। उसकी नारंगी खरीदने की इच्छा हुई। पूछने पर उसे मालूम हुआ

---

* Demand

कि एक नारगी की कीमत दो पैसा है। उस लडके ने दो नारगियां खरीद लीं। अब यहां पर हम कह सकते हैं कि लड़के को नारगी की माग थी। हम उस मांग को इस प्रकार बतलाते हैं कि जब फी नारगी की कीमत दो पैसा है तो उस लड़के को उस समय, उस कीमत पर दो नारङ्गियो की माग है। मांग और कीमत का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। बिना कीमत के मांग हो ही नहीं सकती। अर्थशास्त्र के अनुसार हम यह नहीं कह सकते कि अमुक व्यक्ति को ५०० नारङ्गियों की मांग है जब तक हम नारङ्गी की कीमत उसके साथ न जोड़ें। हम कह सकते हैं, अगर नारगियो की दर दो रुपया सैकड़ा हो तो किसी मनुष्य की मांग उस समय पांच सौ है'।

माग कीमत पर निर्भर होती है, और किसी वस्तु की कीमत उसका द्रव्य के रूप में मूल्य होता है, अतः मांग के नियम को समझने के लिए हमें ज्ञात होना चाहिए कि अर्थशास्त्र में मूल्य, कीमत और द्रव्य का क्या अर्थ होता है।

मूल्य—इस शब्द का व्यवहार दो प्रकार से किया जाता है। कभी कभी मूल्य शब्द का प्रयोग उपयोगिता के अर्थ में भी किया जाता है। जैसे हम कहते हैं कि अमुक वस्तु बहुमूल्य है। लेकिन यह अर्थ गौण है। अर्थशास्त्र में इस प्रकार के मूल्य के लिए हम उपयोगिता शब्द का उपयोग करते हैं।

मूल्य* शब्द का प्रधान अर्थ विनिमय-मूल्य होता है। जब हम किसी वस्तु के बदले में एक दूसरी वस्तु को लेते हैं तो दूसरी वस्तु का

---

* Value

परिमाण पहली वस्तु का मूल्य कहलाता है। जैसे अगर हम एक गाय के बदले तीन बकरियाँ ले लें तो उस गाय का मूल्य तीन बकरियाँ हुआ। यह व्यावहारिक मूल्य भी कहलाता है। इस मूल्य की नींव उपयोगिता में होती है; क्योंकि जब किसी मनुष्य की दृष्टि में तीन बकरियों की उपयोगिता एक गाय से अधिक या कम से कम उसके बराबर न हो, और उसके होश हवास दुरुस्त हों तो वह एक गाय के बदले तीन बकरियाँ कभी न लेगा।

कीमत—किसी वस्तु की एकाई का द्रव्य के रूप में मूल्य उसकी कीमत* कहलाती है। अगर हमें एक गाय साठ रुपये में प्राप्त होती है, तो ६०) रु० गाय की कीमत हो गयी।

पहले जमाने में रुपया-पैसा विनिमय का माध्यम नहीं था, तब वस्तुओं की अदल-बदल से काम किया जाता था। लेकिन इससे बहुत असुविधा होती थी। इस असुविधा को दूर करने के लिए रुपया-पैसा विनिमय का ऐसा माध्यम निकाला गया जो सब लोगों को रुचिकर है और जिससे वस्तुओं के क्रय-विक्रय में बहुत सुविधा हो गयी है। आज कल के व्यवहार और व्यवसाय में किसी भी वस्तु का मूल्य द्रव्य में ही प्रकट किया जाता है।

द्रव्य—वह वस्तु जो विनिमय का माध्यम हो, द्रव्य† कहलाती है। इससे विनिमय बड़ी आसानी से हो सकता है। प्राचीन काल में

---

* Prcie

† Money

जब कि द्रव्य का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था तब मनुष्यो को अपनी आवश्यकता की वस्तुओ को प्राप्त करने मे बड़ी दिक्कत होती थी। उनको किसी ऐसे आदमी को ढूँढ़ना पड़ता था, जिसके पास उसकी आवश्यकता की वस्तुएँ हो, और जिसको उसकी वस्तुओ की आवश्यकता हो। अब द्रव्य के माध्यम से लोग अपनी वस्तुओ के बदले में द्रव्य प्राप्त करके, फिर द्रव्य के विनिमय से अपनी आवश्यकीय वस्तुओ को प्राप्त करते हैं। आज कल ससार में धात्विक और कागज़ी दोनो ही प्रकार के द्रव्य का चलन है। धात्विक द्रव्य के सिक्को का वज़न और शक्ल किसी देश की सरकार द्वारा निश्चित की जाती है। कागज़ी द्रव्य का सचालन भी सरकार ही करती है। अधिकतर कागजी द्रव्य विनिमय-साध्य होते हैं अर्थात् सरकार कागजी द्रव्य के बदले धात्विक द्रव्य देने का वादा करती है। कोई कोई कागजी द्रव्य अत्यधिक परिमाण में चलाये जाने के कारण विनिमय-साध्य नही भी होते।

मांग का नियम—मूल्य, कीमत, और द्रव्य का पारिभाषिक अर्थ जान लेने पर अब हम मांग के नियम का विचार करते हैं।

हम जानते हैं कि यदि जब कि नारंगियां दो दो पैसे मिलती है, हम दो नारंगी खरीदते हैं, तो जब कि नारंगिया एक एक पैसे मिलने लगें, सम्भव है हम पाच नारगिया खरीद लें। बात यह है कि जब हम किसी वस्तु को अधिक अधिक परिमाण में खरीदते हैं तो क्रमशः उस वस्तु की उपयोगिता कम होती जाती है। पहिली नारंगी से दूसरी नारगी की उपयोगिता कम होगी, तीसरी की दूसरी से कम होगी और इस प्रकार दसवी की बहुत ही कम होगी। इसलिये हम शायद पहिली

नारंगी के लिये एक आना देने को तैयार हो जावें लेकिन दसवीं के लिए एक आना कभी नहीं देंगे। शायद जब दुकानदार एक पैसे में एक नारंगी दे तो हम पांच खरीद लें। अब हम कह सकते हैं कि जब नारंगियों की क़ीमत एक आना फी नारंगी हो तो हमारी मांग एक नारंगी है, जब उसकी कीमत दो पैसा फी नारङ्गी हो तो हमारी मांग दो है और जब एक पैसा फी नारङ्गी हो तो हमारी मांग पांच नारङ्गियां हैं। यहां पर स्पष्ट हो गया कि जैसे जैसे नारङ्गियों की कीमत घटती गई वैसे वैसे मांग बढ़ती गई। इसी प्रकार जैसे जैसे नारङ्गियों की कीमत बढ़ती जायगी, वैसे वैसे उनकी मांग घटती जायगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मांग का घटना बढ़ना साधारणतः कीमत के बढ़ने घटने पर निर्भर रहता है। बस, 'मांग का नियम'* यही है कि जब किसी वस्तु की कीमत घट जाती है तो उस वस्तु की मांग बढ़ जाती है, और जब उसकी कीमत बढ़ जाती है तो मांग घट जाती है, बशर्ते कि अन्य सब बातें पूर्ववत रहें।'

मांग के नियम के ये शब्द "बशर्ते कि अन्य सब बातें पूर्ववत रहें" बड़े महत्व के हैं। यह नियम किसी निश्चित समय और परिस्थिति पर निर्भर है। जैसे गर्मी के दिनों में नारङ्गी की उपयोगिता जाड़ों की अपेक्षा अधिक होती है। इसलिये यह मुम्किन है कि गर्मियों में एक आने फी नारङ्गी के भाव पर हम दो या तीन नारङ्गियां खरीद लें और जाड़ों में इस भाव पर एक भी न खरीदें। जब किसी मनुष्य की आमदनी अचानक बढ़ जाती है तो द्रव्य की सीमांत-उपयोगिता

---

* Law of Demand

उसके लिये कम हो जाती है। इस दशा में किसी वस्तु की कीमत वही रहने पर, अथवा बढ़ जाने पर भी वह उस समय की अपेक्षा उसे अधिक संख्या में खरीदेगा, जब कि उसकी आय कम थी।

मांग की सारिणी और मांग की रेखा—अगर हम किसी कोष्ठक में भिन्न भिन्न कीमतों पर किसी वस्तु की भिन्न भिन्न माग का परिमाण दर्शायें तो हम उसे उस वस्तु की मांग की सारिणी* कहते हैं। हम यह जानते हैं कि वस्तु की कीमत के घटने बढ़ने पर उसकी मांग भी क्रमशः बढ़ती और घटती है। जब हम इस बात को किसी तालिका द्वारा प्रकट करते हैं तो उसको उस वस्तु की मांग की सारिणी कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य की प्रत्येक वस्तु के लिये, प्रत्येक काम के लिए, भिन्न भिन्न मांग की सारिणी होती है। नीचे एक मनुष्य की घी की मासिक मांग की सारिणी का नमूना दिया जाता है।

कीमत	घी की मासिक मांग
५) प्रति सेर	२ सेर
३) ,,	४ ,,
२) ,,	६ ,,
१) ,,	१० ,,
॥) ,,	१२ ,,
।) ,,	१४ ,,

* Demand Schedule

इस मांग की सारिणी को जब रेखाचित्र द्वारा प्रकट किया जाता है तो उसको "मांग का रेखाचित्र"* कहते हैं। उपरोक्त मांग की सारिणी का रेखा-चित्र नीचे दिया जाता है।
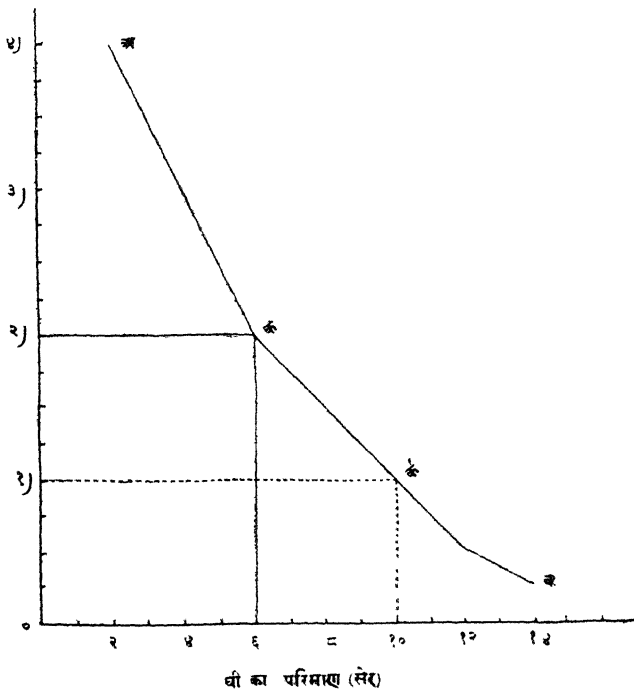
इस रेखाचित्र में अ ब रेखा को मांग की रेखा कहते हैं। इस रेखाचित्र से मालूम होता है कि जब घी की कीमत २) प्रति सेर थी

---

* Demand Curve

तो उसकी मांग ६ सेर थी। जब घी की कीमत १) प्रति सेर हो गई तो उसकी मांग १० सेर तक बढ़ गई। मांग की इस वृद्धि को मांग का प्रसार कहते हैं। इससे मांग का नियम सिद्ध होता है।

समाज की मांग की सारिणी—अगर हम किसी समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति की (किसी वस्तु की) मांग की सारिणी का योग करें तो हमको उस जन-समुदाय की मांग की सारिणी प्राप्त हो सकती है। लेकिन यह बहुत मुश्किल काम है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य की मांग की सारिणी को प्राप्त करना मुमकिन नहीं है। इससे एक आसान तरीका और है, वह इस प्रकार है:—

(१) समाज को वार्षिक आय के अनुसार भिन्न भिन्न भागों में विभाजित कीजिये—जैसे २०) रु० से ५०) रु० मासिक आमदनी तक का प्रथम भाग इत्यादि।

(२) हर एक भाग में परिवारों की संख्या ढूँढ़ निकालिये।

(३) प्रत्येक भाग से एक औसत परिवार को छांट निकालिये और इस प्रत्येक औसत परिवार की किसी वस्तु की मांग की सारिणी बना लीजिये।

(४) प्रत्येक भाग के औसत परिवार की मांग की सारिणी को उस भाग के कुल परिवारों की संख्या से गुणा करके प्रत्येक भाग की मांग की सारिणी प्राप्त कर लीजिये।

(५) सब भागों की मांग की सारिणी जोड़कर कुल समाज की मांग की सारिणी बना लीजिये।

मान लीजिये कि किसी एक काल्पनिक समाज में २६००० व्यक्ति है, जिनमें से अ हिस्से में १०००, ब हिस्से में ५००० और

स हिस्से में २०,००० व्यक्ति हैं तो कुल समाज के घी की मासिक माँग की सारिणी इस प्रकार होगी :—

कीमत प्रति सेर	समाज की मासिक मांग (सेरों में)			
	अ	ब	स	कुल
१०)	१,०००+	०+	०=	१०००
८)	२,०००+	५,०००+	०=	७,०००
६)	४,०००+	१०,०००+	२०,०००=	३४,०००
५)	६,०००+	१५,०००+	४०,०००=	६१,०००
४)	८,०००+	२५ ०००+	६०,०००=	९३,०००
३)	१०,०००+	३५,०००+	८०,०००=	१२५,०००
२)	१२,०००+	४०,०००+	१००,०००=	१५२,०००
१)	१५,०००+	५०,०००+	१२०,०००=	१८५,०००

कुल समुदाय की मांग की सारिणी का रेखाचित्र, प्रत्येक हिस्से के रेखाचित्रों को जोड़ कर बनाया जा सकता है, या वह जनसमुदाय की सारिणी के अङ्कों से भी उसी प्रकार बनाया जा सकता है जिस प्रकार एक मनुष्य की मांग की रेखा का चित्र बनाया जा चुका है।

मांग की प्रबलता और शिथिलता—जब हम किसी परिस्थिति के कारण उसी कीमत पर पहिले की अपेक्षा अधिक परिमाण में उस

वस्तु को खरीदते हैं या उससे अधिक कीमत पर उतनी ही या अधिक परिमाणों में उस वस्तु को खरीदते हैं तो हमारी मांग उस वस्तु के लिए बढ़ जाती है। इस प्रकार से मांग के बढ़ने को 'मांग की प्रबलता'* कहते हैं। लेकिन जब कीमत कम होने से मांग बढ़े तो उसे 'मांग का प्रसार'† कहते हैं। जब कोई वस्तु फैशन में आजाती है, या मनुष्य की आदत बदल जाने से किसी वस्तु की उपयोगिता बढ़ जाती है तो उस वस्तु की माग प्रबल हो जाती है। इसी प्रकार किसी मनुष्य की आमदनी बढ़ जाने से भी किसी वस्तु की मांग का परिमाण उसी कीमत पर बढ़ जाता है। इसको भी मांग की प्रबलता कहते हैं। किसी वस्तु की मांग की प्रबलता उस वस्तु की कीमत बढ़ने का एक कारण होता है। परन्तु मांग का प्रसार कीमत के कम होने का फल है।

इसी प्रकार से इसके विपरीत 'मांग की शिथिलता'‡ किसी वस्तु के फैशन के बाहर चले जाने से या मनुष्य की आदत बदलने पर किसी वस्तु की उपयोगिता घट जाने से या आमदनी में कमी हो जाने से होती है। ऐसी स्थिति में कोई मनुष्य उसी कीमत पर पहले की अपेक्षा कम खरीदता है या कीमत घट जाने पर भी उतने ही या उससे कम परिमाण में उस वस्तु को खरीदता है। इसमें मांग की घटी से यह

---

* Intensification of Demand

† Expansion of Demand

‡ Weakening of Demand

भिन्नता है कि मांग की घटी कीमत बढ़ने से होती है, लेकिन मांग की शिथिलता से कीमत में कमी होने की सम्भावना रहती है।

किसी मनुष्य की आमदनी कम हो जाने के कारण अथवा किसी वस्तु के फैशन से निकल जाने के कारण उसकी मांग शिथिल हो जाती है। वस्तु की मांग शिथिल हो जाने से उसका मूल्य कम हो जाता है और उसकी उत्पत्ति के परिमाण में भी कमी हो जाती है।

माँग की लोच—माँग के नियम से यह स्पष्ट है कि कीमत में परिवर्तन होने से किसी वस्तु की माँग में अन्तर हो जाता है। माँग के इस गुण को अर्थशास्त्र में 'माँग की लोच'* कहते हैं। जब कीमत में थोड़ा सा परिवर्तन होने से—कीमत के कुछ बढ़ने से या कुछ घटने से—किसी वस्तु की माँग में बहुत परिवर्त्तन हो जाता है, अर्थात् वह अधिक घट जाती है या बढ़ जाती है, तो उस वस्तु की माँग लोचदार† कही जाती है।

ज्यों ज्यों किसी वस्तु का संग्रह हमारे पास अधिक होता जाता है, त्यों त्यों—अगर और सब बातें पूर्ववत रहें—उपयोगिता-ह्रास नियम के अनुसार उस वस्तु की चाह कम होती जाती है। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनका अधिक संग्रह होने पर उनकी चाह धीरे धीरे कम हो जाती है। ऐसी अवस्था में अगर उस वस्तु की कीमत कुछ घट जाय तो उसकी माँग में बहुत कम वृद्धि होगी। इसके विपरीत अगर उस वस्तु

* Elasticity of Demand

† Elastic

की कीमत बढ़ जाय तो भी माँग मे कुछ अधिक क्षति न होगी। इस वस्तु के लिए हम कह सकते हैं कि इसकी माँग में लोच कम है। लेकिन अगर किसी वस्तु की चाह बड़ी तेजी से कम हो जावे तो उस वस्तु की कीमत थोड़ी सी घट जाने पर उसकी माँग बहुत बढ़ जावेगी; और कीमत के थोड़ा बढ़ जाने पर माँग भी बहुत कम हो जावेगी। ऐसी अवस्था मे हम कह सकते हैं कि उस वस्तु की माँग में लोच अधिक है।

जब कि कीमत मे कुछ अन्तर पड़ने से माँग में बहुत अन्तर—अधिक वृद्धि अथवा अधिक क्षति—हो जाता है तो माँग अधिक लोचदार कही जाती है। परन्तु जब कीमत में थोड़ा सा अन्तर होने पर माँग मे कम अन्तर—कम वृद्धि अथवा कम क्षति—होता है तो माँग कम लोचदार कही जाती है।

माँग की लोच कीमत के साथ साथ बदलती रहती है। साधारणतः किसी एक दर्जे के मनुष्यों के लिए किसी वस्तु की माँग की लोच ऊँची कीमत पर अधिक, मध्यम कीमत पर उससे कुछ कम होती है; और ज्यो ज्यो कीमत घटती जाती है और तृप्ति बढ़ती जाती है त्यों त्यो माँग की लोच कम होती जाती है, यहाँ तक कि एक ऐसा अवसर आ जाता है कि जब माँग में लोच बिलकुल नहीं रहती। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि प्रत्येक दर्जे के मनुष्यों के लिये ऊँची, मध्यम और कम कीमत अलग अलग होती है। दो रुपया सेर घी धनी मनुष्यों के लिए कम कीमतवाला, मध्यम श्रेणी के मनुष्य के लिए मध्यम कीमत वाला और निर्धन श्रेणी के मनुष्य के लिये ऊँची कीमत वाला हो

सकता है। इसलिए किसी वस्तु की ऊँची, मध्यम और कम कीमत किसी खास श्रेणी के मनुष्यों के सम्बन्ध में ही समझनी चाहिये।

भिन्न भिन्न वस्तुओं के लिए माँग की लोच भी भिन्न भिन्न होती है। हम ऊपर बतला चुके हैं कि भिन्न भिन्न श्रेणी के मनुष्यों के लिए एक ही वस्तु की माँग की लोच भिन्न भिन्न होती है। भिन्न भिन्न वस्तुओं की माँग की लोच भिन्न भिन्न श्रेणी के मनुष्यों के लिए जानने के लिए नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

पहिले हम विलासिता की उन वस्तुओं को लेते हैं जिनकी कीमत बहुत अधिक है—जैसे मोटरकार। अगर मोटरकार की कीमत ३०००) रु० से घट कर २५००) रु० हो जावे तो बहुत से धनी लोगों में उसकी माँग बढ़ जावेगी। इसलिए मोटर कार की माँग धनी लोगों में लोचदार हुई। लेकिन मध्यम श्रेणी के और निर्धन लोगों के लिए इसकी माँग बिला लोच की ही रही। क्योंकि कीमत घट जाने पर भी उनके लिए यह कीमत इतनी ऊँची है कि वे लोग मोटर नहीं खरीद सकते हैं।

अब विलासिता की उन वस्तुओं को लीजिए जिनकी कीमत बहुत अधिक नहीं है—जैसे घड़ी। अगर घड़ी की कीमत २०) रु० से घट कर १५) रु० हो जावे तो बहुत से मध्यम श्रेणी के लोगों की माँग घड़ियों के लिए बढ़ जावेगी। इसलिए घडियों की माँग मध्यम श्रेणी के मनुष्यों के लिए लोचदार कही जावेगी। लेकिन कीमत के कम होने से धनी लोगों की माँग कुछ ज्यादा न बढ़ जावेगी; क्योंकि वे लोग २०) रु० कीमत पर ही अपनी तृप्ति के योग्य घड़ियाँ खरीद चुके होंगे। इसी

प्रकार एक किसान के लिए कीमत कम होने पर भी घड़ियो की माँग बिला लोच की रहेगी, क्योंकि १५) रु० भी घड़ी के लिए उसके लिए ऊँची कीमत है।

इसी प्रकार से हम कह सकते हैं कि विलासिता की वे वस्तुएँ जिनकी कीमत बहुत कम है, उनकी माँग की लोच बहुत धनी लोगों के लिए बहुत कम, मध्यम श्रेणी के लोगो के लिए उससे कुछ अधिक और निर्धन श्रेणी के लोगो के लिए बहुत अधिक होती है।

साधारणतः यह कहा जाता है कि जीवनरक्षक पदार्थों की माँग की लोच विलासिता की वस्तुओ की लोच से बहुत कम होती है। लेकिन जीवनरक्षक पदार्थों की माँग की लोच भी लोगो की सम्पन्नता पर निर्भर रहती है। अमेरिका, इगलेंड इत्यादि मुल्को में गरीब लोगों को भी जीवन रक्षक पदार्थ पर्याप्त परिमाण में मिल जाते हैं। इसलिए वहाँ इन वस्तुओं की कीमत मे अगर कुछ कमी हो भी गई तो गरीब लोग भी इन वस्तुओ का उपभोग पहिले से बहुत अधिक परिमाण में नही करते, इसलिए इन जीवनरक्षक पदार्थों की माँग की लोच इन मुल्कों में बहुत कम होती है। लेकिन भारतवर्ष ऐसे देश में जहाँ कि अधिकांश लोगो को दिन भर मे एक समय भी पेट भर भोजन नहीं मिलता है, जीवनरक्षक पदार्थों की भी माँग में लोच होती है। अगर इनकी कीमत कम हो जावे तो माँग कुछ अवश्य बढ़ जाती है।

जो वस्तुएँ जीवनरक्षा के लिए अनिवार्य नहीं हैं उनकी माँग साधारणतः लोचदार होती है, जैसे कि अच्छा वस्त्र, अच्छा मकान, उपन्यास इत्यादि।

जब किसी मनुष्य को किसी वस्तु के सेवन करने का अभ्यास हो जाता है तो उस वस्तु की माँग की लोच और वस्तुओं की माँग की लोच से कम हो जाती है। इसका कारण यह है कि वह वस्तु उसके आवश्यक पदार्थों में शामिल हो जाती है। और हम बतला चुके हैं कि जीवनरक्षक तथा आवश्यक पदार्थों की लोच और वस्तुओं की लोच से कम होती है। जिन लोगों को चाय का अभ्यास हो गया है, उन लोगों के लिए चाय एक आवश्यक पदार्थ हो गया है। अगर चाय की कीमत एक आना फी प्याले से पाँच पैसा फी प्याला हो जाय तो भी वे लोग एक प्याला सुबह और एक प्याला सायंकाल अवश्य ही पियेंगे।

लोच की माप—अगर कीमत में अन्तर पड़ जाने से किसी वस्तु के खरीदने में उतना ही द्रव्य खर्च किया जाता है जितना पहले किया जाता था तो उसकी मांग की लोच एक के बराबर मानी जाती है। जब कीमत के बढ़ जाने से किसी वस्तु पर किया गया कुल खर्च घट जाता है तो उस वस्तु की मांग की लोच इकाई से अधिक कही जाती है; और अगर कुल खर्च बढ़ जाता है तो लोच इकाई से कम कही जाती है।

अगले पृष्ठ पर दिये हुए कोष्ठक में किसी मनुष्य की घी की मासिक मांग और उस पर किया गया खर्च दिया जाता है।

कीमत प्रति सेर	मांग	कुल खर्च	मांग की लोच
॥)	१० सेर	५ रुपया	एक से कम
१)	६ ,,	६ ,,	
१॥)	४ ,,	६ ,,	एक
२)	२ ,,	४ ,,	एक से अधिक
३)	१ ,,	३ ,,	

इस कोष्ठक से यह मालूम होता है कि जब कीमत ॥) प्रति सेर से १) प्रति सेर हो जाती है तो उस पर खर्च ५ रुपये से ६ रुपये हो जाता है। तब मांग की लोच एक से कम रहती है और घी आवश्यक पदार्थ माना जाता है। जब घी की कीमत एक रुपया सेर से १॥) सेर तक बढ़ती है तो घी पर खर्च ६ रुपये ही रहता है, उसकी मांग की लोच एक के बराबर रहती है और घी आराम की वस्तु माना जाता है। जब घी की कीमत १॥) से बढ़ने लगती है तो कुल खर्च कम होने लगता है, उसके मांग की लोच एक से अधिक हो जाती है और घी विलासिता की चीज हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि वस्तु की माग की लोच ऊंची कीमत पर एक से अधिक, मध्यम कीमत पर एक और कम कीमत पर एक से कम रहती है। किसी मनुष्य के लिये ऊंची कीमत पर घी विलासिता की वस्तु, मध्यम कीमत पर आराम की वस्तु और कम कीमत पर आवश्यक वस्तु माना जाता है।

किसी वस्तु की मांग की रेखा से भी किसी कीमत पर मांग की लोच का अनुमान लगाया जा सकता है। नीचे के रेखाचित्र
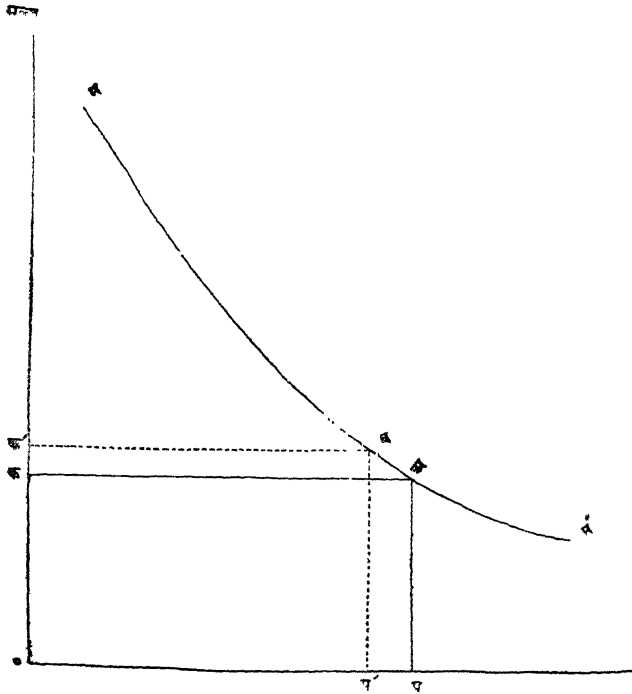
वस्तु का परिमाण

में म म' रेखा मांग की रेखा है। अब यदि हमको ०क कीमत पर मांग की लोच मालूम करना हो तो हमें यह जानना चाहिये कि कुछ अधिक कीमत पर उसकी मांग के परिमाण में कितनी कमी होगी। इसी चित्र

से मालूम होता है कि Oक' कीमत पर मांग का परिमाण Oप' हो जाता है। जब कीमत Oक रहती है तब इस वस्तु पर Oप अ क परिमाण में द्रव्य खर्च किया जाता है। जब कीमत Oक' तक बढ़ जाती है तो खर्च का परिमाण Oप' ब क' हो जाता है। यदि Oप' ब क' का परिमाण Oप अ क से कम हो तो इस वस्तु की माँग की लोच एक से अधिक, यदि बराबर हो तो मांग की लोच एक के बराबर और यदि अधिक हो तो मांग की लोच एक से कम समझी जावेगी।

मांग की लोच का महत्व—अर्थशास्त्र की दृष्टि से मांग की लोच का बड़ा महत्व है। इससे हमको यह पता लग जाता है कि कीमत के बदलने से भिन्न भिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न वस्तुओं का भिन्न भिन्न दर्जे के मनुष्यों की मांग पर कैसा असर पड़ता है। इस बात को जान लेने पर उत्पादकों को और सरकार को अपने अपने काम में बहुत सहायता मिलती है। उत्पादक लोग, खास कर एकाधिकारी* उत्पादक, यह तै कर सकते हैं कि किस कीमत पर बेचने से उनको सबसे अधिक लाभ होगा। अगर किसी वस्तु की मांग मे बहुत कम लोच हो तो एकाधिकारी उस वस्तु की मनमानी कीमत बढ़ा कर बहुत लाभ उठा सकता है। लेकिन अगर किसी वस्तु की माग बहुत लोच-दार हो तो एकाधिकारी को कीमत घटाने से ही सबसे अधिक मुनाफा होता है।

इसी प्रकार किसी देश की सरकार को भी भिन्न भिन्न वस्तुओं के मांग की लोच जानना जरूरी होता है। जब किसी वस्तु में आयात

---

* Monopolist

अथवा निर्यात कर लगाया जावे, अथवा देशी माल पर कर लगाया जावे तो सरकार को यह जानना चाहिए कि इस कर से उस वस्तु की कीमत में जो वृद्धि होगी उसका मांग पर क्या असर पड़ेगा। जिन वस्तुओं की मांग की लोच बहुत कम हो उन पर कर लगाने से सरकार को अधिक आमदनी होती है। और जिन वस्तुओं की मांग की लोच अधिक हो उन पर कर लगाने से कम आमदनी होती है। सरकार को यह बात भी ध्यान में रखने के योग्य है कि जिन आवश्यकीय वस्तुओं की मांग की लोच गरीब आदमियों को भी होती है उन पर कर लगाने से गरीब आदमियों को बहुत दिक्कत उठानी पड़ती है। भारतवर्ष में इसका उदाहरण नमक-कर है। इस कर के कारण यहां नमक की कीमत बढ़ गई है। इसका परिणाम यह होता है कि नमक ऐसी आवश्यक वस्तु की मांग भी इस मुल्क में कुछ लोचदार हो गई है। गरीब किसान अपने पशुओं को काफी परिमाण में नमक नहीं दे पाते हैं।

अभ्यास के प्रश्न

(१) मांग की लोच से आप क्या समझते हैं? कुछ पदार्थों की मांग की लोच दूसरे पदार्थों के मांग की लोच से क्यों अधिक होती है। भारतीय उदाहरणों द्वारा स्पष्ट समझाइए। (१६३७ और १६३४)।

(२) मांग के नियम के बारे में आप क्या जानते हैं? बताइए कि नीचे लिखे भावों पर एक अमीर, एक मध्यम श्रेणी का मनुष्य व

गरीब आदमी कितनी नारंगियां खरीदेंगे ? इस प्रकार प्रत्येक भाव पर खरीदी जाने वाली कुल नारंगियों का उपभोग करके पूर्ण मांग का रेखाचित्र खींचिए। (१६३३)

दाम फी दर्जन १६ आना। १३ आना। ६ आना। ७ आना। ५ आना।

(३) "लोचदार मांग" का आप क्या अर्थ लगाते हैं ? रेखाचित्र द्वारा लोचदार और बिना लोच की मांग को स्पष्ट कीजिए। (१६२६)।

(४) मूल्य और कीमत का भेद उदाहरण सहित समझाइए।

(५) निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखिएः—

मांग की सारिणी, मांग की प्रबलता, मांग की लोच का माप।

(६) किसी वस्तु के लिये समाज की मांग की सारिणी किस प्रकार तैयार की जा सकती है ?

नवाँ अध्याय

—:※:—

पारिवारिक आय-व्यय

किसी पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि आदमियों को अपनी आमदनी भिन्न भिन्न मद्दों में किस प्रकार खर्च करनी चाहिए, जिससे उन्हें अधिकतम लाभ हो। किसी परिवार की आमदनी और खर्च के भिन्न भिन्न मद्दों के विवरण को उसका पारिवारिक बजट* अथवा आय-व्यय पत्र कहते हैं। इससे यह मालूम हो जाता है कि उक्त परिवार की आमदनी कितनी है, उस परिवार में कितने प्राणी हैं, रहने के लिए कितने कमरे हैं, और यह भी मालूम होता है कि वह परिवार भिन्न भिन्न पदार्थों में कितना खर्च करता है। उससे यह भी मालूम होता है कि वह परिवार कुछ बचाता है या नहीं, अथवा ऋणग्रस्त है या नहीं। जो कम आमदनी वाला तथा अधिक प्राणियों वाला परिवार होगा, उसकी आमदनी का अधिकांश भाग जीवन-रक्षक पदार्थों में खर्च हो जावेगा। निपुणतादायक पदार्थों में तथा ऐशो-आराम की चीजों के लिए उसके पास द्रव्य न बचेगा। लेकिन आमदनी बढ़ने के साथ साथ जीवन-रक्षक पदार्थों में कम अनुपात में

* Family Budget

खर्च होगा और आराम और विलासिता की वस्तुओं में अधिक अनुपात में खर्च होने लगेगा। आगे भारतवर्ष के दो परिवारों के बजटों पर विवेचन किया गया है।

एक जर्मन लेखक डाक्टर एंजिल ने योरोपीय देशों के बहुत से पारवारिक बजटो को इकट्ठा करके विशेष ध्यानपूर्वक उनका अध्ययन किया है। उनके अध्ययन के अनुसार भिन्न दर्जे के परिवारों की आमदनी का औसत प्रतिशत खर्च भिन्न वस्तुओं पर नीचे लिखे अनुसार था।

पदार्थ	मज़दूर के परिवार का खर्च	मध्यम श्रेणी के परिवार का खर्च	सम्पन्न परिवार का खर्च
जीवन निर्वाह	६२ प्रतिशत	५५ प्रतिशत	५० प्रतिशत
वस्त्र	१६ ,,	१८ ,,	१८ ,,
मकान का किराया	१२ ,,	१२ ,,	१२ ,,
रोशनी और लकड़ी कोयला, इत्यादि	५ ,,	५ ,,	५ ,,
शिक्षा	२ ,,	३·५ ,,	५.५ ,,
टैक्स (कर)	१ ,,	२ ,,	३ ,,
स्वास्थ्य-रक्षा	१ ,,	२ ,,	३ ,,
अन्य	१ ,,	२·५ ,,	३·५ ,,
	१००	१००	१००

इस कोष्ठक से डाक्टर एञ्जील ने निम्नलिखित परिणाम निकाले हैं :—

(१) कम आमदनी वाले परिवार का अधिकांश भाग जीवन-निर्वाह में खर्च हो जाता है।

(२) वस्त्र पर प्रत्येक परिवार में प्रतिशत खर्च लगभग बराबर होता है। अर्थात् ५०) रु० आमदनीवाले का वस्त्र में करीब ४) रु० खर्च होता है तो १००) रु० आमदनी वाले का ८) रु०, १०००) रु० आमदनी वाले का करीब ८०) रु० खर्च होता है।

(३) इसी प्रकार किराये में, रोशनी और ईंधन में भी, प्रत्येक परिवार में प्रतिशत खर्च बराबर होता है।

(४) अधिक आमदनी वाले परिवार का शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा, परिचर्या इत्यादि में प्रतिशत खर्च बढ़ जाता है।

एक किसान के वार्षिक खर्च का बजट

सीतल किसान का पारिवारिक बजट

परिवार दो प्रौढ़ व्यक्ति, एक लड़का (उम्र दस साल) और एक लड़की (उम्र तीन साल)

खर्च का मद	रु०	आ०	पा०
१—भोजन			
(अ) अनाज			
गेहूँ	५	४	६
जौ	२६	४	—
बाजरा	१३	८	—
चना	३	—	—
चावल	१	१०	६
उर्द	१	—	—
मसूर	—	१०	—

खर्च का मद	रु०	आ०	पा०
(ब) फल व तरकारी *			
फल	—	१४	—
तरकारी	१	२	—
(स) दूध, घी			
दूध	३	—	—
घी	६	१०	—
(द) अन्य			
नमक	—	१४	६
मसाला	१	८	—
तेल	१	७	६
गुड़	—	१४	—
चीनी	—	४	३
कुल	६८	—	—
२—कपड़ा			
(अ) पोशाक			
२ रुई की फतोई	२	१०	—
२ मिर्जई	१	—	—
३ कुरता	२	१३	—
४ धोती	३	८	—
२ टोपी	—	५	—

*मौसम के फल व तरकारी खाई जाती थी।

खर्च का मद	रु०	आ०	पा०
(ख) अन्य			
१ रजाई	२	८	—
२ चद्दर	१	६	—
२ अंगोछा		६	—
कुल	१४	८	—
३—मकान			
मरम्मत		१२	—
छप्पर ठीक कराई	३	१४	—
कुल	४	१०	—
४—लकड़ी व रोशनी			
लकड़ी	४	ε	—
मिट्टी का तेल		१५	—
कुल	५	८	—
५—घर का सामान			
मिट्टी का बर्त्तन		८	—
पीतल की थाली	१	२	६
पीतल का गगरा	२	१४	६
कुल	४	ε	—
६—स्वास्थ्य*			
दवा	१	१२	६
सफाई		३	६
कुल	२	—	—

*यह खर्च लड़के के बहुत बीमार पड़ जाने पर हुआ था।

खर्च का मद	रु०	आ०	पा०
७—शिक्षा			
फीस	—	६	—
पुस्तक		५	६
स्लेट		६	—
स्लेट की पेन्सिल		२	६
कुल	१	७	—
८—मादक वस्तुएं			
तम्बाकू	५	१४	—
बीड़ी		२	—
कुल	६	—	—
९—सूद	२०	—	—
१०—फुटकर			
(अ) सामाजिक			
(ब) धार्मिक			
श्राद्ध	१	१५	३
कथा	१	—	९
(स) मनोरंजन	—	—	—
कुल	३	—	—

सीतल किसान के बजट का संक्षिप्त विवरण

खर्च का मद	रु०	आ०	पा०	%
१—भोजन	६८	—	—	५२·५
२—कपड़ा	१४	८	—	११ २
३—मकान	४	१०	—	३·६
४—लकड़ी व रोशनी	५	८	—	४·२
५—घर का सामान	४	६	—	३·५
६—स्वास्थ्य	२	—	—	१·५
७—शिक्षा	१	७	—	१·१
८—मादक वस्तुएँ	६	—	—	४·७
९—सूद	२०	—	—	१५·४
१०—फुटकर	३	—	—	२·३
कुल	१२९	१०	—	१००·०

रामकुमार पांडे क्लर्क का वार्षिक पारिवारिक बजट

परिवार मे दो प्रौढ़ व्यति, और दो लड़के (उम्र ११ साल व ४ साल)

खर्च का मद	रु०	आ०	पा०
१—भोजन			
(अ) अनाज			
गेहूँ	३७	५	—
चना	२	—	—

खर्च का मद	रु०	आ०	पा०
चावल	६	—	—
उर्द	१	४	—
मूंग	—	१२	—
अरहर	२	—	—
मसूर	—	४	—
(ब) फल व तरकारी*			
फल	१०	८	—
तरकारी	२१	८	—
(स) दूध दही घी			
दूध	७५	८	—
दही	१	१२	—
घी	५४	—	—
(ख) अन्य			
नमक	१	२	—
मसाला	३	६	—
तेल	२	१०	—
चीनी	५	८	—
गुड	—	८	—
बताशा	—	६	—
कुल	२२६	५	—

*मौसम की तरकारी व फल खाए जाते हैं।

खर्च का मद	रु०	आ०	पा०
२—कपड़ा			
(अ) पोशाक			
२ ऊनी कोट	२१	६	—
१ सूती कोट	४	१०	—
३ कमीज	२	१०	—
२ कुरता	१	६	—
२ रुई की फतोई	२	१२	—
२ जम्पर	—	१२	—
४ धोती	४	४	—
२ हाफपेन्ट	२	७	—
(ब) अन्य			
१ रजाई	३	८	—
२ चद्दर	२	८	—
२ तौलिया	१	८	—
१ जोड़ी जूता	३	३	—
१ छाता	१	१२	—
कुल	५२	१०	—
३—मकान			
किराया	८०	—	—
४—लकड़ी व रोशनी			
लकड़ी	१२	—	—
उपले	—	१२	—
मिट्टी का तेल	६	४	—
कुल	१६	—	—

खर्च का मद	रु०	आ०	पा०
५—घर का सामान			
१ कलछी (लोहा)	—	३	—
१ बालटी (पीतल)	४	८	—
१ गिलास (कलई का)	—	८	—
कुल	५	३	—
६—स्वास्थ्य			
डाक्टर की फीस	८	—	—
दवा	२८	६	—
सफाई	—	१४	—
कुल	३७	४	—
७—शिक्षा			
फीस (स्कूल)	३०	१२	—
फीस (ट्यूटर)	—	—	—
पुस्तक	११	६	—
कापियां	३	४	—
पेन्सिल, स्याही आदि	—	७	३
कुल	४५	१३	३
८—मादक वस्तुएं :—			
सिगरेट	३०	—	—
बीड़ी	—	७	—
चाय	९	५	—
कुल	३९	१२	—
९—सूद			
पुराने कर्ज पर	३६	—	—
नए कर्ज पर	९	—	—
कुल	४५	—	—

खर्च का मद	रु०	आ०	पा०
१०—फुटकर			
(अ) सामाजिक			
मुंडन *	२१	५	
(ब) धार्मिक			
श्राद्ध	६	९	—
कथा	४	१४	—
दान	२	२	—
(स) कानूनी			
साइकिल टैक्स	३	—	—
(द) मनोरंजन			
पान तम्बाकू	६	२	३
मिठाई	३५	६	—
सिनेमा	६	४	—
(फ) अन्य			
नाऊ	३	२	—
धोबी	१८	३	—
मेहतर	३	—	—
नौकर	७२	—	—
चिट्ठी	५	३	६
साबुन आदि	७	१२	—
अन्य	१२	—	६
कुल	२०६	१४	९

*बहुत दिनों बाद ऐसा अवसर आने के कारण दावत दी गई थी।

रामकुमार पांडे क्लर्क के बजट का संक्षिप्त विवरण

खर्च का मद	रु०	आ०	पा०	%
१—भोजन	२२६	५	—	३०.०
२—कपड़ा	५२	१०	—	७.०
३—मकान	८०	—	—	१०.६
४—लकड़ी व रोशनी	१६	—	—	२ ५
५—घर का सामान	५	३	—	०.८
६—स्वास्थ्य	३७	४	—	४.६
७—शिक्षा	४५	१३	३	६.१
८—मादक वस्तुएँ	३६	८	—	५.२
९—सूद	४५	—	—	६.०
१०—फुटकर	२०६	१४	६	२७.२
कुल	७२७	६	—	१००.०

नीचे उपरोक्त दोनों बजट के खर्च दिखाए जाते हैं।

खर्च का मद	किसान का खर्च प्रतिशत भाग	क्लर्क का खर्च प्रतिशत भाग
१—भोजन	५२.५	३०.०
२—कपड़ा	११.२	७.०
३—मकान	३.६	१० ६
४—लकड़ी व रोशनी	४.२	२.५
५—घर का सामान	३.५	०.८
६—स्वास्थ्य	१.५	४.६
७—शिक्षा	१.१	६.१
८—मादक वस्तुएं	४.७	५.२
९—सूद	१५.४	६.०
१०—फुटकर	२.३	२७.२
	१००.०	१००.०

किसान और क्लर्क के वार्षिक प्रतिशत पारिवारिक खर्च की तुलना
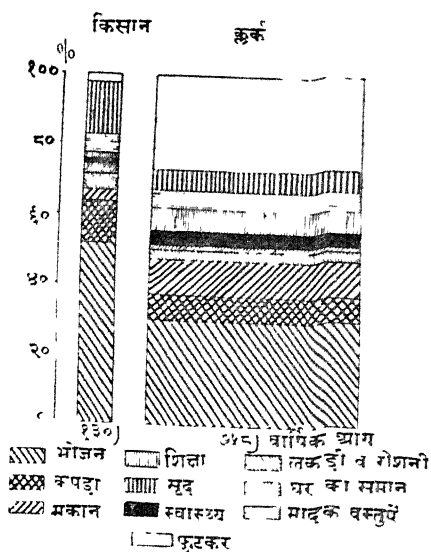
ये दोनों बजट चित्र द्वारा भी दिखाए गए हैं। इनके देखने से स्पष्ट है कि किसान और क्लर्क की आमदनी बहुत अच्छे ढंग से खर्च नहीं की जारही है। किसान तो तम्बाकू आदि मादक वस्तुओं के लिए बदनाम है ही। क्लर्क साहब उससे भी बढ़ गए। किसान अपनी अधिकतर आय भोजन पर खर्च करता है। शहर के बाबू जितना प्रतिशत भाग भोजन पर खर्च करते हैं उतना ही फुटकर में व्यय कर डालते हैं। यह ठीक है कि बाबू साहब शिक्षा, स्वास्थ्य और मकान पर अधिक व्यय करते हैं, परन्तु ६५) माहवार पाते हुए भी वे ऋणग्रस्त रहते हैं। दोनों व्यक्तियों के बजट देखते हुए यही कहना पड़ता है कि क्लर्क साहब से तो बेचारा किसान ही कुछ अच्छे ढंग से वस्तुओं का उपभोग करता है। परन्तु सुधार की दोनों बजटों में काफी गुंजाइश है।

भारतवासियों का रहन-सहन—पारिवारिक आय व्यय से लोगों के रहन-सहन के दर्जे* का पता लगता है। किसी देश के निवासियों के रहन सहन का विचार करने के लिए हमें वहाँ के निवासियों को उनकी आमदनी के अनुसार भिन्न भिन्न दर्जों में रखकर, प्रत्येक दर्जे का अलग अलग विवेचन करना चाहिए। किसी एक दर्जे के लोगों के रहन-सहन से सारे देश के निवासियों के रहन-सहन के बारे में अनुमान नहीं किया जा सकता। भारतवर्ष में पारिवारिक आयव्यय के सम्बन्ध में कुछ जाँच हुई है, परन्तु वह इतनी नहीं हुई कि उससे सम्पूर्ण देश के विषय में कुछ ब्यौरेवार परिणाम निकाले जा सकें। वर्तमान

* Standard of Living

परिस्थिति में हमें अप्रत्यक्ष आधारों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। निम्न-लिखित कारणों से मालूम होता है कि यहाँ बहुत नीचे दर्जे के रहन-सहन वालों की संख्या बहुत अधिक है। संभवतः वह तीन-चौथाई से भी अधिक होगी—

(१) आमदनी का बहुत कम होना। यह पहले कहा जा चुका है कि यहाँ के निवासियों की दैनिक औसत आय भिन्न-भिन्न लेखकों के अनुसार छः पैसे से तेरह पैसे तक है। यह औसत आय है, अर्थात् इसमें राजा-महाराजा, सेठ साहूकारों, पूँजीपतियों तथा उच्च-वेतन-भोगी सरकारी या गैर-सरकारी पदाधिकारियों की आय भी सम्मिलित है; इसका आशय यह है कि अनेक व्यक्तियों की आय उपर्युक्त औसत आय से भी बहुत कम है। जो पुरुष ऐसी निर्धनता का जीवन व्यतीत करते हैं, उनका रहन-सहन नीचे दर्जे का होना स्वाभाविक ही है।

(२) हम पहले बता आए हैं कि यहाँ अन्न-वस्त्रादि आवश्यक पदार्थों के उपभोग की मात्रा बहुत कम रहती है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि यहाँ अधिकांश भारतवासियों का रहन-सहन नीचे दर्जे का है।

(३) यहाँ मृत्यु-संख्या का औसत फी-हजार २५ है, और औसत आयु केवल २३.२ वर्ष। इससे भी अधिकांश जनता का रहन-सहन नीचे दर्जे का साबित होता है।

सरकारी अधिकारी यह प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं कि यहाँ के निवासियों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता जा रहा है। वे यहाँ के

आराम और विलासिता के सामान की आयात के तुलनात्मक अंक उपस्थित करते हैं, और कहते हैं कि सूती, रेशमी और ऊनी वस्त्र, भाँति-भाँति के खिलौने आदि विसातखाने का सामान, साबुन, और औषधियों आदि की आयात का क्रमशः वृद्धि होने से यह स्पष्ट है कि यहाँ इनका उपभोग अधिक हो रहा है। इसके अतिरिक्त अब बहुत से देहातवाले कच्चे और छप्पर के मकानों को छोड़कर पक्के मकान बनवा रहे हैं। किसानों के लड़के अँगरेजी ढङ्ग की कमीज, कोट तथा जूते पहनने और छतरी लगाने लगे हैं। कितने ही मामूली नौकर या श्रम-जीवी भी विशेष अवसरों पर सोडा-वाटर या बर्फ का पानी पीते हैं। चाय और सिगरेट का प्रचार बढ़ता जा रहा है। ऐसी ही बातों से वे रहन-सहन के दर्जे का ऊँचा होना सिद्ध करते हैं।

इसके विपरीत, इस देश के निवासी भुक्त-भोगी सज्जनों का मत कुछ और ही है। ये सरकारी मत का खंडन करते हुए कहते हैं कि उपर्युक्त आधार पर भी, यह कहना तर्क-संगत नहीं है कि इस समय यहाँ की जनता के सुख की वृद्धि हो रही है। सुविधा, ऐशो-आराम तथा भोग-विलास के पदार्थों के सेवन की ओर झुकना मनुष्य-मात्र की प्रकृति है। इसलिए हमारे दरिद्र बन्धु भी कभी-कभी उनमें पैसा लगा देते हैं। यदि ये पदार्थ न होते, तो संभव था कि यह पैसा उन भाइयों के जीवन रक्षक पदार्थों में व्यय होता। हम बहुधा देखते हैं कि मजदूरों या भिखारियों के लड़के बाजारों में, मुँह में सिगरेट दबाए या बालों में तेल लगाए, घूमते हैं। इससे यह अनुमान करना सरासर भूल है कि उनके रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता जा रहा है। इसी प्रकार, यदि

कुछ मनचले रईसों, नवाबों या राजकुमारों की आवश्यकता के लिए, विदेशी जहाज़, कुछ टीम-टाम या शान-शौकत का सामान लाकर, यहाँ के आयात को बढ़ाते हैं, तो इससे भी जन-साधारण को अधिक सुखी होने का सर्टीफ़िकेट नहीं दिया जा सकता।

सभ्यता की वृद्धि से मनुष्यों की आवश्यकताओं की संख्या धीरे-धीरे बढ़ा करती है। इस बात का अनुभव सभी देशों में—भारत में भी—हो रहा है। बहुधा शक्ति-संपन्न या फैशन-पसंद आदमी अपने बच्चों के लिए विलायती ढंग के कपड़े सिलवाते, उन्हें बूट जूते पहनाते और विदेशी खिलौने लाकर देते हैं। यहाँ तक कि यदि हो सकता है, तो वे उनके लिए 'ट्राइसिकल' अथवा हाथ से चलनेवाली छोटी बग्घी खरीद देते हैं। इन बच्चों में से बहुत से, बड़े होकर, फ़ैशन में कुछ और आगे क़दम बढ़ाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक अगली पीढ़ी में रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता जाता है, या यों कहिए कि दिखावटी सुख बढ़ता जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि देश की आंतरिक शांति और पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग से यहाँ कुछ लोगों के धन में कुछ वृद्धि अवश्य हुई है, तथा अन्य धनी देशों के रहन-सहन का ज्ञान हो जाने के कारण जनता के हृदय में नवीन विचारों का समावेश हो रहा है। लूट मार का भय हट जाने से अमीर लोगों को अब अपनी अमीरी प्रकट करने का अवसर मिल गया है। इससे भी देश में सुख कुछ बढ़ता नजर आ रहा है। तथापि, वास्तविक बात यह है कि यहाँ की जनता को न तो पहले के समान भर-पेट और पुष्टिकर भोजन मिलता है, और

न काफ़ी कपड़े ही। अतएव उनका रहन-सहन गिर रहा है, यह स्पष्ट है।

रहन-सहन के दर्जे के ऊँचे होने की आवश्यकता—अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि भारत में लोगों के रहन सहन के दर्जे के ऊँचे होने की कहाँ तक आवश्यकता है। पहले यह समझ लेना चाहिए कि हमारे इस कथन का अभिप्राय क्या है। रहन-सहन के दर्जे के ऊँचे होने से आशय यह नहीं है कि देश के आदमियों में विलास-वस्तुओं के उपभोग की वृद्धि हो, और यह भी नहीं है कि आराम देनेवाले अथवा कृत्रिम आवश्यकताओं के पदार्थों का उपभोग बहुत अधिक बढ़ जाय। उपर्युक्त कथन से हमारा अभिप्राय यही है कि पहले जीवन-रक्षक आवश्यकताओं की पूर्ति हो, फिर निपुणता-दायक पदार्थों का अधिक उपभोग हो। इसके पश्चात् कुछ थोड़े से आराम के पदार्थों का उपभोग हो सकता है।

दस-बीस फ़ी-सदी आदमियों के रहन सहन के दर्जे के ऊँचे होने से ही किसी देश के रहन-सहन का दर्जा उन्नत नहीं कहा जा सकता। देश के सब आदमियों का जीवन सुखमय होना चाहिए—ऐसे आदमी बिलकुल न रहें, जो अपने जीवन-रक्षक पदार्थों के लिए ही शोकातुर हों। तभी, यथार्थ में देश के रहन सहन के दर्जे का ऊँचा होना, माना जा सकता है।

रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करने के साधन—रहन-सहन ऊँचा करने के मुख्य चार साधन हैं—(१) इन्द्रिय-निग्रह, (२) शिक्षा, (३) यात्रा तथा अनुकरण, और (४) स्थानांतर-गमन।

इन्द्रिय-निग्रह जितना अधिक होता है, उतनी ही जन-संख्या कि वृद्धि भी कम होती है, और परिवार में जन संख्या कम होने से उपभोग के लिए पदार्थ अधिक मात्रा में मिलते हैं। भारतीय जन-संख्या की समस्या के सम्बन्ध में प्रसंगानुसार लिखा जायगा।

यथेष्ट शिक्षा की प्राप्ति से मनुष्य अधिक निपुण होता है, और उसकी आय बढ़ती है, इससे उसके रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होना स्वाभाविक है।* शिक्षित आदमी दूरदर्शी अधिक होते हैं; उनमें संतान-वृद्धि कम होती है। शिक्षा-प्रचार के सम्बन्ध में प्रसंगानुसार लिखा गया है।

यात्रा से मनुष्य बाहर का अनुभव प्राप्त करते हैं और अच्छी चीजों का उपभोग करने लगते हैं। मनुष्य में दूसरों की नकल करने की बहुत प्रवृत्ति होती है, हम बहुधा अपने निकट-वर्ती व्यक्तियों के रहन-सहन को देखकर उनका अनुकरण करने लगते हैं; इससे धीरे-धीरे रहन सहन का दर्जा ऊँचा होता जाता है। भारत में यद्यपि रेलों तथा सड़कों की वृद्धि से यात्रा में पहले की अपेक्षा सुविधा हो गई है, तथापि और भी अधिक की जाने की गुंजाइश है। इस सुविधा से यथेष्ट लाभ उठाया जाना चाहिए।

---

* आय में वृद्धि हुए बिना भी रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो सकता है। शिक्षित तथा समझदार व्यक्ति उपयोगी चीजों का और ऐसी विधि से कैसे उपभोग करता है, जो अधिक निपुणता-दायक तथा आराम देने वाली हो; यह पहले बताया जा चुका है।

स्थानान्तर-गमन* का रहन-सहन के दर्जे पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि किसी जगह एक पेशे के आदमी अधिक हो, और उनकी आय कम हो, तो कुछ आदमियो के वहाँ से बाहर, दूसरे उपयुक्त देश में, जाकर बसने से उनकी आय बढ़ेगी, एव उनके रहन-सहन का दर्जा भी ऊँचा हो जायगा।

अभ्यास के प्रश्न

(१) पारिवारिक बजट किसे कहते हैं? (अ) गृहस्थ (ब) अर्थशास्त्र के विद्यार्थी और (स) समाज सुधारक उनसे क्या लाभ उठा सकते हैं? (१६३८ और १६२६)

(२) गांव के एक किसान की सालाना आमदनी छै सौ रुपया है। शहर का एक क्लर्क भी इतना ही पाता है। निम्नलिखित मदों पर होनेवाले दोनों के व्यय की तुलना कीजिए:—

खानपान, घर, लकडी और रोशनी, पढाई, स्वास्थ्य और सफाई, व्यक्तिगत सेवा, मुकदमा, धार्मिक तथा सामाजिक उत्सव, घरेलू फर्नीचर, मनोरंजन, देशाटन व चिट्ठी और बचत। ग्राफपेपर पर रेखाचित्र खींचकर उत्तर स्पष्ट कीजिए। (१६३६)

(३) पारिवारिक बजट क्या होते हैं? अंदाज से एक भारतीय कारीगर के परिवार का मासिक बजट तैयार कीजिए। मदों को बड़े मदों के मध्य विभाजित कीजिए और इसे चित्र द्वारा स्पष्ट कीजिए। (१६३४)

---

* Migration

(४) नीचे एक कारीगर के व्यय दिए जाते हैं—

आटा ≡) रोज। पान)। रोज। लकड़ी २) महीना। तेल और घी २) महीना। चावल)॥ रोज। जूते की जोड़ी १॥) साल। तम्बाकू ≡) सप्ताह। किराया मकान ३) महीना। मिठाई ॥) महीना। तरकारी)॥ रोज। म्युनिस्पल टैक्स १॥।=) छमाही। मेहतर ।) महीना। सिनेमा ।=) महीना। चारपाई १=) साल। मिट्टी का तेल =) सप्ताह। धोती २।) साल। नमक =) महीना। अन्य कपड़े ३॥।) साल। ताड़ी २) महीना। धार्मिक व सामाजिक खर्च ६) साल। कर्ज की अदायगी २) महीना।

हरेक मद का माहवारी खर्च निकालिए। उन्हें बड़े मदों के अन्तर्गत विभाजित करके उन्हें रेखाचित्र द्वारा प्रदर्शित कीजिए। (एक महीने में ३० दिन या चार सप्ताह होते हैं) (१९३२)

(५) अब गरीब लोग भी रेशम के कपड़े पहनते हैं, तेल लगाते हैं इत्यादि। अतएव स्पष्ट है कि भारत में रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो रहा है। उक्त कथन की विवेचना कीजिए।

(६) "हिन्दुस्तानियों का रहन सहन बहुत निम्न ढङ्ग का है।" आपकी इस संबंध में क्या राय है? रहन सहन का दर्जा किस प्रकार बढ़ाया जा सकता है?

दसवाँ अध्याय

—:०:—

उपभोग में सामाजिक दृष्टि

पिछले अध्यायों में उपभोग सम्बन्धी विविध विषयों पर विचार किया गया। हमे स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसे अपने अन्यान्य कार्यों में, उपभोग में भी, सामाजिक दृष्टि रखनी चाहिए, अर्थात् उसे भिन्न भिन्न पदार्थों पर खर्च इस प्रकार करना चाहिए कि उससे समाज का किसी प्रकार अहित न हो, वरन् समाज को लाभ ही पहुँचे। बहुत से आदमी अपव्यय अथवा दान धर्म आदि करते हुए इस बात को भूल जाते हैं। अतः इस अध्याय में इन बातों की ओर ध्यान कुछ विशेष रूप से दिलाया जाता है।

विलासिता के पदार्थों पर होने वाला व्यय—पहले बताया जा चुका है कि जीवन रक्षक पदार्थ और निपुणता दायक पदार्थ सब लोगों को सेवन करने चाहिएं। इन पर किया गया खर्च न्याययुक्त है। यह भी कहा जा सकता है कि आराम की चीज़ो पर किया गया खर्च भी असंगत नहीं है; क्योंकि इससे भी कार्यकुशलता बढ़ती है। लेकिन ऐशोआराम और विलासिता की वस्तुओं पर तथा मादक वस्तुओं पर किया गया खर्च बहुधा फ़िज़ूलखर्ची में समझा जाता है।

यह कहा जा सकता है कि विलासिता की वस्तुओं पर खर्च करने से उन वस्तुओं की मांग बढ़ती है, और इससे बहुत से लोगों की बेकारी दूर होती है और उनको रोजी भी मिलती है। उदाहरण के लिए आतिशबाज़ी को लीजिये। ब्याह, शादी इत्यादि उत्सव के समय में इस वस्तु का बहुत प्रयोग किया जाता है। इनका उपभोग करने वाले लोग कहते हैं—हमने अपने इस विलासिता की वस्तु के उपभोग से बहुत से मज़दूर लोगों को काम दिया है, उनको मज़दूरी देकर भूखों मरने से बचाया है, हमने देश का उपकार किया है, इसलिए हमारा यह खर्च फ़िज़ूलखर्ची में शामिल नहीं किया जाना चाहिये। अगर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इन लोगों के तर्क की असंगतता मालूम पड़ जाती है। माना कि आतिशबाजी के पदार्थों को पैदा करने से चन्द मनुष्यों को रोजी मिली। लेकिन उस आतिशबाजी से नुकसान कितना हुआ, यह उन लोगों ने नहीं विचारा। पहले तो आतिशबाज़ी से क्षणिक आनन्द होता है। कहां उतना खर्च और कहाँ क्षणिक आनन्द! इस आनन्द से भी उपभोक्ताओं की कोई कार्यकुशलता नहीं बढ़ती है। इस बात की आशङ्का रहती है कि कहीं किसी मकान इत्यादि में आग न लग जावे। इसके अलावा इस आतशबाज़ी की वस्तुओं को बनाने में देश का इतना द्रव्य, श्रम और पदार्थ, अन्य इससे अधिक उपयोगी वस्तुओं को बनाने के बदले, आतशबाज़ी की वस्तुओं के बनाने में लग गया। इसलिये दूसरे उपयोगी उद्योग-धन्धों में पूँजी और मज़दूर कम मिलने से उन उपयोगी वस्तुओं की उत्पत्ति कम हो गई। अतः उन वस्तुओं की क़ीमत में वृद्धि

होने से सर्वसाधारण जनता को हानि उठानी पड़ी। यदि वह पूँजी और श्रम आतिशबाजियों के बदले किसी और उपयोगी वस्तु को बनाने में लगाया जाता तो न केवल कुछ लोगों को काम ही मिलता परन्तु वह वस्तु सस्ती हो जाती और जनता को बहुत अधिक लाभ होता। इसलिए हम कह सकते हैं कि आतिशबाजी विलासिता की वस्तु है और उस पर खर्च करना फ़िजूलखर्ची है। इसी प्रकार नाच, भोज, खेल तमाशे इत्यादि में भी बहुत सी फ़िजूलखर्ची शामिल है।

धनवान् लोग प्रायः कहते हैं—रुपया हमारा है, हम चाहे उसको कैसे ही खर्च करें, इसमें किसी का क्या बनता बिगड़ता है? यह बात वैयक्तिक दृष्टिकोण से ठीक मालूम होती है। लेकिन अगर समाज के दृष्टिकोण से भविष्य पर भी दृष्टि रखते हुए देखा जाय तो इन लोगों की भूल स्पष्ट हो जाती है। धनी, निर्धन सब समाज के व्यक्ति हैं; अगर समाज के किसी भी अङ्ग में दुःख या कष्ट हो तो अन्त में उससे सारे समाज पर असर पड़े बिना नहीं रह सकता। अगर सब धनवान् मनुष्य मनमाने तौर पर ऐश आराम और विलासिता के पदार्थों को ही खरीदें और उनके ही रोजगार और व्यवसाय को उत्साहित करें तो इसका नतीजा यह होगा कि जीवनरक्षक और निपुणता-दायक पदार्थों की पैदायश घटती जावेगी। इनकी कीमत बढ़ जाने से गरीब लोग और मध्यम श्रेणी के लोग इन वस्तुओं का उपयुक्त परिमाण में सेवन नहीं कर सकेंगे। अतएव उनका स्वास्थ्य, बल और उत्साह, और इसीलिए उनकी कार्यनिपुणता शिथिल होती जावेगी। इससे उत्पत्ति भी कम और बुरी होती जावेगी जिससे सारे समाज की हानि होगी।

अस्तु; धनी लोगों का विलासिता के पदार्थों पर अथवा मादक वस्तुओं पर किया गया खर्च निन्द्य है; परन्तु गरीब लोगों का इन पदार्थों पर किया गया खर्च और भी अधिक निन्द्य है। धनी लोग तो अपने जीवन-रक्षक और निपुणतादायक पदार्थों को प्राप्त करके भी विलासिता की वस्तुओं के लिये खर्च करने में समर्थ होते हैं; लेकिन गरीब लोग जब विलासिता की वस्तु खरीदते हैं तो बहुधा वे लोग अपने जीवन-रक्षक पदार्थों और निपुणतादायक पदार्थों में कमी करके इन वस्तुओ को खरीदते हैं। भारतवर्ष में मजदूरों और छोटे शिल्पकारों की दशा देखिये। वे लोग अपनी आमदनी का अधिकाश भाग कृत्रिम आवश्यकता की वस्तुएं—जैसे तम्बाकू, शराब, अफीम इत्यादि मादक वस्तुओं के सेवन में खर्च करते हैं। इससे उनके स्वास्थ्य की तथा कार्यकुशलता की हानि होती है जिससे उनकी आमदनी भी घटने की सम्भावना रहती है। घर में उनके स्त्री-बच्चों को पेट भर खाना प्राप्त नहीं होता है। कहां से बच्चों को घी, दूध, शिक्षा मिल सकती है जिससे वे भविष्य में तन्दुरुस्त और कार्य-कुशल बनें?

अविवेकता-मूलक दान-धर्म—हम हट्टे-कट्टे भिखारियो या बनावटी साधुओं को जो दान-पुण्य करते हैं, उससे ऐसे मनुष्यों को लाभ पहुँचता है, जो देशी व्यापार तथा उद्योग-धंधों की कुछ सहायता नहीं करते, और जिनका जीवन देश के लिए किसी प्रकार लाभकारी नहीं कहा जा सकता। यदि हम उन्हें मुफ्त में भोजन वस्त्र न दें, तो वे उदर-पालनार्थ कुछ उत्पादक कार्य अवश्य करें। हमारे दान आदि से वे आलसी और निरुद्यमी होते जाते हैं।

अनाथ बालकों, विधवाओं, रोगियों या अपाहिजों को यथा-शक्ति सहायता पहुँचाना मनुष्य-मात्र का कर्तव्य है। जो साधु-संन्यासी घूम-फिरकर देश में धर्मोपदेश का प्रचार करें, वे भी गृहस्थों की उदारता के पात्र हैं। परन्तु आलसी, निखट्टू आदमी, केवल गेरुए कपड़े पहन लेने से, दान-धर्म तथा प्रतिष्ठा के अधिकारी कदापि नहीं समझे जाने चाहिए। अच्छा हो, यदि भिन्न-भिन्न समाज इस बात के लिए लोक-मत तैयार करें, और ये लाखों भिखारी, अपनी आवारा ज़िंदगी छोड़कर, देश की सुख-समृद्धि के लिए जी-जान से परिश्रम करने लगें।

देवालयों और मंदिरों में भी व्यर्थ अपव्यय न होना चाहिए। मूर्ति पूजकों के लिए थोड़े-से व्यय से, एक साधारण स्थान में, प्रतिमा की प्रतिष्ठा हो सकती है; जहाँ प्रति दिन अनेक मनुष्यों का शुद्ध शांत हृदय से सहज सम्मेलन तथा ईश्वर-ध्यान हो। परंतु अनेक देवालयों में आवश्यकता से कई गुना अधिक रुपया लगा दिया गया है। बहुत-से नगर—विशेषतया काशी, मथुरा, वृंदावन, हरिद्वार जहाँ एक-एक दो-दो मंदिरों से काम चल सकता था; पर धनी लोगों ने अपने-अपने धर्म (?)-भाव की विज्ञप्ति करने के लिए अलग-अलग मंदिरों का निर्माण कर दिया। अब तो नए मंदिरो का बनना बंद हो जाना चाहिए। शिवालयों या देव-मंदिरों के साथ कुपढ़, अनाचारी, मुफ़्तख़ोरों को आश्रय न दिया जाय। भिन्न-भिन्न स्थानों के मठों ('अखाड़ों') की बे-काम पड़ी हुई, और निरंतर बढ़ती हुई संपत्ति के विषय में भी यही वक्तव्य है।

रीति-रस्म और अपव्यय—यद्यपि भारतीय जनता साधारणतः

बहुत सादगी-पसंद और निर्धन है, तथापि कुछ बातों में वह अपव्यय भी करती है; उदाहरणार्थ, शादी और ग़मी का ख़र्च, तथा आभूषण। हमारे बंधु बहुत-सी बातों में अपनी गाढ़ी कमाई का धन केवल इसलिए ख़र्च कर डालते हैं कि उसका रिवाज है। वे ख़र्च की उपयोगिता अथवा अपनी स्थिति का विचार नहीं करते। आज-कल समाज-सुधार का आंदोलन प्रायः प्रत्येक जाति में हो रहा है, परंतु कुछ पुराने विचारों के आदमी सुधारकों की बातें यथा-शक्ति चलने नहीं देते। तथापि शिक्षा और सभ्यता अपना प्रभाव डाल रही है, और कुछ सुधार हो रहा है। कहीं-कहीं भोजन इतना परोसा जाता है कि बहुत जूठन पड़ी रहती है। इस प्रकार भोज्य पदार्थ खराब होता है। यह सब अपव्यय बंद किए जाने की अत्यंत आवश्यकता है। धन को गाड़कर रखना भी एक प्रकार का अपव्यय है। अराजकता अथवा अज्ञान की दशा में ऐसा करना क्षम्य हो सकता है, परंतु शांति और सुविचार की स्थिति में तो ऐसा कदापि न किया जाना चाहिए, यह देश के लिए बहुत हानिकारक है।

मुक़दमेबाज़ी—भारतवर्ष में कृषकों तथा ज़मींदारों को प्रायः ज़मीन के, और व्यापारी तथा व्यवसाइयों को रुपए-संबंधी मुक़दमे बहुत ख़राब करते हैं। दत्तक या गोद के मामलों में भी बहुत मुक़दमेबाज़ी होती है। यहाँ केवल ब्रिटिश भारत में दीवानी मुक़दमों की औसत संख्या प्रति वर्ष २७ लाख होती है। इनमें बहुत रुपया नष्ट होता है। 'व्यय'-नामक पुस्तक में बनारस के एक लखी-चबूतरे का उदाहरण दिया गया है। उस चबूतरे के नामकरण का कारण यह है

कि उसके लिए दो आदमियों ने मुक़दमेबाज़ी करके अदालती काम में एक-एक लाख रुपए के लगभग खर्च कर डाला ! यह चबूतरा सिर्फ़ ५-६ गज़ लंबा और एक गज़ चौड़ा है, और किसी अच्छे मौके पर स्थित भी नहीं है। मुक़दमेबाज़ी में नष्ट होनेवाले अपार धन को राष्ट्रीय पंचायतों द्वारा बचाया जा सकता है। इनकी उन्नति और वृद्धि की बड़ी आवश्यकता है।

उपभोग का आदर्श—ऊपर अपव्यय के थोड़े से विषयों पर विचार किया गया है, अन्य बातों का विचार पाठक स्वयं कर लें। अधिकांश भारतवासियों की आर्थिक स्थिति खराब है, उस पर भी वे इतना अपव्यय करते हैं। यह बहुत चिन्तनीय है। इसे बन्द किया जाना चाहिए। लोगों में मितव्ययिता की आदत बढ़नी चाहिए। कृत्रिम तथा विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताओं का नियंत्रण करने से मनुष्यों के पास अपनी आय में से कुछ बचत हो सकती है, और उस बचत का उपभोग सेवा, परोपकार, और राष्ट्र-हित आदि में किया जा सकता है, जिसका उल्लेख पहले किया गया है। निदान, हमारी शक्ति, धन और जीवन पर-हित-साधन में लगे, और हम 'परोपकाराय सतां विभूतयः' के आदर्श को चरितार्थ करने वाले हों।

यह शंका की जा सकती है कि उपभोग का उद्देश्य तो उपभोक्ता के लिए सुख की प्राप्ति होता है। इस त्याग में, और अपनी आवश्यकताओं के नियत्रण में तो सुख न मिलेगा, वरन् दुःख का अनुभव करना पड़ेगा। परंतु यह शंका भ्रम-मूलक है। निस्संदेह जब आदमी की कृत्रिम या विलासिता की आवश्कताएँ पूरी करने की आदत पड़

जाती है, तो उसके नियन्त्रण में पहले-पहल कुछ कष्ट प्रतीत होता है, परन्तु जब वह इस प्रकार बचाए हुए धन से सेवा-परोपकार-संबंधी अपनी नई आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, तो उसे एक अद्भुत आनंद की प्राप्ति होती है, जो आनंद और सुख विलासिता के पदार्थों के उपभोग से मिलना कदापि संभव नहीं। भोग-विलास का सुख निम्न कोटि का, तथा क्षणिक है, हमें इसके पीछे दौड़कर अपने तथा देश के विकास में बाधक न होना चाहिए।

इस संबंध में भारतीय आदर्श का ध्यान रखना आवश्यक है। हमारे शास्त्रकारों ने जनता के लिए सर्वथा व्यावहारिक बातों का ही आदेश किया है। उन्होंने कल्पना-जगत् में विचरण करते हुए यह आदेश नहीं कर डाला कि सभी आवश्यकताओं को रोको, खाना-पीना बंद कर दो, और शरीर को सुखा डालो। न उन्होंने व्यक्तिगत सुख-वाद या स्वार्थ-वाद की ही पुष्टि की है, जिसका मूल मंत्र यह है कि खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ, अपने सुख से प्रयोजन है, दूसरों की चिंता न की जाय। समाज-हित का ध्यान रखता हुआ, हिन्दू धर्म कहता है कि तुम अपनी जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक वस्तुओं का उपभोग करो, खाने-पीने की मनाई नहीं है, पर इसमें मर्यादा का ध्यान रखो, विलासिता-प्रिय न बनो, इस उपभोग में त्याग-भाव रखो, दूसरों के हित की अवहेलना न करो, किसी दूसरे के हिस्से की वस्तु का उपभोग न कर डालो; समाज में सबको सुखी बनाने का प्रयत्न करते हुए तुम भी सुखी रहो। यही संक्षेप में उपभोग का आदर्श है। आशा है, पाठक इस पर भली-भाँति विचार करने तथा इसके अनुसार व्यवहार करने का प्रयत्न करेंगे।

अभ्यास के प्रश्न

(१) आर्थिक दृष्टि से दान धर्म की सर्वोत्तम प्रणाली कौन सी है ? भारत में इस प्रणाली के अनुसार दान कहां तक होता है ?

(२) भारतवासियों में प्रचलित खर्च के बुरे ढंगों का वर्णन कीजिए। आप की राय में खर्च कहां तक तथा किस ढंग पर रोके जाने चाहिएं।

(३) "विलासिता की वस्तुएं खरीद कर हम हज़ारों मज़दूरों को काम देते हैं। अतएव विलासिता की वस्तुओं को खरीदना ठीक है।" भारतवर्ष की दशा को दृष्टि में रखते हुए इस कथन की विवेचना कीजिए।

(४) किसी व्यक्ति के खर्च करने के ढंग का समाज के ऊपर क्या कोई असर पड़ता है ? क्या समाज को व्यक्तियों के व्यय करने की स्वतंत्रता में बाधा डालनी चाहिए ? (१६३७,१६३४)

(५) एक अमीर व्यक्ति अपने खर्च करने के ढंग से समाज के अन्य व्यक्तियों पर किस प्रकार भिन्न भिन्न असर डाल सकता है ? (१६३६)

(६) उपभोग का भारतीय आदर्श क्या है ?

तृतीय खंड

उत्पत्ति

ग्यारहवां अध्याय

—:o:—

उत्पत्ति और उसके साधन

पिछले खंड में उपभोग के सम्बन्ध में लिखा जा चुका है। अब इस खंड में उत्पत्ति के विषय में विचार किया जायगा। उत्पत्ति का अर्थशास्त्र में क्या अर्थ होता है, यह पहले बताया जा चुका है।

आवश्यकताओं और उत्पत्ति में सम्बन्ध—आवश्यकताओं और उत्पत्ति में कितना घनिष्ट सम्बन्ध है, यह तनिक विचार करने पर ही स्पष्ट हो जायगा। संसार में विविध प्रकार के उत्पादन कार्य क्यों किये जा रहे हैं? किसान अन्न क्यों पैदा करता है, जुलाहा कपड़ा क्यों बुनता है, दुकानदार पदार्थों का क्रय-विक्रय क्यों करता है, क्लर्क दफ़्तर में लिखा-पढ़ी क्यों करता है? ये सब व्यक्ति विविध कार्य इसीलिए तो करते हैं कि इन कार्यों द्वारा वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। कोई व्यक्ति तो ऐसे पदार्थ की उत्पत्ति करता है जिसका वह स्वयं उपभोग करेगा, और कोई व्यक्ति ऐसा पदार्थ उत्पन्न करता है, जिसे वह दूसरों को देकर बदले में उनसे अपनी आवश्यकता की वस्तु ले लेगा। अस्तु; प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति, उसके उपभोग किए जाने के लिए ही की

जाती है। इस विचार से हम यह कह सकते हैं कि उपभोग और उत्पत्ति का कारण और कार्य का सम्बन्ध है। मनुष्यों को विविध प्रकार के पदार्थों की आवश्यकता होती है। वे उन्हें उपभोग करना चाहते हैं। इसीलिए संसार में तरह-तरह के काम-धंधे दिखलाई पड़ते हैं। यदि हमारी आवश्यकताएँ कुछ भी न रहें, तो संभवतः बहुत-से कार्य बंद कर दिए जाएँ। साथ ही जो पुरुष यथेष्ट पदार्थ खाए-पिएगा ही नहीं, उसकी उत्पादन-शक्ति का ह्रास हो जायगा। इस प्रकार उपभोग अर्थात् आवश्यकताओं का उत्पत्ति से घनिष्ट सम्बन्ध है।

उत्पत्ति के भेद—पहले कहा जा चुका है कि अर्थशास्त्र में उत्पत्ति का अर्थ उपयोगिता-वृद्धि है। अब उत्पत्ति के सम्बन्ध में विशेष बातें जानने के लिए पहले उत्पत्ति के भेद जानना आवश्यक है। अतः यहाँ पर विचार किया जाता है कि वस्तुओं की उपयोगिता की वृद्धि किस-किस प्रकार होती है।

उपयोगिता-वृद्धि; रूप-परिवर्तन—कुछ दशाओं में किसी वस्तु के रूप में आवश्यक परिवर्तन करने से उसकी उपयोगिता बढ़ जाती है। उदाहरणवत् जब दर्जी कपड़े की काट-छाँट करके, किसी व्यक्ति के लिये कोट सी देता है, तो वह उस कपड़े को उस व्यक्ति के लिये पहले से अधिक उपयोगी बना देता है। इसी प्रकार बढ़ई लकड़ी चीर कर उसकी मेज़ कुर्सी बनाता है, कुम्हार मिट्टी से बर्तन और ईंटे आदि बनाता है, और सुनार सोना चांदी से आभूषण या बर्तन बनाता है, ये सब वस्तु का रूपान्तर करके उसे अधिक उपयोगी बनाते हैं।

रूप-परिवर्तन द्वारा उपयोगिता-वृद्धि करने से कच्चा माल पैदा होता है, तथा तैयार माल बनता है। कच्चा माल पैदा करने में खेती-बाड़ी और पशुपालन-सम्बन्धी व्यवसाय सम्मिलित हैं। खेती-बाड़ी में अन्नादि के उत्पादन का कार्य प्रकृति द्वारा होता रहता है, मनुष्य केवल बीज, खाद, पानी आदि की व्यवस्था करके प्रकृति के कार्य में सहायक होता है और उसकी गति को बढ़ाता है। वह थोड़े से बीज का रूपान्तर करके उस से बहुत सा अन्न आदि पैदा करता है। इससे उस बीज की उपयोगिता बढ़ जाती है, और उससे बहुत से आदमियों की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इसी प्रकार पशु-पालन में पशुओं की वृद्धि तो प्रकृति द्वारा होती है। मनुष्य उनके लिये आवश्यक भोजन आदि का प्रबन्ध करके तथा उनकी रक्षा करके प्रकृति के कार्य में सहायक होता है, और इस प्रकार पशुओं की, रूपान्तर द्वारा उपयोगिता-वृद्धि में भाग लेता है।

तैयार माल बनाने में मनुष्य कच्चे माल का इस प्रकार रूपान्तर करता है जिससे वह मनुष्यों के लिये अधिक उपयोगी हो जाय। उदाहरणवत् अन्न से रोटी, बिस्कुट और मिठाई बनायी जाती है, लकड़ी से मेज, कुर्सी, तख्त आदि सामान बनाया जाता है, और रुई से भाँति भाँति के वस्त्र बनाये जाते हैं। इस प्रकार विविध शिल्प और उद्योग-धंधे रूपान्तर द्वारा उपयोगिता-वृद्धि के उदाहरण हैं।

स्थान परिवर्तन—स्थान-परिवर्तन द्वारा उपयोगिता-वृद्धि करने में यातायात या बारबर्दारी द्वारा होने वाला कार्य सम्मिलित है। जिस जगह जो पदार्थ अधिक मात्रा मे हैं, वहाँ से जब उन्हें उन

स्थानों में ले जाया जाता है, जहाँ वे कम मात्रा में हैं, अथवा उनकी अधिक आवश्यकता है, तो उनकी उपयोगिता बढ़ जाती है। इसका सब से अच्छा उदाहरण खनिज पदार्थों को खान से निकाल कर या लकड़ियों को जंगल से काट कर बाजार में ले जाने का है। लोहे, कोयले, और भाँति भाँति के पत्थर आदि की अपनी खान के पास, तथा लकड़ियों की जंगल में, प्रायः बहुत कम उपयोगिता होती है। जब इन चीजो को वहाँ से गाड़ी, मोटर या रेल आदि द्वारा बाजार में ले जाया जाता है, तो इन का स्थान परिवर्तन होने से इनकी उपयोगिता बढ़ जाती है। अन्न, शाक, फलों को भी खेतों या बगीचों मे मडो में ले जाने से उनकी उपयोगिता बढ़ाई जाती है। यदि नागपुर के सन्तरे, कश्मीर के सेव और काबुल की मेवा को भिन्न भिन्न स्थानों में न पहूँचाया जाय तो ये पदार्थ इतने उपयोगी न बनें, और अपनी उत्पत्ति के स्थान में पड़े रहकर बहुत कुछ नष्ट हो जाया करे। मछली, मोती, शंख आदि नदियों और समुद्रों से निकाले जाकर दूर दूर के स्थानों में ले जाये जाते हैं तो इनकी भी उपयोगिता कितनी बढ़ जाती है। ये सब ऐसे उदाहरण हैं, जिनमें पदार्थों का रूप-परिवर्तन नहीं होता, वरन् स्थान-परिवर्तन मात्र से उनकी उपयोगिता वृद्धि हो जाती है।

जब धातु को खान से निकाल कर तथा उसे शुद्ध करके लाया जाता है, तो इसमें स्थान के साथ रूप में भी परिवर्तन होता है। इस दशा में उपयोगिता-वृद्धि के दो प्रकार एक साथ काम करते हुए मिलते हैं। इसी प्रकार यदि जंगल से लकड़ी काट कर और उसके तख्ते चीर

कर लाये जायँ तो उसमें भी स्थान एवं रूप दोनों के परिवर्तन से उपयोगिता-वृद्धि हुई, ऐसा कहा जायगा।

अधिकारी-परिवर्तन—कुछ दशाओं में ऐसा होता है कि पदार्थ का रूप या स्थान आदि नहीं बदलता, केवल उसका अधिकारी बदलने से ही उसकी उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है। इसमें सौदागरों, आढ़तियों और दलालों का कार्य सम्मिलित है। इनके द्वारा पदार्थ को उन व्यक्तियों से लिया जाकर, जिनके वास्ते उसकी उपयोगिता कम है, उन लोगों को दिया जाता है, जिनके लिये उसकी उपयोगिता अधिक है। उदाहरणार्थ एक आदमी के पास एक हज़ार मन अनाज भरा हुआ है। उसके लिये वह जितना उपयोगी है, साधारण गृहस्थों के लिये वह उसकी अपेक्षा कहीं अधिक उपयोगी है। इसलिये जो दुकानदार बड़े बड़े ज़मींदारों या व्यापारियों से अन्न खरीद कर उसे साधारण लोगों के पास पहुँचाते हैं, अन्न पर अधिकारियों का परिवर्तन कराते हैं, वे उसकी उपयोगिता-वृद्धि में सहायक होते हैं। इसलिये अर्थ-शास्त्र में इन्हें उत्पादक कहा जाता है।

समय परिवर्तन या संचय—कुछ पदार्थ ऐसे हैं कि वे किसी खास समय या ऋतु में ही अधिक होते हैं, और उनकी आवश्यकता भविष्य में होती है। यदि उन्हें सुरक्षित या संचित करके रखा जाय तो उनकी उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है। इस उपयोगिता-वृद्धि में व्यापार द्वारा होने वाला बहुत सा कार्य सम्मिलित है। गुड़, चावल, शराब आदि पदार्थ पुराने होने पर अधिक उपयोगी होते हैं, परन्तु यदि इन्हें उचित रीति से न रखा जाय तो ये खराब हो जायँगे। अतः

व्यापारी इस बात का प्रबन्ध करते हैं कि ये खराब न होने पायें, और भविष्य के लिये उस समय तक रखे रहें, जब इनकी आवश्यकता अधिक हो। प्रत्येक प्रकार का अन्न अपनी फसल के अवसर पर अधिक परिमाण में होने से उतना उपयोगी नहीं होता, जितना पीछे होता है। अतः व्यापारी उसे कोठों या खत्तियों में भर रखते हैं, और अगले फसल के आने तक उपयोग में लाते हैं।

अ-भौतिक उत्पत्ति—अब तक उपयोगिता-वृद्धि या उत्पत्ति के जो प्रकार बताये गये हैं, उनमें पदार्थों के रूप, स्थान, समय या अधिकारी में परिवर्तन होता है। ये परिवर्तन भौतिक हैं। अब उत्पत्ति के एक ऐसे प्रकार पर विचार करते हैं, जिसका भौतिक पदार्थों से कुछ सम्बन्ध नहीं होता। नाचने गाने वाले तथा तमाशा दिखाने वाले मदारी आदि दर्शकों और श्रोताओं को अपनी अपनी कला से आनन्दित करके उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। अतः आर्थिक दृष्टि से ये सब उत्पादक हैं। इसी प्रकार जज, मुन्सिफ, पुलिसमैन, सिपाही, डाक्टर, अध्यापक तथा घरेलू नौकर आदि यद्यपि भौतिक पदार्थों की उपयोगिता प्रत्यक्ष रूप से नहीं बढ़ाते, ये अपने अपने कार्य से उत्पत्ति में सहायक होते हैं—कोई लोगों का स्वास्थ्य बढ़ाता है, कोई शिक्षा, और कोई लोगों के जान माल की रक्षा करता है। इस तरह ये उनको अधिक उत्पत्ति करने योग्य बनाते हैं। इसलिये आर्थिक दृष्टि से ये भी उत्पादक हैं।

इससे विदित हुआ कि केवल किसान, कारीगर, माल ढोने वाले, व्यापारी, दलाल, आढ़तिये, खानों या जंगलों में काम करनेवाले,

मछली पकड़ने वाले, समुद्र से शंख मोती आदि निकालने वाले आदि ही उत्पादक नहीं है, वरन् मदारी, उपदेशक, अध्यापक, सैनिक आदि वे व्यक्ति भी उत्पादक हैं, जो ऐसा कोई कार्य करते हैं, जिसका कुछ आर्थिक मूल्य हो। संक्षेप में प्रत्येक व्यक्ति जो आर्थिक दृष्टि से धनोत्पत्ति में सहायक होता है, उत्पादक है, चाहे वह प्रत्यक्ष रूप से भौतिक पदार्थों की उपयोगिता बढ़ाये, अथवा चाहे वह अन्य प्रकार से श्रम करके लोगों का स्वास्थ्य, शिक्षा आदि बढ़ाकर, उनका मनोरंजन करके, या उनके जान माल की रक्षा में भाग लेकर उन्हें अधिक कार्य करने योग्य बनाये।

उत्पत्ति के साधन; भूमि, श्रम, और पूंजी—उत्पत्ति के भेदों का विचार करके, अब हम यह विचार करेंगे कि उत्पत्ति के साधन क्या क्या होते हैं। इसके लिए हमें उत्पत्ति के विविध उदाहरण लेकर उन पर क्रमशः विचार करना उचित होगा।

पहले स्थान परिवर्तन द्वारा होने वाली उपयोगिता-वृद्धि की बात लीजिये। एक लकड़हारा जंगल से लकड़ी संग्रह करके लाता है, जहाँ मनुष्यों के न रहने के कारण उसकी उपयोगिता बहुत कम है, वह उस लकड़ी को बस्ती में लाकर बेचता है, जहाँ उसकी उपयोगिता अधिक है। इसमें स्थान-परिवर्तन द्वारा उपयोगिता वृद्धि होती है। अब देखिये; इसमें किन साधनों का उपयोग होता है। एक साधन तो जंगल ही है, जो भूमि का भाग है, इसी में तो लकड़ी पैदा होती है। पुनः लकड़ी को जंगल से बस्ती में लाने में श्रम की आवश्यकता होती है। यदि लकड़-हारा श्रम न करे तो उसे लकड़ियों के दाम न मिलें, अर्थात् धनोत्पत्ति

न हो। इस प्रकार भूमि और श्रम की आवश्यकता हुई। फिर, सोचिये, यदि आरम्भ में लकड़हारा जहाँ तहाँ से लकड़ी चुन कर ही लाता है, तो भी अपने गट्ठे को बांध करके लाने के वास्ते रस्सी आदि चाहिये। फिर कुछ दिन बाद ही लकड़हारे को यह अनुभव हो जायगा कि जगह जगह से लकड़ी चुनकर लाने में बहुत समय लगता है, और काट कर लाने से समय की बचत हो सकती है। इस दशा में वह कुछ दिन तक अपनी रोज़ाना आमदनी में से थोड़ा थोड़ा बचाकर कुल्हाड़ी के लिये दाम जमा करेगा। इससे वह अधिक लकड़ी इकट्ठी कर सकेगा, और सम्भव है, उन्हें बेचने के लिये बस्ती में लाने के वास्ते उसे गधा या भैंसा रखने की आवश्यकता प्रतीत हो, और वह धीरे-धीरे उसे खरीदने का भी विचार करे। लकड़हारे की रस्सी, कुल्हाड़ी, गधा या भैंसा आदि से धनोत्पत्ति में सहायता मिलती है, यह ऊपर के विवेचन से विदित हो ही गया है। ये चीज़ें उसकी पूंजी है। इस प्रकार स्थान-परिवर्तन द्वारा होने वाली उपयोगिता-बृद्धि अर्थात् उत्पत्ति के लिये भूमि, श्रम, और पूंजी ये तीन साधन चाहिये।

अब हम रूप-परिवर्त्तन द्वारा होने वाली उपयोगिता-वृद्धि के साधनों का विचार करते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस रीति से कच्चा माल पैदा किया जाता है, तथा तैयार माल बनाया जाता है। कच्चा माल बहुधा खेती करने से मिलता है। संसार की प्रारम्भिक अवस्था में बहुत समय तक धनोत्पत्ति का प्रधान मार्ग यही होता है। भारतवर्ष में इस समय भी अधिकांश आदमी खेती द्वारा ही अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं। अच्छा, इसमें उपर्युक्त साधन किस प्रकार

काम आते हैं ? बिना भूमि के खेती नहीं हो सकती, और श्रमी या मनुष्य बिना, खेती करेगा ही कौन ? परन्तु, भूमि और मनुष्य होने से भी तो खेती नहीं हो सकेगी, उसके लिये बीज, हल, बैल तथा खाद आदि की भी आवश्यकता होगी, ये चीज़ें मनुष्य का धन हैं, परन्तु अब अधिक धन उत्पन्न करने के हेतु काम में आने के कारण वे ही चीज़ें उसकी पूंजी कही जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि खेती अर्थात् कच्चे पदार्थ पैदा करने के लिये भूमि, श्रम, और पूंजी की आवश्यकता है।

अब हम तैयार माल बनाने के एक उदाहरण पर विचार करते हैं। दर्ज़ी के काम की चर्चा पहले की जा चुकी है। वह कपड़े की काट-छाँट करके कोट सीता है। इसमें उसे सीने के लिये बैठने का स्थान (दुकान या मकान) चाहिये; यह भूमि है। उस पर बैठकर वह सिलाई का कार्य करता है, इसमें उसे श्रम करना होता है। फिर उसे कपड़ा; सूई, डोरा आदि भी चाहिए, तभी तो वह कोट तैयार कर सकेगा। ये चीज़ें उसने पहले कमाये हुए धन में बचत करके जुटाई हैं, ये उसकी पूंजी हैं। इसी प्रकार लुहार, बढ़ई, जुलाहे आदि के कार्य पर विचार किया जा सकता है। निदान, तैयार माल बनाने में भी, कच्चा माल बनाने की तरह, भूमि श्रम और पूंजी इन तीन साधनों की आवश्यकता होती है।

अब तक हमने जिन उदाहरणों पर विचार किया, वे सब भौतिक उत्पत्ति के हैं। अब तनिक अ-भौतिक उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करें; अर्थात् यह देखें कि जिन कार्यों में किसी पदार्थ की उपयोगिता-वृद्धि न होकर भी धनोत्पत्ति होती है, उनमें उपर्युक्त साधनों का उपयोग

किस प्रकार होता है। अध्यापक, डाक्टर, जज, मुन्सिफ, सिपाही आदि अ-भौतिक उत्पत्ति करते हैं, यह पहले लिखा जा चुका है। इनमें से अध्यापक के कार्य पर विचार करें। उसे अपने कार्य के लिये स्थान तो चाहिये ही, वह स्थान चाहे पाठशाला की इमारत के रूप में हो, या बिल्कुल खुला हो। इस प्रकार भूमि आवश्यक हुई। फिर अध्यापक को विद्यार्थी पढ़ाने के कार्य में श्रम करना होता है, यह स्पष्ट ही है। अध्यापक को पहले शिक्षा प्राप्त करने में धन खर्च करना पड़ा है, तभी तो वह इस योग्य हुआ है, कि दूसरों को पढ़ा सकता है। उस खर्च किये हुए धन से ही वह अधिक धन पैदा करने में समर्थ है, ऐसे धन को पूंजी कहते हैं। इस प्रकार अध्यापन कार्य द्वारा धनोत्पत्ति करने के लिये भी भूमि, श्रम, और पूंजी ये तीन साधन चाहिये। इसी तरह डाक्टर, जज, मुन्सिफ, सिपाही, गवैये, आदि के कार्य पर विचार किया जा सकता है। इन सब में भी इन तीन साधनों की आवश्यकता होती है। निदान, अ-भौतिक उत्पत्ति के भी भूमि, श्रम और पूंजी ये तीन-साधन होते हैं।

साधनों के विषय में नवीन विचार; प्रबन्ध—जैसा पहले कहा गया है, प्राचीन अर्थशास्त्री धनोत्पत्ति के ये तीन ही साधन मानते थे। वास्तव में ये तीन बहुत आवश्यक हैं। परन्तु यदि तनिक विचार कर देखा जाय तो इन तीनों साधनों से धनोत्पत्ति का कार्य नहीं हो सकता, जब तक कोई इन तीनों को इकट्ठा न करे, और यह निश्चय न करे कि अभीष्ट उत्पादन कार्य के लिए इन तीनों में से प्रत्येक की कितने कितने परिमाण में आवश्यकता है। फिर, आजकल तो धनोत्पा-

दन की विधि में बहुत अन्तर हो गया है, अब इस कार्य को प्रायः कोई अकेला दुकेला आदमी नहीं करता, सैकड़ों, हजारों आदमी एक ही कल कारखाने में इकट्ठे मिलकर काम करते हुए नजर आते हैं। इन सबको अपने अपने निर्धारित कार्य में लगाने के वास्ते एक पृथक् व्यक्ति की आवश्यकता होती है, जो इस बात का प्रबन्ध* करे कि कल-कारखानों में कौन सा काम कब और किस प्रकार किया जायगा, तथा कौन कौन आदमी कहाँ कहाँ कार्य करेंगे, भूमि कौनसी अच्छी है, और आवश्यक पूंजी कहाँ कहाँ से कितनी कितनी मात्रा में प्राप्त की जाय। उसे यह भी विचार करना होता है कि कारखाने में उत्पन्न माल का विज्ञापन देकर कैसे उसकी माँग बढ़ायी जाय, फिर कैसे उसे भिन्न भिन्न व्यापार मंडियों में रेल या मोटर आदि के द्वारा भेजा जाय, तथा किस तरह उसकी बिक्री करायी जाय। उपर्युक्त सब बातों का प्रबन्ध करने वाला व्यक्ति प्रबन्धक कहलाता है। यह व्यक्ति श्रम तो करता है; परन्तु इसका श्रम अन्य श्रमजीवियों से भिन्न प्रकार का होता है। अन्य श्रमजीवी तो अपना निर्धारित कार्य मात्र करने के जिम्मेवार होते हैं, परन्तु प्रबन्धक उन सब का निरीक्षण और नियंत्रण करता है, तथा धनोत्पत्ति के अन्य साधनों अर्थात् भूमि, श्रम और पूंजी आदि का भी प्रबन्ध करता है। इस कार्य का आज कल बड़ा महत्व है, यहाँ तक कि इसे धनोत्पत्ति का एक स्वतंत्र और पृथक् साधन माना जाता है। इसके बिना कल-कारखानों में धनोत्पत्ति का कार्य चल ही नहीं सकता।

साहस—इसके अतिरिक्त आजकल एक और व्यक्ति या व्यक्ति-

* Management

समूह की आवश्यकता है, जो धनोत्पादक कार्य के हानि-लाभ का जिम्मेवार हो। श्रमजीवी तो दैनिक, साप्ताहिक या मासिक वेतन ले लेंगे, प्रबन्धक भी प्रतिमास अपना वेतन ले लेगा; इन्हें इस बात से कुछ प्रयोजन नहीं कि कारखाने में लाभ रहता है या नहीं, और रहता है तो कितना; ये तो अपना कार्य यथा-सम्भव अच्छी तरह सम्पादन करने भर के लिये उत्तरदायी हैं। इस प्रकार भूमि वाला उसका किराया, भाड़ा या लगान, तथा पूंजी वाला पूंजी का व्याज अवश्य लेगा। कारखाने के चलने या डूबने की जोखम उस व्यक्ति या कम्पनी आदि पर है, जो उसको चलाने का साहस करती है, तथा जोखम उठाती है। बड़े पैमाने पर होने वाले आधुनिक धनोत्पादन में इस कार्य का भी विशेष महत्व है। यह धनोत्पत्ति का एक पृथक् साधन माना जाता है। इसे साहस* कहते हैं।

इस प्रकार धनोत्पत्ति के निम्न लिखित साधन हुए :—

(१) भूमि

(२) श्रम

(३) पूंजी

(४) प्रबन्ध और

(५) साहस

उपर्युक्त साधनों में से अन्तिम दो अर्थात् प्रबन्ध और साहस को मिला कर संयुक्त रूप में व्यवस्था† कहते हैं। कुछ व्यक्ति इसके लिये 'संगठन' शब्द का प्रयोग करते हैं।

* Enterprise † Organisation

यह आवश्यक नहीं है कि उपर्युक्त पांचों साधन प्रत्येक प्रकार के धनोत्पादन में पृथक पृथक रूप से काम आते हुए दिखायी दें, तथापि विषय-विवेचन की सुविधा के लिए उनका अलग अलग विचार कर लेना आवश्यक है।

उत्पत्ति के साधक—जिन व्यक्तियों से उत्पत्ति के उपर्युक्त साधनों की पूर्ति या प्राप्ति होती है, वे उत्पत्ति के साधक कहे जाते हैं; इस प्रकार उत्पत्ति के साधक * भी पांच ही होते हैं, यथा,

(१) भूमि का स्वामी अर्थात् जमींदार
(२) श्रम करनेवाला, श्रमजीवी
(३) पूँजीवाला, पूँजीपति
(४) प्रबन्ध करनेवाला, प्रबन्धक, और
(५) साहस करनेवाला, साहसी

यह आवश्यक नहीं है कि धनोत्पत्ति के प्रत्येक कार्य में उपर्युक्त पांचों साधक स्पष्ट रूप से भाग लेते हुए दिखायी पड़ें। बहुधा ऐसा होता है कि दो या तीन साधकों पर अधिकार या नियंत्रण रखनेवाला एक ही व्यक्ति होता है, अथवा यह भी सम्भव है कि एक ही साधक द्वारा धनोत्पादन का सब कार्य हो जाय।

खेती के सुपरिचित उदाहरण पर विचार करो। कल्पना करो, एक किसान है, उसके पास थोड़ी सी अपनी भूमि है, उस पर वह स्वयं ही

* Agents of Production

श्रम करता है, अर्थात् उसे जोतने, बोने के लिये वह कोई दूसरा श्रमजीवी नहीं रखता। उसके पास बीज, हल, बैल आदि भी अपने ही हैं, उसे किसी से पूँजी लेने की जरूरत नहीं। और क्योंकि यह कार्य छोटे पैमाने पर है और भूमि, श्रम और पूँजी, सब उसी की हैं, इसलिये इस में प्रबन्ध की विशेष आवश्यकता नहीं, अथवा यों कह लीजिये कि उक्त साधनों को जुटाने का प्रबन्ध स्वयं उसके ही द्वारा किये जाने के कारण, स्वयं ही प्रबन्धक भी है। इसी प्रकार अपने उत्पादन कार्य में होनेवाले हानि लाभ का जोखम वह स्वयं ही उठाता है, इसलिये वह साहसी भी है। निदान पांचों साधकों का कार्य एक ही व्यक्ति सम्पादन कर सकता है।

यह कच्चे माल की पैदावार के उदाहरण का विचार हुआ। इसी तरह तैयार माल बनाने की क्रिया पर विचार किया जा सकता है। कल्पना करो कि एक बढ़ई है, उसकी अपनी दुकान है, या वह मकान पर काम करता है। उसके पास अपने काम लायक लकड़ी और औजार आदि हैं। इनसे वह मेज बनाता है। इस कार्य के लिये न कोई प्रबन्धक है और न कोई साहसी। सब का काम वह स्वयं ही सम्पादन कर लेता है। इस तरह के अन्य उदाहरणों से भी यह बात सिद्ध की जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि तैयार माल बनाने में भी पूर्वोक्त पांच साधकों के पृथक् पृथक् रूप से कार्य करने की आवश्यकता नहीं। तथापि सम्यक् विवेचन के लिये यह आवश्यक है कि हम पूर्वोक्त पांचों साधकों को, तथा धनोत्पादन में उनके स्थान को भली-भांति जानलें।

अभ्यास के प्रश्न

(१) उत्पत्ति के कितने भेद हैं? उनका संक्षेप में वर्णन कीजिए।

(२) किसी प्रकार की उत्पत्ति में हमें किन किन साधनों से काम लेना पड़ता है? खेती का उदाहरण लेते हुए इसे विस्तार पूर्वक समझाइए।

(३) "आवश्यकताओं के कारण उत्पत्तिकार्य में वृद्धि होती है। हमारे उत्पत्ति कार्य नई आवश्यकताओं को जन्म देते हैं।" इस कथन की भली भाँति विवेचना कीजिए। (१९३८)

(४) निम्न लिखित पर संक्षिप्त नोट लिखिए:—

आवश्यकता और उत्पत्ति। स्थान परिवर्तन। उत्पत्ति में प्रबन्ध का स्थान।

(५) उदाहरण सहित समझाइए कि स्थान परिवर्तन द्वारा उपयोगिता वृद्धि किस प्रकार होती है?

(६) क्या किसी वस्तु के विज्ञापन से अथवा उसके अधिक उपयोग से उपयोगिता वृद्धि होती है?

(७) यह समझाइए कि निम्नलिखित व्यवसायों में उत्पत्ति के साधनों का किस प्रकार उपयोग किया गया है:—

हलवाई की दूकान। कपड़े की दूकान। सूत कातना। कपड़े बुनना। गौशाला।

दूकानदार और व्यापारी वस्तुओं की उपयोगिता वृद्धि किस प्रकार करते हैं?

(८ , ग्रामीण उद्योग धंधों और कल कारखानों में विभिन्न उत्पत्ति के साधनों के महत्व की तुलना कीजिए। (१९३८)

(९) निम्न लिखित व्यवसायों में उत्पत्ति के साधनों का कैसा उपयोग होता है? तुलनात्मक रूप से समझाइए :—

गांव का जुलाहा या कुम्हार। बनारस या मुरादाबाद का पीतल का उद्योग धंधा। सूत कातने की मिल। (१९२७)

बारहवाँ अध्याय

—:-*-:—

भूमि

पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि धनोत्पत्ति का एक साधन भूमि है। यहाँ हमें इसके विषय में विशेष विचार करना है। विदित हो कि साधारण बोल-चाल में भूमि का जो अर्थ लिया जाता है, वह अर्थशास्त्र में लिये जाने वाले अर्थ की दृष्टि से बहुत भिन्न है। साधारणतया भूमि का आशय पृथ्वी-तल से लिया जाता है, परन्तु अर्थशास्त्र में, इसके अन्तर्गत वे सब उपयोगी पदार्थ तथा शक्तियाँ समझी जाती हैं, जो प्रकृति से प्राप्त होती हैं और धनोत्पत्ति में उपयोग की जाती है। इस प्रकार 'भूमि' में निम्नलिखित वस्तुएँ सम्मिलित हैं:—

१—पृथ्वी तल, तथा पृथ्वी से प्राप्त होने वाले पदार्थ, यथा—लोहा, कोयला, सोना, चाँदी, मिट्टी का तेल, कुओं का जल, और भूमि की उत्पादक शक्तियाँ, तथा जंगल में मिलने वाले पदार्थ, विविध औषधियाँ आदि।

२—भूमि का जल, नदी, तालाब, झील, समुद्र और इनमें मिलने वाली मछलियाँ, शंख, मोती आदि।

३—वायु, गर्मी, सर्दी, प्रकाश, वर्षा तथा जलशक्ति, वायुशक्ति आदि।

स्मरण रहे कि अर्थशास्त्र में प्रकृति का वही भाग 'भूमि' के अन्तर्गत माना जाता है, जो धन की उत्पत्ति करने में मनुष्य के उपयोग में आता हो, प्रकृति का शेष भाग 'भूमि' नहीं माना जाता। कुछ अर्थशास्त्री उत्पत्ति के साधनों में भूमि की जगह प्रकृति या प्राकृतिक स्थिति* की गणना करते हैं।

भारतवर्ष की प्राकृतिक स्थिति—भारतवर्ष एक विशाल भू-खंड है। इसके उत्तर में पर्वत-शिरोमणि हिमाचल की ऊँची, बर्फ से ढकी दीवार है; शेष तीन ओर से यह समुद्र से घिरा हुआ है। भिन्न-भिन्न प्रकार की जल-वायु, तरह-तरह की भूमि, विचित्र-विचित्र दृश्य और भांति-भांति की पैदावार देकर मानों प्रकृति ने इसे जगत् की प्रदर्शनी बनाया है। ऐसी कोई चीज नहीं, जो यहां पैदा न हो सकती हो। कच्चे पदार्थों का भंडार होने के कारण इसे औद्योगिक पदार्थों की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए विशेष प्राकृतिक सुविधा प्राप्त है, पूर्वीय गोलार्द्ध का केन्द्र होने से इसकी स्थिति एशिया, योरप और अफ्रीका से व्यापार करने के लिए बहुत अनुकूल है। हां, इसे एक बड़ी बाधा का सामना करना पड़ता है, यहां अच्छे बन्दरगाहों की कमी है। लगभग ३००० मील लम्बा समुद्र-तट होते हुए भी, यहां व्यापार के लिए यथेष्ट उपयोगी बन्दरगाह इने-गिने हैं। इस विषय का विशेष विचार व्यापार के प्रसंग में किया जायगा। भीतरी आमद-रफ्त की दृष्टि से दक्षिण भारत की तुलना में उत्तर भारत की स्थिति

* Nature or Natural Environments

अ
र
ब
सा
ग
र
कराची
सिन्धु नदी का मुहाना
कर्क रेखा
कच्छ प्राय द्वीप
कच्छ की खाड़ी
गिरनार
खम्भात की खाड़ी
बम्बई
पूना
महाबलेश्वर
हैदराबाद
भीमा नदी
कृष्णा नदी
गोआ
तुंगभद्रा नदी
बंगलौर
मैसूर
त्रिवन्द्रम
कुमारी अन्तरीप
मन्नार की खाड़ी
लंका द्वीप
दिल्ली
सांभर झील
आगरा
जयपुर
अजमेर
चम्बल नदी
उदयपुर
मालवा का
पठार
भोपाल
इन्दौर
नर्मदा नदी
पचमढ़ी
बरौदा
सतपुड़ा श्रेणी
महादेव पहाड़
नागपुर
अमरावती
गोदावरी नदी
झेलम नदी
रावी नदी
लाहौर
व्यास नदी
शिमला
सतलज
गंगा नदी
सिन्धु नदी
चिनाब नदी
थर
काबुल नदी
सफेद कोह

ल न प र्व त
ति ब्ब त की
प ठा र
ब गा ल
की
खा ड़ी
पटना
चिटागाँव
इरावदी के मुहाना
अंडमन द्वीप
निकोबार द्वीप
श्याम
की
खाडी
गोदावरी का मुहाना

अच्छी है, कारण कि वहां पर एक तो ऐसी नदियां हैं, जिनमें नावें अच्छी तरह जा आ सकती है, दूसरे वहां सड़कें और रेलें बनाने में बहुत सुविधा रहती है, जब कि दक्षिण में पहाड़ों के या पथरीली भूमि के होने से इसमें बड़ी कठिनाई होती है।

विस्तार—मोटे हिसाब से भारतवर्ष (जिसमें अब बर्मा सम्मिलित नहीं है) का क्षेत्रफल १६ लाख वर्ग मील हैं, इसमें से पौने नौ लाख वर्ग मील ब्रिटिश भारत में है, और शेष देशी रियासतों में।

प्राकृतिक भाग—भारतवर्ष प्राकृतिक रूप से चार भागों में विभक्त है :—

(१) उत्तरी पहाड़ी भाग

(२) सिंध गङ्गा का मैदान

(३) दक्षिण भारत और

(४) समुद्र-तट

उत्तरी पहाड़ी भाग में हिमालय १५०० मील तक बल खाता हुआ चला गया है। इस विभाग की अधिक से अधिक चौड़ाई २०० मील है। हिमालय बड़ी बड़ी नदियों द्वारा उत्तरी भारत को हरा-भरा रखता है। इसके पश्चिमी भाग का जल विविध नदियों में बहकर सिंध में, तथा पूर्वीय भाग का गङ्गा में जा मिलता है। इस विभाग में बड़े मैदान नहीं है। यहां तरह तरह की लकड़ियां और वनौषधियां पैदा होती हैं। पहाड़ी नालों के जल में बिजली का अतुल कोष संचित है, परन्तु देश में विज्ञान का प्रचार कम होने से इनका अभी यथेष्ट उपयोग नहीं किया जाता।

सिन्ध गङ्गा का मैदान हिमालय से निकली हुई नदियों की घाटियों से बना हुआ है और हिमालय की पश्चिमी शाखाओं से पूर्वीय शाखाओं तक फैला हुआ है। इसका क्षेत्रफल तीन लाख वर्गमील से अधिक है, सारा उत्तरीय भारत इसमें सम्मिलित है। पश्चिमी रेतीले भाग को छोड़कर, वह बहुत उपजाऊ, व्यापार के अनुकूल और घनी आबादी-वाला होने में प्रसिद्ध है। सिंध और गङ्गा से इसकी सिंचाई अच्छी तरह हो जाती है।

दक्षिणी भारत सिंध और गङ्गा के मैदान के दक्षिण में पहाड़ों से घिरा हुआ तिकोना पठार (ऊँचा मैदान) है। इसमें छोटे छोटे पेड़ और झाड़ियाँ अधिक हैं; जहाँ पानी बहुत है या निकट है, वहाँ बड़े बड़े वृक्षों के जंगल भी हैं। पत्थरों से बनी हुई मिट्टी काले रंग की है। इसमें आना-जाना मुश्किल है, सड़कें और रेलें कठिनाई से बनती हैं। इस पठार की ऊँचाई १२०० से लेकर ३००० फुट तक है। यह भारत-वर्ष के पूर्वोक्त दोनों भागों की अपेक्षा अधिक ऊँचा तथा पुराना (अधिक उम्रवाला) है।

दक्षिण के पठार के पूर्व एवं पश्चिम में तंग समुद्र तट का मैदान है। इसका बहुत-सा भाग समुद्र-जल से ढका हुआ है, जो अधिक से अधिक दो सौ गज गहरा है। पश्चिमी समुद्र-तट की चौड़ाई २० मील से ६० मील तक है। पूर्वीय समुद्रतट की चौड़ाई ५० मील से १०० मील तक है। इन समुद्र-तटों में नारियल के पेड़ बहुत होते हैं, और इनमें पैदावार अच्छी होती है।

जल-वायु—भारतवर्ष भूमध्य रेखा से पास (उत्तर में) है, परन्तु तीन ओर समुद्र से घिरा होने के कारण यहाँ गरमी का प्रभाव बहुत अधिक नहीं होने पाता। स्थल का धरातल समुद्र से कहीं तो अधिक ऊँचा है, और कहीं कम। इससे सारे देश में एक ही तरह का जल-वायु नहीं रहता। प्रायः दक्षिण में गरमी और उत्तरी पहाड़ी प्रदेश में सरदी रहती है; बीच में तरह-तरह की जल-वायु मिलती है। मध्य-भारत और राजपूताना समुद्र से दूर हैं और शुष्क हैं। अतएव ये प्रायः जाड़े में शीतल और गरमियों में बहुत उष्ण रहते हैं।

भारतवर्ष-जैसे प्राकृतिक शक्ति-प्रधान देशों में थोड़ा-सा परिश्रम करने से मानवी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। गर्म भागों में वस्त्रों की विशेष आवश्यकता नहीं होती। साधारण आदमी वर्ष का अधिक समय केवल लँगोट या अँगोछा पहने बिता देता है। भोजन भी अपेक्षा-कृत कम चाहिए। मकान की भी बहुत जरूरत नहीं होती। गर्म देश में मनुष्य जल्दी थक जाते हैं, और बहुधा आरामतलब, रोगी, व्यसनी, दुर्बल या अल्पायु होते हैं।

विज्ञान की सहायता से मनुष्य जल-वायु को कुछ अंश में बदल कर अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न कर रहा है। उदाहरणवत् यह विचार किया जा रहा है कि रेगिस्तान में बड़ी बड़ी नहरें निकालने, तथा बड़े पैमाने पर पेड़ लगाने से जल-वायु में अन्तर किया जाय। भारतवर्ष में अभी विज्ञान का इस दिशा में प्रचार तथा प्रयोग नहीं हुआ है। और यह काम है भी इतना व्यय-साध्य, कि सरकार ही इसका बीड़ा उठा सकती है, जिसकी निकट भविष्य में संभावना नहीं है।

वर्षा—कृषि-प्रधान देश होने के कारण यहाँ वर्षा पर बहुत आश्रय रहा है, उसके अधिक अथवा कम होने से फसलें मारी जाती हैं, और बहुत-से आदमियों की जीवन-संग्राम की कठिनाई बढ़ जाती है। वर्षा की मात्रा पृथक् पृथक् होने से भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भाग खास-खास फसलों के लिए उपयुक्त हैं, और देश में लगभग सभी चीजें पैदा होती हैं। जन-संख्या का आधार भी कुछ अंश में वर्षा की मात्रा ही है; जहाँ वर्षा अच्छी होती है और लोगों को खाने को मिलता वहाँ, आबादी प्रायः घनी होती है।

वर्षा के सम्बन्ध में अन्य देशों से यहाँ यह विशेषता है कि साल में दो मौसमी हवाएँ निश्चित रूप से बहती हैं; यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पहाड़ आदि के कारण उनकी दिशा बदल जाती है, अप्रेल से सितम्बर तक दक्षिण-पश्चिम (समुद्र) की ओर से, और अक्तूबर से मार्च तक उत्तरपूर्व अर्थात् स्थल की ओर से हवा चलती है। इनमें से पहली हवा से ही वर्षा विशेष होती है।

स्थूल रूप से, वर्षा की दृष्टि से भारतवर्ष के चार भाग किए जा सकते हैं:—

(१) अधिक वर्षावाला भाग; साल भर में सौ इंच से ऊपर वर्षा पश्चिमी तट, गंगा के डेल्टा, आसाम और सुरमाघाटी में होती है।

(२) अच्छी वर्षा वाला भाग; चालीस से सौ इंच तक वर्षा गंगा की घाटी में इलाहाबाद तक और पूर्वी तट पर होती है।

भारत में वर्षा
अरबसागर
बङ्गाल की खाड़ी
७५" से अधिक
४०" " ७५" तक
२०" " ४०" "
१०" " २०" "
५" " १०" "
०" " ५" "
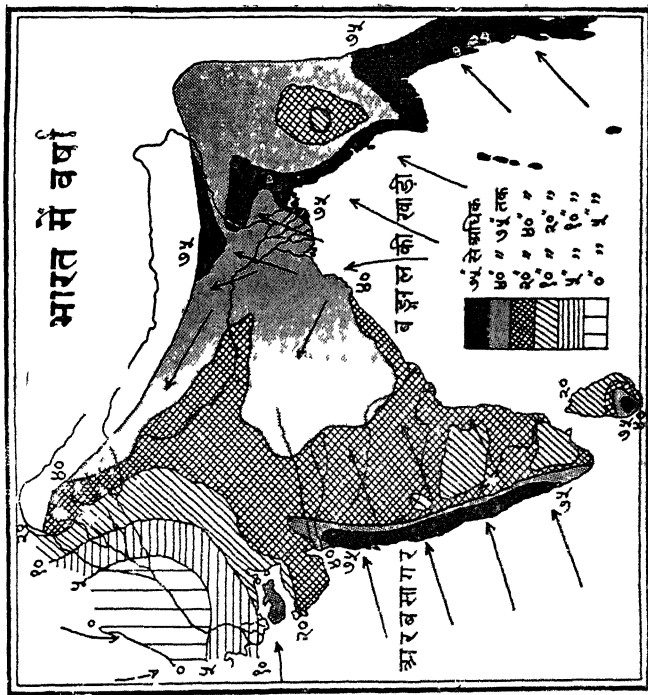
(३) खुश्क भाग; बीस से चालीस इंच तक वर्षा दक्षिण में, और मध्य भारत के पठार में होती है।

(४) बहुत खुश्क भाग; एक से बीस इंच तक वर्षा अरावली के पश्चिम में, सिंध और बिलोचिस्तान में होती है।

साधारण तौर पर यह ख़याल किया जाता है कि भारतवर्ष में जिस साल कम वर्षा होती है, उसी साल अकाल अधिक पड़ते हैं; परन्तु यह बात पूर्णतः सत्य नहीं है। अकालों का मुख्य कारण जनता की बढ़ती हुई दरिद्रता भी है। वर्षा की बहुधा यहाँ कमी नहीं रहती, परन्तु इस देश में उसका पानी संचित करके नहीं रक्खा जाता, वह भूमि में समा जाता है, अथवा नदियों द्वारा समुद्र में बह जाता है। उसे बड़ी-बड़ी झीलों में इकठ्ठा करके उसका वैज्ञानिक उपयोग करने की ज़रूरत है। पुनः यहाँ अत्यधिक वर्षा से, या पकी हुई फ़सल के समय की वर्षा से, कई स्थानों में बड़ी हानि होती है। डा० बालकृष्ण जी ने लिखा है कि पश्चिमी देशों में ऐसे अवसर पर बादलों को तोपों से उड़ा देते हैं। कुछ वैज्ञानिक इस बात का भी प्रयत्न कर रहे हैं कि आवश्यकता प्रतीत होने पर, विद्युत के द्वारा वर्षा कराई जा सके। हिन्दुओं के प्राचीन शास्त्रों में ऐसे यज्ञों के होने का उल्लेख पाया जाता है, जिनका उद्देश्य वर्षा कराना था। आज-कल एक तो लोगों का हवन यज्ञ आदि में विश्वास नहीं रहा, और दूसरे यह कार्य इतने व्यय-साध्य हैं कि साधारण व्यक्ति इनको करने में असमर्थ रहता है। अस्तु, भारतवर्ष में खेती वर्षा के भरोसे या आबपाशी के सहारे ही की जाती है।

नदियों का आर्थिक प्रभाव—नदियों से व्यापार और कृषि की सिंचाई को बड़ी सहायता मिलती है। उनसे बने हुए डेल्टों और टापुओं की भूमि बहुत उपजाऊ होती है। नदियों की बाढ़ से बहुधा गाँव नष्ट हो जाते हैं, खेती की उपज, पशु और अन्य माल-असबाब बह जाता है; लेकिन साथ ही उससे यह लाभ भी होता है कि कहीं-कहीं भूमि पर उपजाऊ मिट्टी के परत जम जाते हैं, सूखे और बंजर स्थानों में तरावट पहुँच जाती है, एवं ऊसर और रेहवाली मिट्टी बह जाती है। नदियों द्वारा मैदान में पहाड़ों से लकड़ियाँ और बड़े-बड़े लट्ठे बहा लाए जाते हैं; नहरें काटकर अवर्षण-काल में भी कृषि की जाती है।

भारतवर्ष में पंजाब की पांचों नदी उसके अधिकांश भाग को हरा-भरा रखती हैं। उनके द्वारा इस प्रांत का माल सिंध तक जा सकता है। गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र, और गोदावरी तथा इनकी शाखाओं से पूर्वी भारत सींचा जाता है, और उनसे देश के कई भाग ऐसे मिले हुए हैं कि खूब व्यापार हो सकता है। गङ्गा में एक हज़ार मील तक तथा ब्रह्मपुत्र और सिंध में ८०० मील तक बड़ी नाव या छोटे जहाज़ आ जा सकते हैं। गंगा १५०० मील, और सिंधु १८०० मील लम्बी है। दक्षिण भारत में नदियां छोटी हैं, और माल ढोने या सिंचाई करने के लिए बहुत उपयोगी नहीं हैं।

मिट्टी—भारतवर्ष एक विशाल देश है, इसके भिन्न भिन्न भागों में तरह तरह की मिट्टी पायी जाती है विशेष उल्लेखनीय मिट्टियां निम्न-लिखित हैं:—

दोमट* मिट्टी—यह नदियों द्वारा लायी हुई चिकनी मिट्टी और रेत से मिल कर बनी होती है। यह सब से अधिक उपजाऊ होती है। यह मिट्टी उत्तर में सिन्ध, राजपूताना, पंजाब, संयुक्तप्रान्त और बंगाल में पायी जाती है। दक्षिण में यह प्रायद्वीप के दोनों तटों पर, तथा गोदावरी कृष्णा और कावेरी के डेल्टों में मिलती है। इन मैदानों में चावल और गन्ने की फसलें खूब होती हैं।

लाल मिट्टी—यह मिट्टी मदरास, मैसूर, दक्षिण-पूर्व बम्बई, हैदराबाद, और मध्यप्रान्त के पूर्व में तथा छोटा नागपुर, उड़ीसा, और बंगाल के दक्षिण में पायी जाती है। यह मिट्टी बहुत प्रकार की चट्टानों से बनी है—यह अपेक्षाकृत कम उपजाऊ है, हां, सिंचाई की सुविधा होने पर चावल, मकई आदि उत्पन्न कर सकती है।

काली मिट्टी—यह बम्बई के अधिकांश भाग, बरार, तथा मध्य-प्रान्त और हैदराबाद के पश्चिम भाग में मिलती है। बरसात के दिनों में यह बहुत चिकनी और चिपकनी हो जाती है तथा गर्मी में इसमें बहुत दरारें पड़ जाती हैं। यह प्रायः बहुत उपजाऊ होती है। इसमें बिना अधिक बरसात या सिंचाई के ही ज्वार तथा कपास खूब पैदा होती है। इसका कारण यह है कि सूखने पर यह इतनी कड़ी हो जाती है कि सूरज की किरणें इसके अन्दर के पानी को भाफ बना कर नहीं उड़ा सकतीं।

---

* Alluvial Soil

भूमि के भेद—उपज की दृष्टि से, ब्रिटिश भारत (जिसमें अब बर्मा नहीं है) की भूमि के निम्न-लिखित भेद किए जाते हैं :—

१—जंगल	७ करोड़ एकड़
२—परती भूमि	५ ,, ,,
३—कृषि के योग्य, किंतु बंजर	६ ,, ,,
४—कृषि के अयोग्य	६ ,, ,,
५—जिसमें फसल बोई जाती है	२१ ,, ,,
योग	५१ करोड़ एकड़

जंगल—अब इसमें से प्रत्येक प्रकार की भूमि का विचार करें; पहले जंगल का विषय लें। इनका आर्थिक प्रभाव बहुत होता है—

(क) ये वर्षा के जल को जल्दी बहकर चले जाने से रोकते हैं, और उसे पृथ्वी में संचित करके धीरे-धीरे देते रहते हैं।

(ख) ये पत्तों द्वारा हवा को तरी देकर उसकी गरमी ('टेंप्रेचर') कम करते हैं।

(ग) इनसे पशुओं के चरने के लिए अच्छी चरागाहें प्राप्त होती हैं, तथा इमारतों और ईंधन के लिए लकड़ी मिलती है।

(घ) इनसे कई व्यवसाय-संबंधी पदार्थ मिलते हैं; जैसे गोंद, रबड़, लाख, चपड़ा रँगने के लिए पेड़ों की छाल, तारपीन, मसाले तथा काग़ज़ बनाने की घास आदि।

(ङ) जंगलों से भूमि पर वर्षा भी अधिक होती है।

भारतवर्ष में पश्चिमी घाट, आसाम और हिमालय प्रदेश में घने-घने जंगल अधिक हैं, जिनकी लकड़ियाँ मकान बनाने के भी काम में

आती हैं। पश्चिमी घाट के जंगल में, मध्य-प्रांत की बड़ी-बड़ी नदियों के किनारे, और हिमालय की तलहटी में साल के पेड़ होते हैं। सागौन के वृक्ष मालाबार में अधिक होते हैं; इसकी लकड़ी कड़ी और ठोस होती है तथा दीमक न लगने के कारण बड़ी टिकाऊ रहती है। देवदार और चीड़ के पेड़ हिमालय में होते हैं। आबनूस के पेड़ मैसूर और मालाबार के जंगलों में, तथा चंदन के पेड़ मैसूर के जंगलों में होते हैं। नारियल के वृक्ष समुद्र के किनारे ही अधिक होते हैं। अनन्नास और केले गर्मतर जलवायु में पाए जाते हैं। हिमालय के मुख्य फल सेव, नासपाती और अखरोट हैं। सिंध और गंगा के मैदान का, तथा दक्षिण का मुख्य फल आम है।

जंगल को आग से बचाने, छोटे-छोटे पेड़ों को काटने से रोकने इत्यादि के लिए सरकारी जंगल-विभाग सन् १८६१ ई० में स्थापित हुआ था। इस विभाग ने उपयोगी पेड़ों के लगाने का भी प्रबंध किया है। मद्रास में कपूर के पेड़ लगाने में सफलता हुई है। कई प्रांतों में महागनी और युकलिप्टस के वृक्ष लगाने का प्रयत्न हो रहा है। लाख उपजाने की ओर भी अधिक ध्यान दिया जा रहा है। सरकार को इस विभाग से क्रमशः अधिकाधिक लाभ हो रहा है; लकड़ी तथा जंगल की अन्य पैदावार की बिक्री से उसे आमदनी होती है। इस विभाग के स्थापित होने से प्रजा को इतनी असुविधा भी हो गई है कि बहुत-से स्थानों में लोगों को पशु चराने के लिए यथेष्ट भूमि नहीं मिलती, तथा लकड़ी के अभाव में गोबर के उपले अधिक जलाए जाने के कारण खेतों में खाद की कमी हो जाती है।

अन्य भूमि—परती भूमि का उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है तथा बंजर भूमि की समस्या कैसे हल हो सकती है, इन बातों का विचार आगे, खेती के सम्बन्ध में लिखते हुए किया जायगा। कृषि के अयोग्य भूमि वह होती है जिसमें कोई चीज पैदा नहीं हो सकती। इस भूमि पर या तो मकान आदि बने हुए हैं, अथवा नदी-नाले या सड़कें हैं, अथवा उसका कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए उपयोग हो रहा है। बोई जाने वाली भूमि के विषय में खेती के प्रसंग में लिखा जायगा।

खनिज पदार्थ—हम पहले कह आए हैं कि अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से भूमि में खानों का भी समावेश होता है। अतः अब हम यहाँ इनका विचार करते हैं। प्राचीन समय से यह देश खनिज पदार्थों के लिए प्रसिद्ध रहा है, इसे रत्न-गर्भा भूमि कहते आए हैं। सोने-चाँदी के आभूषण, ताँबे, पीतल, फूल आदि के बर्तन, लोहे के औजार और हथियार यहाँ चिरकाल से बर्ते जा रहे हैं। विविध खनिज पदार्थ यहाँ उपलब्ध हैं। यह भली भाँति सिद्ध हो गया है कि बाहर से आनेवाले बहुत से पदार्थ भी यहाँ ही मिल सकते हैं। विस्तार-भय से हम यहाँ कुछ मुख्य-मुख्य पदार्थों का ही उल्लेख करते हैं।

लोहा—आज-कल यंत्रों और मशीनों का युग है और ये चीजें अधिकतर लोहे की ही बनती हैं। इसके अतिरिक्त हमारे घरों के निर्माण में, तथा सामान बनाने में भी लोहे का विशेष स्थान है। इस प्रकार, जिस देश में लोहा नहीं होता, उसे अपनी एक मुख्य आवश्यकता के लिए परमुखापेक्षी रहना पड़ता है। सौभाग्य से भारतवर्ष में यह पदार्थ

भारतवर्ष के खनिज पदार्थ
पञ्जाब
राजपूताना
संयुक्त प्रदेश आगरा व अवध
बिहार
आसाम
बङ्गाल
ब्रह्मा
मध्य प्रदेश
उड़ीसा
हैदराबाद
मैसूर
लोहा
सोना
मैंगनीज
अबरक
नमक
पेट्रोलियम
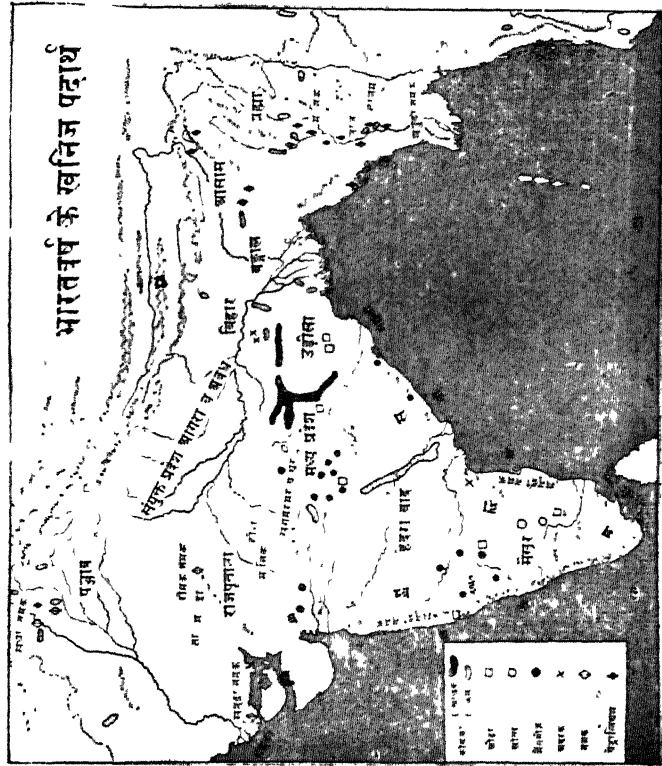
काफी मात्रा में मिलता है। बंगाल बिहार अपनी लोहे की खानों के लिए प्रसिद्ध हैं, जो कोयले की खानों के निकट ही होने से विशेष उपयोगी हैं; इसके अतिरिक्त मध्यप्रान्त, मैसूर और मदरास में भी लोहा खासे परिमाण में मिलता है।

कोयला—आधुनिक औद्योगिक जगत में कोयले का बड़ा महत्व है; जहाँ कोयला निकलता है, वहाँ रेलें, यंत्र और कल कारखाने आसानी से जारी हो सकते हैं। भारतवर्ष का ६० फी-सदी कोयला बंगाल तथा बिहार से मिलता है; कुल कोयले का आधा भाग झरिया से, एक तिहाई रानीगंज से, आता है। पंजाब, मध्य-प्रांत मध्य-भारत, आसाम, हैदराबाद और बिलोचिस्तान में छोटी खानें हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों के कोयले के भाव में काफी अन्तर होता है; इसका कारण कोयले का गुण, उसकी गहराई, काम में आनेवाली मशीनें, मजदूरी आदि के व्यय का अन्तर होता है। भारतवर्ष में अन्य देशों की अपेक्षा कोयला सतह के पास ही मिलता है। परन्तु जिस रीति से यहाँ खानों से निकाला जाता है, वह बहुत आपत्ति-जनक है, उससे इसका भडार जल्दी समाप्त हो जायगा, अतः उसमें सुधार की आवश्यकता है।

अन्य खनिज पदार्थ—मैंगनीज़ की खानें मध्य-प्रदेश और मदरास में हैं। यह इसपात बनाने के काम आती है। यह विदेशों को भी भेजी जाती है। नमक की खान झेलम के किनारे से सिंध के पार कुछ दूर तक चली गई है। साँभर की झील में तथा समुद्री तटों पर खारी पानी से भी नमक बनाया जाता है। शोरा प्रायः उत्तरी बिहार में मिलता है। सोने की खानें कोलार (मैसूर) में हैं। अभ्रक की

खानें अजमेर, मदरास और बिहार में हैं; संसार-भर के खर्च के लिए आधे से अधिक अभ्रक भारत से ही जाता है।

यद्यपि कुछ समय से यहाँ अधिकाधिक खनिज पदार्थ निकाले जा रहे हैं; एक उद्योग-धंधेवाले देश के लिए यह परिमाण बहुत ही थोड़ा है। इंगलैंड, जर्मनी, संयुक्त-राज्य अमेरिका आदि देश भारत की अपेक्षा आकार और जन-संख्या में कहीं छोटे हैं; परन्तु उनकी तुलना में भारत की खनिज पदार्थों की निकासी बहुत हीन अवस्था में है।

शक्ति के स्रोत—भारतवर्ष में शक्ति के स्रोत* कम नहीं है। आधुनिक उद्योग-धंधों और कल कारखानों की जान कोयला है। भारत-वर्ष में संचालन शक्ति के लिए इसका ही उपयोग बहुत किया जाता है, और यह यहाँ काफी मात्रा में है; तथापि इसका भंडार कम हो रहा है। यहाँ तेलों का भी बहुत उपयोग हो सकता है, परन्तु उसकी भी एक सीमा है। यहाँ संसार शिरोमणि हिमालय तथा अन्य बड़े-बड़े और ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं, जिनमें अनेक जल-प्रपात हैं। बड़ी-बड़ी नदियों की भी यहाँ कमी नहीं। समुद्र तो इस देश को तीन ओर से घेरे हुए है। इस प्रकार यहाँ जल-शक्ति भी खूब विद्यमान है। हाँ, आधुनिक साधनों से उसे बिजली के रूप में परिणत करके वह कहाँ तक काम में आने योग्य बनाई गई है, तथा उसे कितना और बढ़ाया जा सकता है, यह विचारणीय है।

यह निश्चित है कि भविष्य में हाइड्रो-इलेक्ट्रिक अर्थात् जल-विद्युत वाली योजनाओं के अधिकाधिक प्रयोग होने की संभावना है। यह

---

*Sources of Power

बिजली सस्ती और अच्छी होती है। इसमें कष्ट-प्रद धुआँ भी नहीं होता। भारतवर्ष में सबसे पहले मैसूर-दरबार ने इस शक्ति से काम लेना शुरू किया था। आज-कल इससे, कोलार की सोने की खानों का काम चलता है। काश्मीर-नरेश ने रामपुर में एक जल-प्रपात से बिजली निकाली है। उससे रोशनी के अतिरिक्त रेल चलाने का भी प्रबन्ध हो रहा है। दक्षिण में कावेरी-वर्क्स और टाटा-वर्क्स में इसी प्रकार बिजली निकाली जा रही है।

गत वर्षों में, संयुक्त-प्रांत में बिजली की खासी उन्नति हुई है। इस प्रांत के पश्चिमी भाग में, बिजली केवल बड़े-बड़े नगरों में ही नहीं, कुछ छोटे नगरों में भी पहुँच गई है। विद्युत शक्ति की खपत जितनी अधिक होती है, उतनी ही वह सस्ती पड़ती है। उपर्युक्त स्थानों में उसकी दर सस्ती होने का कारण यही है कि वहाँ सिंचाई के लिए नदियों और 'ट्यूब वेल्स' से काफी पानी निकालने के लिए बिजली का उपयोग हो रहा है। अब पूर्वीय जिलों में विद्युत योजना को सफल करने का प्रयत्न हो रहा है। भारतवर्ष के अन्य प्रांतों में भी नदी और प्रपात बहुत हैं। इस देश में समुद्र की भी काफी सुविधा है। इनसे यथेष्ट बिजली तैयार करके, देश की आर्थिक उन्नति आश्चर्यजनक रूप में की जा सकती है। सरकार, इस दिशा में विशेष अग्रसर न होने का कारण अपनी आर्थिक कठिनाई बताती रही है; आवश्यकता है इस कार्य को अच्छी तरह हाथ में लिया जाय।

जल-विद्युत् की संभावनाओं के अतिरिक्त यहां वायुशक्ति भी पर्याप्त है, पर उससे काम लेना बहुत लाभदायक नहीं होता। सूर्य के

तेज के उपयोग का भी विचार हो रहा है। अभी इसका प्रयोग महँगा है। क्रमशः विज्ञान द्वारा उसके सस्ते हो जाने की आशा है। कुछ आश्चर्य नहीं, यदि किसी समय संसार के कल-कारखानों का संचालन सूर्य की शक्ति से ही होने लगे। फिर, भारत-जैसे गर्म देशों की तो खूब ही बन आएगी।

उत्पत्ति के साधनों में भूमि का महत्व—पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि उत्पत्ति के पांच साधन हैं—भूमि, श्रम, पूंजी, व्यवस्था और साहस। यह भी कहा जा चुका है कि प्राचीन काल में जब कि धनोत्पादन कार्य छोटे पैमाने पर होता था तो व्यवस्था और साहस का विशेष प्रश्न ही नहीं उठता था। अब भी अनेक स्थानों में बहुत से आदमी धनोत्पत्ति के साधारण कार्य करते हैं तो उनके भूमि, श्रम और पूँजी ये तीन ही साधन होते हैं। और कितनी ही दशाओं में तो इनमें से भी पूँजी की कुछ विशेष आवश्यकता नहीं होती। यद्यपि पूँजी से धनोत्पादन में सहायता मिलती है, तथापि कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं कि पूँजी के बिना भी कुछ धनोत्पत्ति हो सकती है, हाँ, वह बहुत अल्प परिमाण में होगी। लकड़हारा जंगल से कुछ लकड़ी चुन कर अपने हाथों में या सिर पर रख कर ला सकता है, बिना पूँजी अर्थात् रस्सी तथा गधे या भैंसे आदि के भी वह कुछ धन पैदा कर सकता है। एक अच्छे कंठ वाला व्यक्ति बिना कुछ शिक्षा पाये और बिना किसी बाजे या सितार के भी अपने स्वर से श्रोताओं को मुग्ध करके अपनी आजीविका के लिये कुछ द्रव्य प्राप्त कर सकता है। इस दशा में उसे खड़े होने या बैठने के लिये भूमि

चाहिये, फिर वह केवल अपने श्रम से, अर्थात् बिना पूँजी के ही धनोत्पत्ति का कार्य कर सकता है। इसी प्रकार और भी उदाहरण देकर बताया जा सकता है कि उत्पत्ति के साधनों में भूमि और श्रम की प्रधानता है। निदान यदि मनुष्य धनोत्पादन करना चाहे तो उसे सर्वाधिक आवश्यकता भूमि की है। भूमि के बिना वह किसी प्रकार की धनोत्पत्ति नहीं कर सकता। इससे, उत्पत्ति के साधनों में भूमि का महत्व स्पष्ट है।

कृषि, उद्योग, और व्यापार के लिए भिन्न भिन्न गुणवाली भूमि की मांग—भूमि की उपयोगिता दो प्रकार के गुणों पर निर्भर होती है, और कृषि, उद्योग तथा व्यापार के लिए इन गुणों की भिन्न भिन्न परिमाण में आवश्यकता होती है। उपर्युक्त दो गुण ये हैं—भूमि के आन्तरिक गुण, तथा (२) बाह्य परिस्थिति। आन्तरिक गुणों में वे बातें सम्मिलित हैं, जिनसे वह उपजाऊ होती है। कहीं की मिट्टी कम उपजाऊ होती है, कहीं की अधिक। कहीं कहीं भूमि पथरीली या रेतीली, अथवा बहुत ढालू होने से उसमें पैदावार कम होती है। कृषि की दृष्टि से विचार करते समय, भूमि की इन बातों को बड़ा महत्त्व दिया जाता है।

किसान चाहता है कि भूमि अधिक से अधिक उत्पादक हो, उसकी मिट्टी इस प्रकार की हो कि पौदों की मुलायम पतली जड़ें आसानी से नीचे जा सकें; और साथ ही मिट्टी में यह भी गुण हो कि जड़ों को अच्छी तरह स्थिर रख सके। रेतीली भूमि जल को बहुत नीचे चले जाने देती है, और शुष्क बनी रहती है, उसमें जल के अतिरिक्त

अन्य आवश्यक तत्व भी ऊपर नहीं रहने पाते, इसलिये वह उत्पादक नहीं होती। भूमि पथरीली या कंकरीली भी नहीं होनी चाहिये, कारण, कि सख्त मिट्टी में पौदों के लिये जल तथा अन्य आवश्यक तत्व यथेष्ट परिमाण में प्रवेश नहीं करने पाते, अतः यह भी बहुत कम उत्पादक होती है। मनुष्य अपने अनुभव और ज्ञान से ऐसी भूमि की उपयोगिता बढ़ाने का कैसा प्रयत्न करता है, इसका विचार अन्यत्र प्रसंगानुसार किया गया है।

भूमि की उत्पादकता के अतिरिक्त, किसान यह भी चाहता है कि भूमि 'मौके की' हो, अर्थात् बाह्य परिस्थिति की दृष्टि से भी वह अच्छी हो। उदाहरणवत् यदि उसके पास से रेलवे लाइन निकली हो, या अच्छी सड़कें आदि हों तो उसे अपनी पैदावार दूसरे स्थानों में भेजने में सुविधा होगी। इसी प्रकार यदि उस भूमि के पास नहर या बड़ा तालाब हो, तो सिचाई सुगमता से हो सकेगी। और, अगर वह भूमि गांव के पास ही है तो गांव से लाकर उसमें खाद देने में विशेष कठिनाई न होगी। ऐसी भूमि को किसान अवश्य ही उस भूमि की अपेक्षा अधिक चाहेगा, जिसमें ये सुविधाएँ न हों। इस प्रकार कृषि-भूमि में उसके आन्तरिक गुणों तथा बाह्य परिस्थिति की अनुकूलता दोनों की जरूरत होती है।

खनिज भूमि में उसके आन्तरिक गुणों का विचार प्रधान रहता है, पर उससे दूसरे दर्जे पर बाह्य परिस्थिति का भी यथेष्ट महत्व है। किसी खान से पदार्थ निकालने के व्यवसाय में यह देखा जाता है कि इसको निकालने में जो व्यय होगा, वह उसको बाजार में ले

जाकर बेचने से मिल जायगा या नहीं। यदि बाजार बहुत दूर है और वहां तक खनिज वस्तु ले जाने में बहुत अधिक खर्च पड़ता है, यहां तक कि उस पदार्थ को बेचने में कुछ नुकसान रहता है, तो कोई उस खान के उपयोग का विचार न करेगा।

व्यापार और कल-कारखानों के लिये भूमि का उपयोग करने में उसके आन्तरिक गुणों को प्रायः कुछ महत्व नहीं दिया जाता। उसमें प्रधानता देखी जाती है, बाह्य परिस्थिति की। व्यापारी और कारखानेदार इस बात का विचार करते हैं कि उनकी भूमि अच्छे मौके पर हो। इससे उनका कारोबार अधिक चलेगा। यही कारण है कि साधारण ग्रामों की अपेक्षा राजधानियों, तीर्थों तथा दर्शनीय स्थानों में भूमि का मूल्य अधिक होता है। यहां बड़े बड़े नगर बस जाते हैं। फिर इन नगरों में भी मुख्य मुख्य बाजारों में छोटी-छोटी सी दुकान का भी बहुत अधिक किराया होता है। सब दुकानदार और व्यापारी चाहते हैं कि उन्हें मौके की जगह मिल जाय, इसलिये वे उसके लिये बहुत अधिक मूल्य देने को तत्पर रहते हैं—यद्यपि यह भूमि उत्पादकता की दृष्टि से कुछ विशेष उपयोगी नहीं होती।

इस प्रकार किसी कार्य के लिए भूमि के जैसे गुणों की आवश्यकता होती है, उसके लिए वैसे ही गुणों वाली भूमि की मांग होती है।

अभ्यास के प्रश्न

(१) अर्थशास्त्र में भूमि का क्या अर्थ लगाया जाता है? अर्थ समझाने के लिए उदाहरणों का उपयोग कीजिए। देश की प्राकृतिक सम्पत्ति

का हाल संक्षेप में लिखिए और बताइए कि आजकल उनका कहां तक उपयोग किया जाता है। (१६२६)

(२) धन की उत्पत्ति में भूमि का महत्व समझाइये।

(३) किसी देश की आर्थिक उन्नति में संचालन शक्ति का क्या महत्व रहता है? यू० पी० तथा भारत के अन्य भागों में जल शक्ति की वृद्धि से कहां तक हमारे उद्देश्यों की पूर्ति होगी। (१६३६)

(४) भारत में संचालन शक्ति के मुख्य साधन क्या हैं? हाइड्रो इलेक्ट्रिक शक्ति के विकास का ग्रामीण उद्योगधंधों और कृषि पर क्या प्रभाव पड़ेगा? (१६३४)

(५) भारत में संचालन शक्ति के मुख्य साधन क्या हैं? किस प्रकार यह शक्ति बढ़ाई तथा अधिक से अधिक सुगमता पूर्वक वितरण की जा सकती है? (१६२१)

(६) भारत की मिट्टी और जलवायु का वर्णन कीजिए और समझाइए कि इनका हमारे देश की आर्थिक उन्नति पर क्या प्रभाव पड़ता है। (१६३३)

(७) यू० पी० की खास मिट्टी और जलवायु का वर्णन कीजिए। इनका प्रांत की आर्थिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ता है?

(८) यह बताने के लिए कि भारतवर्ष कहां तक औद्योगीकरण के लिए उपयुक्त है, संक्षेप में भारत की प्राकृतिक सम्पत्ति का वर्णन कीजिए। (१६३८)

तेरहवाँ अध्याय

—:०:—

श्रम

पिछले अध्याय में उत्पत्ति के एक साधन—भूमि—के विषय में विचार किया जा चुका। अब दूसरे साधन, श्रम के सम्बन्ध में लिखते हैं। स्मरण रहे कि अर्थशास्त्र में, श्रम के अन्तर्गत, मनुष्य द्वारा किया हुआ केवल वह प्रयत्न माना जाता है जो मनोरंजन के लिये न किया जाकर धनोत्पत्ति के लिये किया जाय। इस बात को थोड़ा स्पष्ट करने की आवश्यकता है। धनोत्पत्ति के लिये किये हुए प्रयत्नों में भी कभी कभी कुछ मनुष्यों को मनोरंजन होता है। अनेक लेखक, कवि, चित्रकार ही नहीं, शिल्पी आदि भी जब अपने कार्य में लगते हैं, तो कभी कभी उसमें इतने मग्न हो जाते हैं कि उन्हें उसमें कुछ कष्ट का अनुभव न होकर, विशेष प्रकार का आनन्द मिलता है। परन्तु जब ये लोग अपना कार्य धनोत्पादन के लिये करते हैं तब उनका प्रयत्न श्रम ही कहा जायगा, चाहे इसमें उनका दिल-बहलाव भी क्यों न होता हो। कुछ दशाओं में, ये लोग अपने कार्य को उस समय तक भी जारी रखते हैं, जब वह उनके आनन्द का हेतु न रहकर उससे उनको कुछ कष्ट भी होता है। इसके विपरीत, कुश्ती लड़ने वालों या क्रिकेट फुटबाल खेलने वालों को यद्यपि

काफी परिश्रम होता है, उनकी क्रिया को अर्थ-शास्त्र में श्रम नहीं माना जाता। हाँ, जब उन लोगों की कोई ऐसी 'टीम' या 'पार्टी' हो, जिसका पेशा ही कुश्ती लड़ना, या क्रिकेट फुटबाल खेलना हो, और वे इन कार्यों को धनोत्पत्ति के लिये करते हों, तो उनका प्रयत्न श्रम माना जाता है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि अनेक स्थानों में यथा-सम्भव इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि श्रम में कष्ट का विशेष अनुभव न करना पड़े। कुछ स्थानों में इस विचार से श्रम के घंटे कम किये गये हैं, और अन्य स्थानों में कम किये जा रहे हैं। श्रम के घंटों के बीच में विश्राम की व्यवस्था की जाती है, और इस बात का भी थोड़ा विचार किया जाता है कि श्रमजीवियों को एक काम छोड़ कर दूसरा काम करने का अवसर दिया जाय, जिससे उनकी नीरसता कम हो। इस प्रकार, श्रम में कष्ट का भाव कम करने और उसमें मनोरंजन के समावेश का प्रयत्न हो रहा है। तथापि उसका लक्ष्य मनोरंजन न होकर धनोत्पत्ति ही होता है।

श्रम और मनुष्य—अब हम यह बतलाते हैं कि श्रम की परिभाषा में प्रयत्न के साथ 'मनुष्य द्वारा किया हुआ' कहने की क्या आवश्यकता है। बात यह है कि बहुत सी धनोत्पत्ति पशुओं द्वारा अर्थात् उनकी सहायता से की जाती है। पशु हल चलाते हैं, माल ढोते हैं, इसी प्रकार आज कल के जमाने में मशीनों या यंत्रों से भी काम लिया जाता है। यदि ये कार्य पशु तथा यंत्र न करें, तो मनुष्य को स्वयं करने पड़ें। हमने ऐसे निर्धन किसान देखे हैं जिनके पास

मशीनों और यंत्रों की बात तो दूर रही, खेती करने के लिये बैल भी नहीं थे, और जो स्वयं हल चलाते थे। अस्तु, मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि होने पर उसने पहले पशुओं से, और फिर क्रमशः यंत्रों से काम लेना आरम्भ किया। अब, उसके द्वारा किया जाने वाला बहुत सा काम पशुओं और यंत्रों से होता है। तथापि अर्थशास्त्र में धनोत्पत्ति में सहायक होने वाले पशु और यंत्र आदि, पूँजी में गिने जाते हैं, जिसका विचार अगले अध्याय में किया जायगा। श्रम के अन्तर्गत केवल मनुष्य द्वारा किया हुआ प्रयत्न ही समझा जाता है; और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वह प्रयत्न ऐसा होना चाहिये जो धनोत्पत्ति में सहायक हो।

भारतीय जनता—श्रम पर विचार करने के लिए पहले हम भारतवर्ष की जन-संख्या-सम्बन्धी कुछ आवश्यक बातों पर संक्षेप में प्रकाश डालते हैं।

बर्मा को छोड़कर, कुल भारतवर्ष की जनसंख्या, सन् १९३१ ई० की मनुष्य गणना के अनुसार ३३ करोड़ ८२ लाख है। इनमें से १७ करोड़ ४३ लाख पुरुष, और १६ करोड़ ३९ लाख स्त्रियां हैं। कुल मिला कर पौने छब्बीस करोड़ मनुष्य ब्रिटिश भारत में हैं, और आठ करोड़ से कुछ अधिक देशी रियासतों में। ग्राम्य और नागरिक जनता के विचार से, तीस करोड़ से अधिक आदमी ग्रामों में रहने वाले हैं, और शेष केवल पौने चार करोड़ नगर निवासी हैं। कुल जन-संख्या की दृष्टि से भारतवर्ष का संसार में एक विशेष स्थान है; समस्त मानव जनता का लगभग छठा भाग भारतीय जनता है।

जन-संख्या का घनत्व*—किसी देश की आबादी कितनी घनी है, इसका हिसाब प्रतिवर्ग मील की औसत जनसंख्या निकालकर लगाया जाता है। यद्यपि भारतवर्ष की कुल जनसंख्या बहुत है, तथापि यह विशेष रूप से घनी नहीं है। सन् १९२१ ई० की मनुष्य-गणना के अनुसार यह ब्रिटिश भारत, देशी राज्यों, तथा कुल भारतवर्ष की प्रति वर्गमील औसत जनसंख्या २२६, १०१, और १७६ थी। सन् १९३१ ई० की जनसंख्या में ये अंक क्रमशः २४८, ११४ और १९६ थे। इसकी तुलना में इंगलैंड की औसत आबादी प्रति वर्ग मील ६८६, और जापान की ४७८ है।

भारतवर्ष एक विशाल देश है, यहाँ भिन्न भिन्न भागों की प्राकृतिक तथा अन्य स्थिति में बहुत अन्तर होने से यहाँ आबादी का घनत्व भी भिन्न भिन्न प्रान्तों में, तथा एक ही प्रान्त के भिन्न भिन्न नगरों में पृथक् पृथक् है। उदाहरणवत् पिछली मनुष्य-गणना के अनुसार कुछ प्रान्तों में प्रति वर्ग मील जनसंख्या इस प्रकार थीः—देहली १११०; बगाल ६४८; संयुक्त प्रान्त ४५६; बिहार-उड़ीसा ४५४; मदरास ३२८; पंजाब २३८; बम्बई १७७ और बिलोचिस्तान ९।

यह घनत्व कई बातों पर निर्भर होता है। विशेषतया कृषि-प्रधान देशों में, जहाँ वर्षा, आबपाशी के साधन और भूमि की उत्पादकता अच्छी होती है, वहाँ जनसंख्या का घनत्व भी अधिक होता है। भारतवर्ष में सिन्ध-गंगा के मैदान में आबादी के घने होने का कारण

* Density of Population
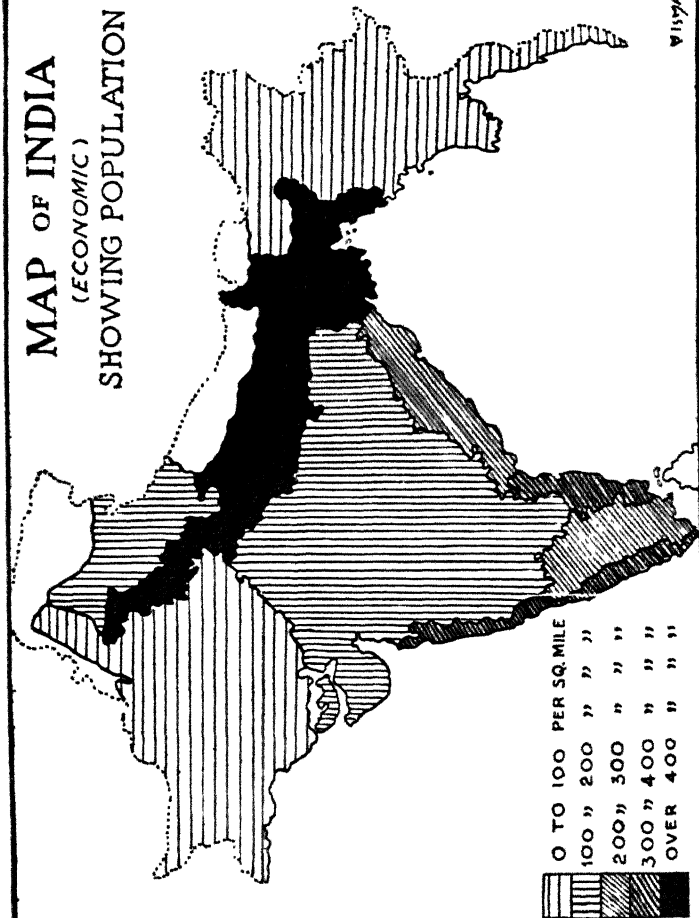
भारत में जनसंख्या का घनत्व

यही है। पंजाब में जब से नहरों का काम बढ़ा है, जनसंख्या में विलक्षण वृद्धि हुई है। इसी प्रकार जल वायु की अनुकूलता भी जनसंख्या बढ़ाने में सहायक होती है। भारतवर्ष में कितने ही पहाड़ी स्थान ऐसे हैं जहाँ गर्मियों में लोगों की खूब चहल-पहल रहती है, जब कि सर्दियों में वहाँ प्रायः सन्नाटा रहता है। आबादी का घनापन आर्थिक विकास पर भी निर्भर होता है, जंगली दशा में किसी भूमि पर थोड़े से ही आदमी शिकार आदि से निर्वाह कर सकते हैं। परन्तु जब खेती होने लगती है, तो उसी भूमि में अधिक आदमियों का निर्वाह हो सकने से वहाँ आबादी बढ़ जाती है। पीछे यदि उद्योग धंधों की वृद्धि द्वारा वहाँ और अधिक धनोत्पादन होने लगता है तो आबादी में भी वृद्धि हो जाती है। नगरों में गाँवों की अपेक्षा अधिक आवादी का होना सर्वविदित है; आसाम और मध्यप्रान्त की पहाड़ी तथा जंगली भूमि में जनसंख्या कम होने का कारण यही है कि वहाँ अभी अधिक उत्पादक कार्यों का प्रारम्भ नहीं हुआ है। अन्य बातों के समान रहने की दशा में जहाँ आदमियों के जानमाल की रक्षा कम होती है, वह आबादी विशेष घनी नहीं हो सकती। पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, बिलोचिस्तान आदि में जनसंख्या घनी न होने का रहस्य इसी में है।

जनसंख्या का विभाजन; (१) पेशों के अनुसार—अब हम भारतवर्ष की आबादी के विभाजन* पर विचार करते हैं; पहले, कार्य

---

* Distribution

की दृष्टि से लेते हैं। पिछली (सन् १९३१ ई० की) मनुष्य-गणना के हिसाब से (जिसमें बर्मा के अंक भारत से पृथक नहीं हैं) यहाँ प्रति सैकड़ा ४४ आदमी वास्तविक कार्य करने वाले थे, और ५६ उनके आश्रित थे, जब कि इसके पूर्व, सन् १९२१ ई० की गणना के अनुसार ये क्रमशः ४६ और ५४ थे। आश्रितों का अनुपात बढ़ने का बहुत कुछ कारण, करने योग्य काम का न मिलना है। पूर्वोक्त प्रति सैकड़ा ४४ उत्पादकों में मोटे हिसाब से ३६ व्यक्ति खास काम करते हैं, और ८ उनके सहायक हैं। इन ३६ कार्य-कर्ताओं में २८ पुरुष और ८ स्त्रियाँ हैं, तथा ८ सहायकों में से २ पुरुष और ६ स्त्रियाँ हैं। इस प्रकार कुल जनसंख्या में जो प्रति सैकड़ा ४४ उत्पादक है, उनमें ३० पुरुष और १४ स्त्रियाँ हैं।* क्योंकि मोटे हिसाब से यहाँ कुल जनता में ५१ पुरुष और ४९ स्त्रियाँ मानी जा सकती हैं, उपर्युक्त हिसाब से मालूम होता है कि प्रति सैकड़ा २१ पुरुष और ३५ स्त्रियां आश्रित हैं; ये स्वयं कुछ काम नहीं करतीं, दूसरों की कमाई खाती हैं। इन आश्रितों में बच्चे तथा बूढ़े भी सम्मिलित हैं।

भिन्न भिन्न पेशों के अनुसार कार्य करने वाले और उनके आश्रित व्यक्तियों के अंक प्रति सैकड़ा इस प्रकार हैं:—

---

* इनमें औसतन चार पुरुष और दो स्त्रियां अपने मुख्य पेशे के अतिरिक्त कुछ और भी काम करती हैं।

पेशा	प्रति सैकड़ा
खेती और पशु-पालन	६७·०
खनिज पदार्थों की निकासी	·१
उद्योग-धंधे	६·७
माल-ढुलाई	१·५
व्यापार	५·४
सेना	·५
सरकारी नौकरी	·७
लिखा-पढ़ी	१·६
घरेलू नौकरी	७·१
अनिश्चित आय वाले	५·१
अनुत्पादक	१·३
योग	१००·०

उपर्युक्त अंकों से स्पष्ट है कि भारतवर्ष की दो-तिहाई जनता का एक मात्र आधार कृषि है, जब कि उद्योग धंधों में केवल दसवाँ भाग ही लगा है। कृषिकार्य वर्षा पर कितना आश्रित है, और अति-वृष्टि या अनावृष्टि की दशा में उस पर कैसी बीतती है, यह सर्व-विदित ही है। व्यापार, यातायात आदि बहुत-कुछ कृषि पर ही निर्भर है, इस प्रकार उस पर संकट आने से अधिकांश जनता को ही कष्ट भोगना पड़ता है। आवश्यकता है कि उद्योग धंधों में अधिक आदमी लग जावें जिससे कृषि की अनिश्चित अवस्था का दुष्परिणाम विशेष हानि-कर न हो।

सेना और सरकारी नौकरियां कुल मिला कर केवल १·२ प्रति सैकड़ा जनता की आजीविका का साधन है। अब प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना से राष्ट्र-निर्माणकारी कार्यों की क्रमशः वृद्धि हो रही है, अतः इस अंक में कुछ वृद्धि की संभावना है, पर अन्ततः यह वृद्धि कहाँ तक होगी। बहुत हुआ तो दो फी सदी तक पहुँच जाय। आजी-विका के इस परिमित साधन के लिए भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में तनातनी होना और उद्योग वाणिज्य की ओर ध्यान न दिया जाना चिन्तनीय है। यहाँ लिखा-पढ़ी का काम करने वालो की संख्या साधारण ही रह सकती है, जब कि उच्च शिक्षा की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है; यद्यपि बेकारी के कारण यहाँ शिक्षितों की संख्या कभी कभी कुछ अधिक समझी जाती है, देश की कुल जन-सख्या का विचार करते हुए वह अत्यंत कम है। इसका मुख्य कारण इसका मंहगापन है। कुछ राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाएँ अल्प व्यय से शिक्षा देने में प्रयत्नशील हैं। अब प्रान्तीय सरकारें भी इस ओर ध्यान दे रही हैं। घरेलू नौकरों की बात यह है कि इनकी संख्या गत शताब्दि में बहुत बढ़ी है, इनमें बहुत से ऐसी व्यक्ति होते हैं जो कृषि या अन्य कोई कार्य करने के साधनों तथा योग्यता से वंचित होते हैं और जहाँ जैसी नौकरी मिल जाती है, उसी से अपना काम चलाते हैं। इनमें से कुछ तो अपने निर्वाह के लिए दो दो तीन घरों में नौकरी करते हैं। अनिश्चित आय वालों में बेकारों का बाहुल्य है जो दुर्भाग्य से बहुत बढ़ गये हैं और यह राज्य तथा समाज-हितैषियों के लिए एक बड़ी समस्या है। अनुवादकों की संख्या इतनी होने का दायित्व बहुत कुछ लोगों के सामाजिक तथा

धार्मिक विचार हैं, जिनके कारण आवारा फिरने वाले और कुछ भी काम न करने वाले साधु और भिक्षुक सहानुभूति और दया की दृष्टि से देखे जाते हैं, और दान तथा भिक्षा पाते हैं।

(२) गावों और नगरों में—भारतवर्ष देहातों का देश है। पिछली मनुष्य-गणना के अनुसार यहां जनता का हिसाब इस प्रकार था :—

ग्राम या नगर	स्थानों की संख्या	कुल जन-संख्या	जन-संख्या प्रतिशत
ग्राम	६,६६,६३१	३१ करोड़ ३८ लाख	८९
नगर	२,५७५	३ " ९० "	११
योग	६,९६,४०६	३५ करोड़ २८ लाख	१००

सन् १९२१ ई० की मनुष्य-गणना में यहाँ नगर-निवासी जनता १०.२ प्रति शत थी; इस प्रकार दस वर्षों में, उसमें केवल ०.८ प्रति शत की वृद्धि हुई है। भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रान्तों में नगर निवासियों का अनुपात पृथक् पृथक् है—आसाम में ये केवल ३.४ प्रति शत हैं, और बम्बई में जहाँ इनकी संख्या भारतवर्ष भर में अधिक है, ये २२.६ हैं। इसकी तुलना में कई देशों में नागरिक जनता बहुत अधिक है, फ्रांस में ४९ प्रति शत, केनेडा में ५४ प्रति शत, संयुक्त राज्य अमरीका में ५६ प्रति शत है और इङ्गलैण्ड में तो ८० प्रतिशत है।

पूर्वोक्त अंकों से यह विदित हो जाता है कि भारतवर्ष में उद्योगीकरण बहुत कम हुआ, तथा इसकी प्रगति भी बहुत मन्द है। क्योंकि आजकल शिक्षा और सभ्यता के केन्द्र नगर ही होते हैं, और वहाँ से ही नई विचारधारा छन छन कर गावों में पहुँचती है, इस दृष्टि से उपर्युक्त अंकों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष बहुत अवनत अवस्था में है।

स्वास्थ्य—मजदूरों के स्वास्थ्य का उनके काम पर बहुत असर पड़ता है। सर्व-साधारण जनता का स्वास्थ्य अच्छा नहीं है, खाने-पीने, विश्राम, औषधी आदि की व्यवस्था नहीं होने से, वे बहुधा रोग-ग्रस्त रहते हैं और अल्पायु होते हैं, इससे उनकी कार्यक्षमता का यथेष्ट उपयोग नहीं हो पाता।

कृषक-जनता अधिकतर गावों में रहती है, और यद्यपि वहाँ नगरों की तरह घनी आबादी अथवा मिलों या कारखानों की चिमनियों से निकलने वाले धुए की भरमार नहीं होती, फिर भी लोगों का स्वास्थ्य कैसा रहता है यह पाठकों को विदित ही होगा। मलेरिया ज्वर, प्लेग, हैजा, चेचक, खाँसी आदि की शिकायतें व्यापक रूप से रहती हैं। वहाँ चिकित्सा की भी व्यवस्था नहीं-सी है। इससे मृत्यु-संख्या तो बढ़ती ही है, अनेक आदमी जो इन बीमारियों के शिकार होते हुए जीवित रह जाते हैं बहुधा स्थायी रूप से निर्बल रहते हैं, उनकी कार्य-क्षमता कम होती है। बीमारियों का मुख्य कारण लोगों की निर्धनता तथा अज्ञान है। कितने ही आदमियों को साधारण समय में भी अच्छा या पर्याप्त भोजन नहीं मिल पाता। किसान लोग जो बढ़िया

अन्न, फल या शाक आदि अच्छी वस्तुएँ पैदा करते हैं, वे सब बिकने के वास्ते होती हैं, जिससे वे अपना लगान, तथा ऋण का सूद चुका सकें। इनके बच्चों को दूध घी भी बहुत ही कम मिल पाता है। ये बातें इनकी आर्थिक हीनता के कुछ उदाहरण मात्र हैं। फिर, जबकि ये बातें साधारण अच्छे समझे जाने वाले वर्षों की हैं, तो दुर्भिक्ष के समय की स्थिति का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। अस्तु; इनके स्वास्थ्य को उन्नत करने के वास्ते इनकी आर्थिक स्थिति सुधारने तथा उनमें शिक्षा-प्रचार करने की अत्यंत आवश्यकता है।

जन-संख्या की वृद्धि और जन्म-मृत्यु—किसी देश में जन्म-मृत्यु का विचार करने के लिये यह देखा जाता है कि प्रति सहस्र व्यक्ति कितने बच्चों का जन्म होता है, तथा कुल कितनी मृत्यु होती है। मृत्यु संख्या से जन्म संख्या जितना अधिक होगी, उतनी ही आबादी की वृद्धि होगी। यद्यपि भारतवर्ष में मृत्यु-संख्या प्रति सहस्र २५.६ और जन्म-संख्या प्रति सहस्र ३५.५ है, दोनों ही अनेक सभ्य देशों की अपेक्षा अधिक है। कुल मिलाकर यहाँ जन संख्या बढ़ती ही जा रही है। सन् १८७१ ई० में भारतवर्ष और बर्मा की जन-संख्या २०.६ करोड़ थी, १८८१ में २५.४ करोड़, १८९१ में २८.७ करोड़, १९०१ में २९.४ करोड़, १९११ में ३१.५ करोड़, १९२१ में ३२ करोड़, और १९३१ में ३५.२ करोड़ हुई।

आगामी मनुष्य-गणना सन् १९४१ ई० में होगी। यह अनुमान किया जाता है कि उस समय भारतवर्ष की जन-संख्या ४० करोड़

होगी। इसी प्रकार क्रम जारी रहा तो सन् १९५१ ई० में जन-संख्या ४५ करोड़ होगी और सन् २००१ ई० में तो यह ७० करोड़ पर पहुँच जायगी। इतने आदमियों का निर्वाह कैसे होगा; आर्थिक एवं राज-नैतिक परिस्थिति में कुछ सुधार होने पर भी क्या उपर्युक्त अंक हमारे लिए एक विचारणीय समस्या उपस्थित नहीं कर रहे हैं?

किसी देश की जन-संख्या की वृद्धि दो बातों पर निर्भर होती है, (क) मृत्यु-संख्या की अपेक्षा जन्म-संख्या की अधिकता, (२) देश से बाहर जाकर बसने वालों की अपेक्षा, विदेश से आनेवालों की अधिकता। भारतवर्ष में कुछ विदेशियो ने निवास कर रखा है, तो यहाँ के भी कुछ आदमी बाहर जाकर बसे हुए हैं और विदेशियो की संख्या यहाँ की जन-संख्या की तुलना में विशेष महत्व नहीं रखती, अर्थात् उसका यहाँ की जन-संख्या की वृद्धि में विशेष भाग नहीं है। यहाँ जन संख्या की वृद्धि का मुख्य कारण, मृत्यु-संख्या की अपेक्षा जन्म संख्या की अधि-कता ही है। इसके अंक समय-समय पर बदलते रहते हैं। प्रायः यह अनुभव में आया है कि जिन देशों में जन्म संख्या अधिक होती है, वहाँ मृत्यु संख्या भी अपेक्षाकृत अधिक होती है। इससे हम एक बहुत शिक्षाप्रद निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—यदि जन्म-संख्या कम करने के प्रयत्न किये जायँ, तो मृत्यु-संख्या में स्वयं कमी होजाय; और, इससे माताओं का कष्ट घटे तथा उस राष्ट्रीय व्यय में भी कमी हो, जो जन्म तथा मरण की अधिकता से होता है।

मालथस के सिद्धान्त—आधुनिक काल में जन-संख्या के प्रश्न पर विचार करने वालों में सर्वप्रथम स्थान इंगलैंड के पादरी मालथस

(१७६६-१८६४) का है। उसने बहुत अध्ययन और अनुसंधान करके अठारहवीं शताब्दी के अन्त में अपनी पुस्तक 'जन-संख्या के सिद्धान्त पर निबन्ध'* में तीन बातों की स्थापना की :—

(१) यदि कोई अन्य बाधा उपस्थित न हो, तो देश की जन-संख्या, वहाँ उत्पन्न होने वाले भोजन के परिमाण की अपेक्षा बहुत शीघ्र बढ़ जाती है। मालथस के अनुसार जन-संख्या ज्यामितिक वृद्धि के अनुसार बढ़ती है। उदाहरणवत् १, २, ४, ८, १६, ३२ और ६४ आदि या १, ३, ६, २७, ८१, २४३, और ७२६ आदि के हिसाब से। उसके मत से खाद्य सामग्री के परिमाण की वृद्धि अंकगणित की वृद्धि के अनुसार बढ़ती है, यथा, १, २, ३, ४, ५, ६, ७ आदि, अथवा १, ३, ५, ७, ६, १० और १३ आदि के हिसाब से। इसलिये एक समय ऐसा आता है जब किसी देश की संपूर्ण जनता के लिये खाद्य सामग्री कम होने लगती है और मृत्यु-संख्या बढ़ने लगती है, अन्त में उसकी जन-संख्या उस सामग्री के परिमाण के अनुसार परिमित हो जाती है।

(२) जन-संख्या-वृद्धि की प्रवृत्ति नैसर्गिक† और प्रतिबन्धक‡ इन दो प्रकार के उपायों द्वारा रोकी जाती है। नैसर्गिक उपाय वे हैं जो प्रकृति की ओर से काम में लाये जाते हैं। इनके द्वारा बच्चों की बहुत अधिक मृत्यु होने लगती है, प्लेग, इन्फ्लुएंजा, चेचक, हैजा आदि

* Essay on the Principle of Population

† Positive

‡ Pieventive

महामारियों का कोप भयंकर रूप से हो जाता है, दुर्भिक्ष द्वारा अनेक प्राणियों का प्राण अपहरण किया जाता है, अथवा लोगों में युद्ध की प्रवृत्ति बढ़ जाती है, जिससे हजारों लाखों आदमी बे-आयी मौत मर जाते हैं। प्रतिबन्धक उपायों का आशय उन उपायों से है, जिनसे जन्म-संख्या कम होती है, जैसे बड़ी उम्र में विवाह करना, संयम और ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करना।

(३) जिन देशों में जन्म-संख्या कम रहती है, उनमें मृत्यु-संख्या भी कम रहती है। इसलिये मृत्यु-संख्या कम करने का एक उत्तम उपाय जन्म-संख्या कम करना है। लोगों को जन्म-संख्या घटाने के प्रतिबन्धक उपाय काम में लाने चाहिये, जिससे सन्तान कम हो और जन-संख्या-वृद्धि से होनेवाले कष्ट न भोगने पड़ें। अगर यह न किया जायगा तो मृत्यु-संख्या बढ़ानेवाले नैसर्गिक उपाय—दुर्भिक्ष, महामारी और युद्ध आदि अपना घातक कार्य करेंगे।

मालथस के विचारों पर इंगलैंड और आयर्लैंड की तत्कालीन जन-संख्या-वृद्धि का बड़ा प्रभाव पड़ा था। और, उसकी बातें विशेषतया उस समय की स्थिति के कारण लिखी गयी थीं। जिन घटनाओं का उसने निरीक्षण और अध्ययन किया, उन्हीं से उसने अपना निष्कर्ष निकाला जो उस देशकाल के विचार से प्रायः ठीक ही था। परन्तु भिन्न भिन्न देशों की परिस्थिति पृथक् पृथक् होती है, तथा मालथस के बाद कुछ वैज्ञानिक और आर्थिक घटनाएँ ऐसी हो गयी हैं कि उनका प्रभाव बहुत कुछ विश्वव्यापी हुआ है। जहाजों और रेलों के आविष्कार और प्रचार के कारण अब परिस्थिति बहुत बदली हुई है।

इस समय यातायात के साधनों की बहुत वृद्धि हो गयी है, नये नये यंत्रों से उत्पत्ति में सहायता ली जाती है और औद्योगिक देश अन्य देशों से खाद्य सामग्री मँगा सकते हैं। इसलिये मालथस के सिद्धान्तों में अब पूर्ववत सत्यता नहीं है और निश्चय ही उसके सिद्धान्त सब देशों और सब समय के लिये ठीक नहीं हैं। तथापि उनमें सत्यता का अंश है इस विषय में निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं :—

(क) धनी और औद्योगिक देशों में जनसंख्या की वृद्धि तो हुई है; पर वह धन-वृद्धि के अनुपात से अधिक नहीं हुई है। इसलिए मालथस का सिद्धान्त उन देशों में इस समय लागू नहीं होता, वहाँ अभी जनाधिक्य की आशंका नहीं है। तथापि इन देशों में जन-संख्या की वृद्धि को रोकने के नैसर्गिक तथा मनुष्य-कृत दोनों प्रकार के उपाय काम में आये हैं, और सभ्यता तथा रहन-सहन का दर्जा बढ़ने के साथ साथ मालथस के कथनानुसार प्रतिबन्धक उपायों का महत्व अधिकाधिक हो रहा है।

(ख) भारत और चीन आदि निर्धन और प्राचीन देशों में प्रायः घनी बस्ती है, और कृषि-जन्य उत्पत्ति में क्रमागत ह्रास का नियम लग रहा है। व्यवसाय धंधों की उत्पत्ति यहाँ कम है। अतः इन देशों में खाद्य सामग्री की अपेक्षा, जन संख्या बढ़ने की प्रवृत्ति अधिक होती है। और, उसे रोकने के लिए दुर्भिक्ष महामारी आदि कठोर नैसर्गिक उपाय अपना प्रभाव दिखलाते हैं। इन देशों में जनाधिक्य की समस्या इस समय ही विद्यमान है। यहाँ रहन सहन का दर्जा ऊँचा

न होने से जन-संख्या की वृद्धि में उसके कारण होने वाली रुकावट का भी यहाँ प्रायः अभाव ही है।

(ग) अनेक विद्वानों का मत है कि यद्यपि समस्त संसार की दृष्टि से, इस समय जनाधिक्य का प्रश्न विद्यमान नहीं है, तथापि वह भविष्य के लिए विचारणीय अवश्य है। इस समय तो यदि कुछ देशों में या उनके कुछ भागों में जन-संख्या, खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति के अनुपात से अधिक है, तो बहुत से भू-भाग ऐसे भी हैं, जहाँ कृषि अथवा व्यवसाय जन्य पदार्थों की उत्पत्ति इतनी है कि उसमें वहाँ की जनता के अतिरिक्त और भी जनता का निर्वाह हो सकता है। परन्तु समस्त संसार की दृष्टि से भी कभी न कभी ऐसा समय आये बिना नहीं रह सकता, जब जन-संख्या इतनी हो जायगी, जितनी का निर्वाह खाद्य पदार्थों द्वारा हो सकेगा। उसके बाद जन-संख्या की वृद्धि चिन्तनीय होगी।

उपर्युक्त कथन से जन-संख्या की समस्या जितने अधिक समय में उपस्थित होने की सम्भावना है, उसकी अपेक्षा व्यवहार में वह जल्दी ही सामने आयेगी,—कुछ स्थानों में तो आ ही गयी है। कारण, कि सारा संसार एक परिवार नहीं है, और निकट भविष्य में उसके ऐसा होने की सम्भावना भी नहीं है।

भारतवर्ष की जन-संख्या और मालथस का नियम—अब तनिक भारतवर्ष की जन-संख्या के सम्बन्ध में कुछ विशेष विचार करें। यहाँ उष्णता की प्रधानता, अशिक्षा और निर्धनता के अतिरिक्त, सामाजिक रीतियों, और धार्मिक विश्वासों से भी जन-संख्या की वृद्धि

में सहायता मिलती है। प्रायः समस्त हिन्दू परिवारों में कन्या का विवाह करना अनिवार्य माना जाता है। पुत्र-प्राप्ति धार्मिक कृत्य समझा जाता है। सर्व साधारण में यह विचार प्रचलित है कि 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति।' पुनः कुछ शताब्दियों से यहां बालविवाह प्रचलित है, और विवाहित व्यक्ति आजीवन गृहस्थाश्रम में रहते हैं; वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम प्रायः उठ गया है। कितने ही पुरुष एक स्त्री मर जाने पर दूसरा और तीसरा विवाह कर लेते हैं। इससे यहां जन-संख्या बढ़ी हुई है, और अधिकतर सन्तान दुर्बल और रोगी होने के कारण मृत्यु-संख्या भी बढ़ी हुई है। अब कुछ समय से इसमें क्रमशः सुधार हो रहा है। ब्रिटिश भारत में तथा कुछ देशी राज्यों में बालविवाह निषेधक कानून बन गये हैं, समाज-सुधारक भी इस दिशा में यथा-शक्ति आन्दोलन कर रहे हैं। हाँ, और भी बहुत कुछ कार्य होने की गुंजायश है। शिक्षा के प्रचार, आर्थिक संघर्ष, कुछ लोगों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होने, स्वच्छन्द जीवन बिताने की इच्छा आदि से भी जन-संख्या की वृद्धि पर कुछ रुकावट होने लगी है। तथापि वर्तमान अवस्था में यहाँ जनाधिक्य की समस्या थोड़ा बहुत विद्यमान है। विविध कारणों से यहां के निवासियों को विदेशों में जाकर रहने की भी सुविधाएँ नहीं हैं। फलतः यहाँ जन-संख्या की वृद्धि में मालथस का सिद्धान्त कुछ कुछ लागू हो रहा है, उसे रोकने के लिये नैसर्गिक उपाय—दुर्भिक्ष महामारी आदि का भयंकर कोप बना रहता है।

प्रतिबन्धक उपाय—जन-संख्या की वृद्धि को रोकने के लिये प्रतिबन्धक उपायों के प्रयोग का पहले उल्लेख किया गया है। आज

कल विविध देशों में बाल विवाह के विरुद्ध लोक-मत बढ़ता जा रहा है। कई देशों में इसको रोकने के लिये कानून बन गये हैं। अब विवाह की उम्र क्रमशः अधिक होती जाती है। तथापि अधिकांश मनुष्यों में प्रायः सर्वत्र सन्तान की लालसा होती है। विशेषतया स्त्रियां तो सन्तान-सुख के लिये बहुत ही इच्छुक रहती हैं। भारतवर्ष में कुछ धनी लोग इसके लिये एक के बाद दूसरा, कई विवाह करते हैं, तथा इस हेतु बहुत सा दान—धर्म भी करते हैं। परन्तु योरप और अमरीका के धनी वर्ग में रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होने तथा स्वच्छन्द जीवन बिताने की इच्छा के कारण, सन्तान यथा सम्भव कम पैदा करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। यह लहर अन्य देशों में भी आ रही है। भारतवर्ष में जनता की निर्धनता के विचार को विशेषतया लक्ष्य में रख कर इस बात का प्रचार किया जा रहा है कि यहाँ जन संख्या कम होनी चाहिये।

अन्य देशों में जहाँ सन्तान निग्रह* के कृत्रिम उपायों को स्वतन्त्रता-पूर्वक काम में लाया जाता है, भारतवर्ष में संयम और ब्रह्मचर्य पर ही जोर दिया जाता है। यों तो यहाँ भी कुछ व्यक्ति सार्वजनिक हित के नाम पर यह उपदेश करते हैं कि सयम और ब्रह्मचर्य सर्वसाधारण के लिए विशेष व्यावहारिक या स्वाभाविक नहीं हैं, यह तो बहुत उच्च विचार वालों के ही लिए हैं, साधारण परिस्थिति के लोगों को कृत्रिम उपायों से सन्तान-निग्रह करना चाहिए। तथापि

* Birth-control

अधिकांश जन-समाज इन बातों को भयंकर आशंका और घृणा कि दृष्टि से देखता है।

कुछ प्रतिबन्धक उपाय ऐसे भी हैं, जिनका राज्यों की ओर से अवलम्बन किया जाना उचित समझा जाता है। जिन आदमियों को कोई ऐसी शारीरिक या मानसिक व्याधि हो जो उनकी सन्तान में आने की आशंका हो, या जिन व्यक्तियों के सम्बन्ध में यह ज्ञात हो कि उनकी सन्तान अत्यन्त दुर्बल तथा रोगी या पागल होगी, उन्हें सन्तान पैदा न करने दिया जाय तो समाज उस आर्थिक तथा नैतिक हानि से बच सकता है, जो उक्त सन्तान होने की दशा में उसे उठानी पड़े। यदि उक्त विकारग्रस्त व्यक्ति स्वयं ही विवाह करने या सन्तान पैदा करने से रुके रहें, तब तो बहुत ही उत्तम हो; परन्तु प्रायः ऐसे आदमियों से इस बात की आशा नहीं की जा सकती। अतः कहीं कहीं राज्य द्वारा उन्हें सन्तानोत्पत्ति से रोका जाने का मार्ग काम में लाया जाता है। कुछ समय हुआ जर्मनी में, बहुत से आदमियों की डाक्टरी परीक्षा करके देखा गया था, उनमें से जो व्यक्ति उपर्युक्त दृष्टि से सु-सन्तान उत्पन्न करने के अयोग्य पाये गये, उन्हें नपुंसक कर दिया गया था।

यह एक विशेष दशा सम्बन्धी विचार है। कुछ विद्वानों का मत है कि योरप और अमेरिका में जन संख्या की वृद्धि को रोकने के लिये जो प्रतिबन्धक उपाय साधारणतया काम में लाये जाते हैं, वे चरम सीमा को पहुँच गये हैं। उनसे समाज को नीचे लिखे अनुसार हानि पहुँचती

है:—(क) जनता का आर्थिक और शारीरिक दृष्टि से ह्रास होता है, और (ख) जन-संख्या की कमी होती है।

(क) प्रतिबन्धक उपायों के कारण धनवानों के बच्चे कम होते हैं। फिर उनका लालन पालन इस तरह किया जाता है कि वे बहुत सुकुमार रहते हैं, उनमें साहस तथा धनोत्पत्ति की योग्यता कम होती है। धनवानों के कम सन्तान होने से देश की कुल जन-संख्या में शिक्षा और अन्यान्य साधन युक्त जनता के अनुपात में कमी हो जाती है।

(ख) जन संख्या की कमी का राजनैतिक और सैनिक दृष्टि से जो परिणाम होता है, वह बड़ा गम्भीर है। कितने ही देशों को यह भय लगा हुआ है कि यदि हमारी संख्या कम होगी, रणक्षेत्र के लिये हमारे सैनिक तथा युद्ध-सामग्री पर्याप्त न होगी तो सम्भव है कि दूसरे राज्य हमें हड़प करने की चेष्टा करने लगें। इस आशंका के कारण कितने ही राज्य अपने यहाँ जनसंख्या की वृद्धि के लिये विविध प्रोत्साहन देते हैं।

जन-संख्या का आर्थिक आदर्श—अब यह विचारणीय है कि भिन्न भिन्न देशों में आर्थिक दृष्टि से कितनी जन-संख्या होनी चाहिये। क्योंकि भिन्न भिन्न वैज्ञानिक आविष्कारों आदि के कारण किसी देश की उत्पत्ति की मात्रा बढ़ती रह सकती है, अथवा विकराल भूकम्प या जल-प्रवाह आदि से घट भी सकती है, अतः सदैव के लिये तो यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि अमुक देश में इतनी ही जन-संख्या

हो, तथापि स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है, कि निर्धारित समय या परिस्थिति में किसी देश की जन-संख्या इतनी होनी चाहिये, जिसके द्वारा प्रति व्यक्ति धनोत्पत्ति या आय उस समय अधिक से अधिक हो, यदि जन-संख्या उससे कम या अधिक हो तो प्रति व्यक्ति उत्पत्ति का अनुपात घट जाय। इसका अभिप्राय यह है कि जिस सीमा तक यह ज्ञात हो कि जन-संख्या बढ़ने से प्रति व्यक्ति धनोत्पत्ति का परिमाण बढ़ेगा, उस सीमा तक ही जन-संख्या बढ़ने देना उचित है। नये उपनिवेशों में, अथवा धनोत्पत्ति की विधि में उन्नति करने वाले देशों में जन-संख्या बढ़ना अनुचित नहीं है। परन्तु जब जन-संख्या इतनी हो जाय कि लोगों की आर्थिक अवस्था खराब होने लगे तो उस समय इस बात का पूर्ण प्रयत्न किया जाना चाहिये कि विविध उपायों द्वारा धनोत्पत्ति में वृद्धि की जाय, और जन-संख्या की वृद्धि रोकी जाय।

जन-संख्या की अनुचित वृद्धि को रोकने के विविध उपाय नीचे लिखे अनुसार हैं:—

(१) जनता में यह प्रचार किया जाय कि रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करें। आदमी अच्छे मकान और उत्तम भोजन और वस्त्रों का उपयोग करें और अपनी सन्तान के लिये भी इन चीजों का उत्तम प्रबन्ध करें। पहले कहा जा चुका है कि रहन-सहन का दर्जा ऊँचा रखनेवालों में सन्तानोत्पत्ति की इच्छा अपेक्षाकृत कम होती है। इसके विपरीत, जिन लोगों की आवश्यकताएँ कम होती हैं या थोड़े से श्रम से पूरी हो जाती हैं, उनमें यद्यपि कुछ व्यक्ति बहुत संयमी भी होते हैं, साधारण-तया सन्तानोत्पत्ति अधिक ही होती है।

(२) बालक बालिकाओं की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय, जिससे बड़े होने पर वे अपने उत्तरदायित्व को पहिचानें, दूरदर्शी बनें, और सन्तानोत्पत्ति की इच्छा का उदय होने पर आगे-पीछे की परिस्थिति का सम्यग् विचार करके उसका यथा-सम्भव दमन करें और कई-कई अयोग्य सन्तान की अपेक्षा एक-एक दो दो सुयोग्य सन्तान पैदा करने का ही विचार रखें।

(३) बालक बालिकाओं को सदाचार और संयम की शिक्षा दी जाय, तथा विवाह की उम्र बढ़ाई जाय और एक निर्धारित आयु के बाद किए जानेवाले विवाहों का (कुछ विशेष अपवादों को छोड़ कर) निषेध किया जाय। इस सम्बन्ध में हिन्दुओं की आश्रम व्यवस्था बहुत अनुकरणीय है।

(४) निर्बल, दरिद्र, वंशानुगत रोगी, पागल, या ऐसे शारीरिक या मानसिक विकारवाले व्यक्तियों के विवाह का निषेध होना चाहिए, जिनकी सन्तान सुदृढ़ और सुयोग्य होने की सम्भावना न हो।

(५) विदेशों के उन्हीं आदमियों को तथा उसी दशा में आकर बसने की अनुमति दी जानी चाहिए, जब वे देश की धन-वृद्धि में सहायक हों अथवा जब वे देश में उच्च नैतिक विचारों का प्रचार करने वाले हों।

(६) स्वराज्य प्राप्त किया जाय, जिससे देश की विशेषतया आर्थिक स्थिति का यथेष्ट सुधार हो।

(७) देश में उत्पत्ति की मात्रा जोरों से बढ़ाई जाय जिससे उत्पति की वृद्धि जन-संख्या की वृद्धि से अधिक रहे।

इन उपायों का अवलम्बन किए जाने से भारतवर्ष की जन-संख्या की वृद्धि की समस्या बहुत-कुछ हल होने की आशा की जा सकती है।

क्या भारतवर्ष में श्रमजीवियों की कमी है?—हमने ऊपर कहा है कि भारतवर्ष में जन-संख्या की वृद्धि को यथा-सम्भव मर्यादित करने की आवश्यकता है। परन्तु बहुधा पूंजीपतियों को श्रम-जीवियों की कमी की शिकायत होती है। ऐसी दशा में यह विचारणीय है कि वास्तविक बात क्या है। क्या यहां श्रम-जीवियों की सचमुच कमी है?

यह सर्व-विदित है कि भारतवर्ष में प्लेग, इनफ्लुएंज़ा, मलेरिया, चेचक और हैजा आदि बीमारियाँ बहुत घातक कार्य करती हैं, प्रति वर्ष लाखों आदमी इनकी भेंट हो जाते हैं। इनमें बहुत-से श्रमजीवी होते हैं। परन्तु इस बात से ही कि यहां अब मज़दूर पहली तनख्वाहों पर नहीं मिलते, यह नहीं समझा जाना चाहिए कि उनकी कमी है। इस समय विविध ब्रिटिश उपनिवेशों में बीस लाख से अधिक भारतीय श्रमजीवी काम कर रहे हैं, और प्रति वर्ष हजारों कुली, बहुधा झूठे प्रलोभनों में फँसकर, ठेके पर या स्वतन्त्र रूप से वहाँ जाते हैं। यदि यहाँ उन्हें वर्तमान मँहगी के अनुसार मजदूरी मिले, तो वे यहां ही न काम करें, घर का मोह छोड़ कर विदेशों में क्यों भटकते फिरें! हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि देश में बेकारी की कितनी विकट

समस्या उपस्थित है। यद्यपि यहां सरकारी तौर से प्रामाणिक अंक प्रस्तुत नहीं हैं, समय-समय पर होने वाली बेकारों की आत्म-हत्या, तथा एक साधारण वेतन वाली नौकरी के लिए सैकड़ों उम्मेदवारों का प्रतियोगिता करना, अनेक उच्च घरानों के व्यक्तियों का निम्न प्रकार के समझे जाने वाले कार्य को करने के लिए तैयार हो जाना, आदि ऐसी घटनाएँ हैं जिससे कि बेकारी का विकराल स्वरूप छिपाए नहीं छिप सकता।

हम यह भी स्मरण रखें कि यहां लगभग पांच करोड़ आदमी अछूत माने जाते हैं। यदि इनके प्रति मनुष्यत्व के विचारों से भ्रातृ-भाव रक्खा जाय, तो इनमें से बहुत-से आदमी अच्छे-अच्छे कामों में सहायक हो सकते हैं। आज उनकी दशा अच्छी नहीं, वे अशिक्षित और गंदे हैं, परन्तु उद्योग करने पर इनसे धनोत्पत्ति का अच्छा काम लिया जा सकता है; सुधार आन्दोलन के कारण कुछ अंश में लिया जाने लगा है। जरायम-पेशा जातियों के आदमियों से भी वर्तमान अवस्था में बहुत कम काम लिया जा रहा है, इनका उद्धार हो जाने पर ये भी श्रमियों की संख्या बढ़ाने में काफी सहायक हो सकते हैं। कई स्थानों पर किए गए प्रयोगों के अनुभव से सिद्ध हो गया है कि चोर और डाकू यथेष्ट परिस्थिति मिलने पर भले आदमी और उपयोगी नागरिक बन सकते हैं।

पुनः हमारे फ़क़ीरों (बनावटी साधुओं) से भी देश के धनोत्पादन-कार्य में कुछ योग नहीं मिल रहा है। बहुत-से आदमी केवल मुफ़्त का खाने और मेहनत से बचने के लिए गेरुआ कपड़े पहन लेते हैं,

अथवा यों ही फ़क़ीरी धारण कर लेते हैं। ये लोग साधारण गृहस्थों के लिए भार रूप और देश की आर्थिक उन्नति में बाधक हैं। हर्ष की बात है कि अब सभा-समाजों में इस प्रश्न पर विचार हो रहा है कि इनका कैसे उत्थान हो और देश की आर्थिक उन्नति में इनसे कैसे सहायता मिले। आशा है, क्रमशः इस दिशा में भी सुधार होगा।

अस्तु, वर्तमान अवस्था में अछूत, जरायम-पेशा, और फ़क़ीर काफी संख्या में हैं, विदेशों में भी लाखों भारतीय श्रमी काम कर रहे हैं। फिर भी यहां इतनी बेकारी है। इससे यह भली भांति सिद्ध है कि यहाँ श्रमियों की संख्या कम नहीं है; हाँ कल-कारखाने वाले जितनी कम मजदूरी पर उनसे काम लेना चाहते हैं, उतनी पर काफी श्रमी न मिलें तो बात दूसरी है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि जैसे कुशल श्रमी चाहिए, वैसे कम हैं। इसका उपाय यह है कि उनकी योग्यता बढ़ाने के लिए यथोचित शिक्षा आदि की व्यवस्था की जाय, जिसके सम्बन्ध में आगे लिखा जायगा।

श्रम की क्षमता की वृद्धि—भारतीय श्रमजीवियों की क्षमता बहुत कम है और उसके बढ़ाने की बहुत आवश्यकता है। श्रमजीवियों की क्षमता जल-वायु, जातीयता, रहन-सहन, स्वास्थ्य, शिक्षा, कार्य करने की स्वतंत्रता, उन्नति और लाभ की आशा, कर्यक्रम की विभिन्नता जिससे श्रम बहुत नीरस प्रतीत न हो, आदि बातों पर निर्भर होती है। यहां क्षमता वृद्धि में एक मुख्य बाधा लोगों की आर्थिक स्थिति की है; उद्योग करने पर, उनमें विविध प्रकार की शिक्षा का

प्रचार करने से उसमें बहुत-कुछ सुधार हो सकता है। कृषि श्रमजीवियों के लिए वही शिक्षा-पद्धति उपयोगी हो सकती है, जिससे शिक्षा पाकर वे कृषि-कार्य को अच्छी तरह करने में दत्त-चित्त हों; ऐसा न हो कि वे उसे घृणा से देखते हुए दफ़्तरों में क्लर्की आदि करने को उत्सुक होने लगें। उनका पाठ्य-क्रम ऐसा हो जो भविष्य में उनके काम आवे। उनकी शिक्षा का समय तथा छुट्टी में भी कृषि की सुविधा का ध्यान रखा जाय। उनके अध्यापक ग्राम-सेवाभिलाषी, सदाचारी और योग्य हों। साथ ही स्त्रियों की शिक्षा की भी आवश्यकता है, उसके वास्ते स्त्री-अध्यापिकाएं तैयार करने के लिए विशेष उद्योग होना चाहिए। प्रौढ़-शिक्षा भी बहुत ज़रूरी है, और उसके लिए रात्रि-पाठशालाओं और वाचनालयों की स्थापना करने, तथा मेजिक लालटेन के दृश्य दिखाने की व्यवस्था यथेष्ट परिमाण में होनी चाहिए। ऐसी कृषि-प्रदर्शनियां भी बहुत उपयोगी होती हैं, जिनमें, खेती की विकसित पद्धति, अच्छे औजार, बीज, और अच्छी नस्ल के पशु दिखाए जाते हैं, तथा कृषि-संबंधी बातें क्रियात्मक ढङ्ग से समझाई जाती हैं।

औद्योगिक शिक्षा के लिए सब से पहली जरूरत यह है कि देश-भर में सब श्रेणी के बालकों को इस बात की शिक्षा दी जाय कि परिश्रम करना—हाथों से कमाना—बुरा नहीं है। प्राथमिक पाठशालाओं में फूल-पत्तियाँ लगाना सिखलाकर, चित्र-कला और नमूने (माडल) बनाने की शिक्षा देकर, परिश्रम और व्यावहारिक शिक्षा के प्रति प्रेम उत्पन्न कराया जाय। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि देश

में बड़ी-बड़ी प्रयोगशालाएँ खोली जायँ, जहाँ विद्वान लोग दिन-रात खोज में लगे रहें। इस 'खोज' से उद्योग-धन्धों को बड़ा लाभ पहुँचेगा। स्वतन्त्र-रूप से बढ़ई, लुहार, चमार आदि दस्तकारों को अपनी आँखों और हाथों से काम लेना होता है। इनकी शिक्षा के लिए हर शहर और बड़े-बड़े देहातों में दक्ष मास्टरों वाले स्कूलों की जरूरत है। इन शिक्षार्थियों को हाथ और आँख का इस्तेमाल और सँभाल बतलानी चाहिए, तथा नए-नए पैटर्नों (नमूनों) को समझाना और उनके मुताबिक काम करना सिखलाना चाहिए।

हर्ष का विषय है कि इन विषयों की ओर प्रान्तीय सरकारें ध्यान दे रही हैं; हाँ अभी बहुत काम होने की आवश्यकता है।

अभ्यास के प्रश्न

(१) भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भागों में जनसंख्या के विषम घनत्व और वितरण के कारणों की विवेचना कीजिए। (१९३८, १९३४, १९३२)

(२) भारत के विभिन्न प्रान्तों की जनसंख्या का अन्दाजन घनत्व बताइए। इनमें भिन्नता होने का क्या कारण है? (१९२९)

(३) "भोजन की वृद्धि के साथ खानेवाले बढ़ जाते हैं।" तथा "इस देश में जब कोई नवयुवक अच्छी जगह पाता है तो उससे आशा की जाती है कि वह बहुत से गरीब रिश्तेदारों का पालन-पोषण करेगा।" इन कथनों को दृष्टि में रखते हुए भारत की जनसंख्या सम्बन्धी समस्या पर विचार करें। (१९२६)

(४) भारत की बढ़ी हुई बाल-मृत्यु की दर के कारणों का विश्लेषण व विवेचना कीजिए । इस बुराई को हटाने के लिए आप क्या प्रबन्ध करेंगे ? (१९३६)

(५) इस बात की विवेचना कीजिए कि भारत में बालक-बालिकाओं की मृत्यु दर क्यों अधिक है ? इस बुराई को रोकने के लिए कौन कौन सी शक्तियां काम कर रही हैं ? (१९२९)

(६) जनसंख्या संबन्धी माल्थस का सिद्धांत समझाइये । वह भारत में कहां तक लागू होता है ?

(७) भारत में मजदूरों की कार्य क्षमता बढ़ाने के तरीके लिखिये ।

चौदहवाँ अध्याय

—:-*-:—

पूँजी

पिछले अध्यायों में धनोत्पत्ति के दो साधनों का (भूमि और श्रम का) वर्णन किया जा चुका है। अब उसके तीसरे साधन अर्थात् पूँजी पर विचार किया जाता है। पहले यह जान लेना चाहिये कि पूँजी किसे कहते हैं।

पूँजी किसे कहते हैं—इस पुस्तक के आरम्भ में यह बताया जा चुका है कि धन किसे कहते हैं। धन का उपयोग दो तरह होता है, या तो वह हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के काम मे आता है, अथवा वह और अधिक धन पैदा करने में सहायक हो सकता है। यह दूसरे प्रकार का धन पूँजी कहलाता है। हाँ, इस धन में 'भूमि' की गणना नहीं होती, जो प्रकृति-दत्त है, जो मनुष्य को बिना श्रम प्राप्त होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भूमि के अतिरिक्त जो धन और अधिक धन पैदा या तैयार करने मे लगाया जाय, वह पूँजी है। इसे मूलधन भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत विविध वस्तुएँ सम्मिलित हैं, यथा कच्चा पदार्थ, श्रमियों के मकान, कार्यालय या कारखाने, औजार, यन्त्र, कल, मशीन, श्रमियों को दिया जाने वाला

वेतन (वह जिन्स में हो या नकद), किसानों के हल, बैल, बीज, अन्य पशु आदि जिन का और अधिक धन की उत्पत्ति में उपयोग हो।

साधारणतया आदमी पूँजी का अर्थ रुपया समझते हैं, परन्तु आजकल पूँजी में नकद रुपये का भाग बहुत कम होता है, अधिकतर उसमें मकान मशीन आदि अन्य वस्तुएँ होती हैं, हाँ इन सब वस्तुओं का मूल्य रुपये में आँका जाता है।

धनोत्पत्ति में पूँजी का स्थान—आरम्भ में धनोत्पत्ति के मुख्य साधन भूमि और श्रम ही होते हैं; पूँजी से धनोत्पादन में सहायता मिलती है, किन्तु उसके बिना भी धनोत्पन्न होना असम्भव नहीं है, हाँ, वह कम मात्रा में होगा। उदाहरणवत् एक आदमी जंगल में जाकर, लकड़ियाँ संग्रह करता है, कुल्हाड़ी आदि न होने से वह पेड़ से लक-ड़ियाँ नहीं काट सकता, उसे उन्हीं पर सन्तोष करना पड़ता है, जो टूटी हुई पड़ी हैं, या जिन्हें वह अपने हाथ से तोड़ सकता है। फिर, उसके पास उनको बाँधने के लिए रस्सी तथा उनको ढोकर लाने के लिए गाड़ी या गधा आदि न होने से वह उतनी लकड़ी लाता है, जितनी वह अपने हाथों के सहारे ला सकता है। कुल्हाड़ी, रस्सी, गाड़ी या गधा आदि उसके लिए पूँजी है। इस पूँजी के अभाव से उसे धन पैदा करने में असुविधा होती है, तथा वह बहुत कम परिमाण में ही धन पैदा कर सकता है। इस उदाहरण में पूँजी उसकी धनोत्पत्ति में सहायक अवश्य है, परन्तु उत्पत्ति का मूल साधन न होकर गौण साधन है।

यह आरम्भ की बात हुई। क्रमशः धनोत्पत्ति में पूँजी का महत्व बढ़ता जाता है। पहले धनोत्पादन छोटी मात्रा में होता था, श्रमी स्वयं अकेला या अपने परिवार वालों की सहायता से काम करता था। उसमें साधारण थोड़े से औजारों (पूँजी) की आवश्यकता होती थी। अब धनोत्पत्ति बड़ी मात्रा में होती है। सहस्रों श्रमजीवी एक ही स्थान पर काम करते हैं, उनके लिए बहुत बड़े विशाल कार्यालय की जरूरत होती है जिसके बनाने में हजारों और कभी कभी लाखों रुपये लगते हैं। पुनः इस कार्यालय में साधारण औजारों से काम नहीं चलता, बहुत कीमती मशीनों की जरूरत होती है। काम करने वाले सहस्रों श्रमी अपने तौर से स्वतन्त्र रूप से, श्रम नहीं करते। वे वेतन-भोगी होते हैं। उनके वेतन में प्रति मास (या प्रति सप्ताह) बहुत सा द्रव्य खर्च होता है। इन कारखानों में कच्चे माल के लिए भी काफी रुपया चाहिए। इस प्रकार बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की भिन्न भिन्न मद्दों में बहुत द्रव्य की आवश्यकता होती है। वही व्यक्ति या व्यक्ति-समूह यह बड़ी मात्रा की उत्पत्ति कर सकता है, जिसके पास काफी पूँजी हो। यह बात थोड़ी पूँजी वालों के बस की नहीं है। यदि ये लोग छोटी मात्रा की उत्पत्ति करके वैसा माल तैयार करने का प्रयत्न भी करें तो वह अपेक्षाकृत मँहगा होता है, और बड़ी पूँजी वालों द्वारा कारखानों में तैयार होने वाले माल से प्रति-योगिता नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट है, कि आज कल धनोत्पादन में पूँजी का महत्व बहुत अधिक है। यही नहीं कि बिना पूंजी के धनो-त्पादन नहीं हो सकता, वरन् जिसके पास पूँजी अधिक है, धनोत्पत्ति के

क्षेत्र में वही सर्वेसर्वा होता है, वह उत्पत्ति के अन्य सब साधनों का स्वामी होता है, और छोटी पूँजी वालों को सहज ही आर्थिक दृष्टि से पराजित कर डालता है।

पूंजी के भेद, चल और अचल पूंजी—कुछ पूंजी ऐसी होती है, जो धनोत्पादन में बहुत समय काम नहीं आती, एक ही बार के उपयोग में, थोड़े ही समय में, खर्च हो जाती है। उदाहरणार्थ, खेती में जो बीज काम में आता है, वह पूर्णतया खर्च हो जाता है, फिर दूसरी बार उसका उपयोग नहीं हो सकता। इसी प्रकार मजदूरों को दिये जाने वाले वेतन, कल-कारखानों में काम आने वाले कच्चे माल, तथा कोयले आदि की बात है। यह चल पूंजी* है, इसे अस्थायी या जंगम पूँजी भी कहते हैं।

इस पूँजी का बदला या प्रतिफल जल्दी और एक साथ ही मिल जाता है। इसलिये इसको लगाने वाला भली भाँति विचार कर लेता है कि प्रतिफल इससे अधिक मूल्य का मिले, तभी इसका उपयोग किया जाय। बीज तभी बोया जाता है, जब उससे अधिक पैदावार होने की आशा होती है। मजदूरों को वेतन देते समय इस बात का विचार किया जाता है, कि उनसे जो काम हुआ है, उसका मूल्य उनके वेतन से किसी प्रकार कम न रहे।

जो पूँजी बहुत समय तक काम आती रहती है, एक ही बार के उपयोग में खर्च नहीं हो जाती, उसे अचल पूँजी कहते हैं। किसान के

* Curculating Capital

बैल बार-बार कई वर्षों तक खेती के काम में आते हैं; व्यवसाय-पति कारखाने के लिये जो इमारतें बनवाता है, उनमें चिरकाल तक धनोत्पादन की क्रिया होती रहती है, रेलों की पटरी एक बार लगा दी जाने पर, मुद्दत के लिये उससे निश्चिन्तता हो जाती है। मशीन, औजार, जहाजों आदि की भी यही बात है। इस प्रकार की पूँजी, स्थायी पूँजी* कहलाती है, इसे अचल स्थिर या स्थावर पूँजी भी कहते हैं। स्मरण रहे कि स्थिति-भेद से चल पूँजी अचल हो सकती है। कल्पना करो, एक कारखाने में आटा पीसने, सूत कातने या कपड़ा बुनने की मशीनें बनती हैं। ये मशीनें उस कारखाने के लिये चल पूँजी हैं, वह इनका उपयोग एक ही बार कर सकता है, उन्हें बेचने पर उन कारखाने वालों को उनकी कीमत मिल जायगी। परन्तु जो व्यक्ति इन मशीनों को मोल लेकर आटा पीसने, या सूत कातने या कपड़ा बुनने का काम करेगा, उसके लिये ये मशीनें बहुत समय तक धनोत्पत्ति का काम करेंगी, अतः उसकी दृष्टि से ये अचल पूँजी होंगी।

अचल पूँजी का बदला देर में मिलता है। जब तक उसका उपयोग होता रहता है, तब तक धीरे धीरे उसकी लागत तथा उससे होने वाला लाभ वसूल होता रहता है। इस पूँजी के लगाने वाले को लाभ के लिये बहुत समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इसमें चल पूँजी की अपेक्षा लाभ भी प्रायः अधिक होता है। परन्तु वह बहुत समय में होता है, इसलिये इस पूँजी को लगाने से पूर्व यह विचार

---

*Fixed capital

किया जाता है, कि यह पूँजी कितने समय तक काम देगी, और उस समय तक इसमें कितना लाभ होगा।

पूँजी भूमि की तरह एक निष्क्रिय साधन है, उससे श्रम का (एव भूमि का) सहयोग प्राप्त किये बिना किसी प्रकार की धनोत्पत्ति नहीं हो सकती। पूँजी प्रकृति-दत्त पदार्थ नहीं है, जैसे कि भूमि है; वह श्रम का फल है। पूँजी, भूमि की तरह, अमर नहीं है, वरन् वह नाशमान है। चल पूँजी का तो ह्रास शीघ्र हो ही जाता है, अचल पूँजी अर्थात् मकान और मशीनों का भी थोड़ा बहुत ह्रास होता ही रहता है, और यदि उनकी बराबर देख-भाल, मरम्मत या सुधार न होता रहे तो वे टूट-फूट, घिसावट या अन्य प्रकार से बेकाम हो जायँ; अग्नि, भूकम्प या बाढ़ आदि से तो अचल पूँजी भी बहुत जल्दी ही नष्ट हो जाती है।

पूँजी के उपर्युक्त भेदों पर विचार कर चुकने पर अब हम कृषि-पूँजी, व्यवसाय-पूँजी, तथा सरकारी पूँजी के सम्बन्ध में सक्षेप से लिखते हैं।

कृषि-पूँजी—यद्यपि कृषि-प्रधान देशों की अधिकतर पूँजी कृषि-सम्बन्धी ही हुआ करती है अलग अलग किसानों की पूँजी प्रायः कम ही होती है।

हमारे देश में तो किसानों की नकद पूँजी नहीं के ही बराबर है। ऋण के वास्ते इन्हें अत्यधिक सूद देना पड़ता है। तिस पर भी देहातों में काफी रुपया नहीं मिलता; क्योंकि देहातों के महाजन भी तो गरीब हैं। किसानों की साधारण पूँजी हल, फाल, खुरपी, कुदाली, पानी खींचने का चरसा

या रहट आदि होती है, किसी-किसी किसान के पास बैल तथा बैल-गाड़ी भी रहती है। फुरसत के दिनों में वह हल के बैलों को गाड़ी में जोतकर बोझ लादने का काम करता है। उक्त वस्तुओं में बीज, जो किसान खेतों में बोता है, और खाद, जो खेतों में डालता है, इनको शामिल कर लेने से प्रायः किसानों की पूँजी का पूरा योग हो जायगा। बहुधा किसानों के पास खाने से कुछ बच ही नहीं सकता। उन्हें डेवढ़े या सवाए के करार पर महाजनों से बीज उधार लेना पड़ता है। ऐसे किसान बहुत कम मिलेंगे, जिनकी सब पूँजी अपनी है, और जो काम-चलाऊ पूंजी के अलावा भावी आवश्यकता के लिए कुछ जमा भी रख सकें। भारतवर्ष में बीमा कराने की प्रथा अपेक्षाकृत कम है; किसानों में तो यह मानों आरम्भ ही नहीं हुई। उनकी जिंदगी का, या चारे, फसल, बैल आदि का बीमा नहीं होता। सुरक्षित पूंजी का प्रायः अभाव रहता है। हाँ, कुछ किसान अच्छी फसल होने की दशा में, अपनी अन्य आवश्यकताओं को मर्यादित रख कर कभी-कभी विशेषतया स्त्रियों के लिए थोड़े-बहुत जेवर बनवा देते हैं; बस, सकट-काल में इन्हीं पर उनकी नजर पड़ती है।

पशु—अन्य उपयोगी पदार्थों की तरह पशु भी देश की बड़ी संपत्ति हैं। कृषि-प्रधान भारत के लिए तो इनका महत्व और भी अधिक है। अन्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष पशु-धन में बहुत दरिद्र है। इङ्गलैंड अमरीका आदि कई पाश्चात्य देशों में, जो कृषि-प्रधान भी नहीं हैं, न केवल प्रति व्यक्ति पशुओं की संख्या भारतवर्ष की तुलना में, अधिक है, वरन् वहां के पशु अधिक बलवान, तथा नीरोग

हैं, और अधिक दूध देने वाले हैं, यद्यपि भारतवर्ष के विस्तृत क्षेत्र, भिन्न भिन्न प्रकार की प्राकृतिक स्थिति, जल-वायु तथा विशाल जंगल यहां पशुओं के लिए बहुत अनुकूल है। यहां मुख्य पशु ये हैं:—गाय भैंस दूध के लिए रखी जाती है। बैल खेती करने, गाड़ियां चलाने, और पानी खींचने आदि के काम आते हैं, इन कार्यों में भैंसो से भी सहायता ली जाती है। भेड़ बकारियों को दूध तथा मांस एवं ऊन के लिए पालते हैं। घोड़े सवारी के काम, और गधे तथा खच्चर माल ढोने के काम आते हैं। ऊंट रेगिस्तान अर्थात् रेतीली भूमि में माल ढोने के लिए विशेष उपयोगी हैं। समुद्रों तथा नदियों के किनारे के स्थानों में मछलियां खाने के काम आती हैं। पशुओं से खाल, हड्डी, चर्बी, तथा सींग आदि भी मिलते हैं।

पिछली पशु-गणना (सन् १९३५ ई०) के अनुसार यहां कुछ पशुओं की संख्या निम्न लिखित थी :—

गाय और भैंस	१५ करोड़	२० लाख
भेड़ और बकरिया	४ ”	८० ”
घोड़े, खच्चर और गधे	१ ”	५० ”
ऊंट		१० ”

पशुओ से चारे का घनिष्ट सम्बन्ध है। अब भारत के बहुत से ग्रामों में पशुओं के चरागाह तक जोत डाले जाते हैं और पशुओं को भर-पेट चारा नहीं मिल सकता। यद्यपि प्रत्येक हिन्दू-गृहस्थ के लिए एक गाय रखना आवश्यक कर्तव्य है, परन्तु वर्तमान अवस्था में यह

कार्य बहुत ही कठिन हो गया है। बहुत से आदमी चारे के अभाव में अपने गाय-बछड़ों को कसाई के हाथ नहीं बेचते, तो उसे किसी गोशाला या पिंजरा-पोल में छोड़कर उससे निश्चिन्त हो जाते हैं।

भारतवर्ष में अब गउओं की कमी के मुख्य कारण ये हैं—(१) चमड़े के व्यापार के लिए लाखों गायें प्रति वर्ष मारी जाती हैं। यहाँ से बहुत सी खालें विदेशों को भेजी जाती हैं, शेष यहाँ काम में लाई जाती हैं। (२) फ़ौजी गोरे गो-मांस खाते हैं। इनके वास्ते अनुमान से लगभग डेढ़ लाख पशु प्रति वर्ष मारे जाते हैं। (३) मुसलमान गाय की क़ुर्बानी करते हैं। इनकी संख्या गोरों के लिए मारी जानेवाली गउओं की संख्या से बहुत कम है और राष्ट्रीय जागृति होने से इसमें और भी कमी होती जाती है। (४) बहुत-सी अच्छी अच्छी गउएँ विदेशों को ले जाई जाती हैं। कहना नहीं होगा, गउओं की कमी के इन कारणों को दूर करने की अत्यन्त आवश्यकता है। कुछ समय में गाय-बैल की नस्ल सुधारने के हेतु अच्छे सांडों की व्यवस्था की जाने लगी है, परन्तु जब कि पशुओ के चरने के लिए काफी चरागाह नहीं हैं, तथा किसान इतने निर्धन हैं कि वे पशुओं को पौष्टिक पदार्थ तो क्या, अच्छा भोजन भी भर-पेट नहीं दे सकते, केवल सांडों की व्यवस्था से क्या लाभ हो सकता है।

व्यवसाय-पूँजी—प्रत्येक उद्योग धन्धे और व्यवसाय के लिये पूँजी की आवश्यकता होती है। और जब व्यवसाय करनेवाले के पास अपनी पूँजी काफी नहीं होती, वह या तो दूसरे पूँजीवाले को उस काम में साझीदार बनाता है, जिससे उसकी भी पूँजी उक्त व्यवसाय में

लग जाय, अथवा जब दूसरा कोई व्यक्ति उस व्यवसाय से होनेवाले हानि-लाभ में भागीदार होनेवाला नहीं मिलता, तो भिन्न भिन्न व्यक्तियों से उसे ऋण लेना पड़ता है। आजकल तो व्यवसाय-कार्य बड़े पैमाने पर होता है। आधुनिक कल कारखानों में पर्याप्त पूँजी लगाना बहुधा एक आदमी के वश का होता ही नहीं। इसलिये बहुत से आदमियों की थोड़ी थोड़ी पूँजी मिला कर, मिश्रित पूँजी की कम्पनियां स्थापित की जाती हैं।

अब यह विचार करते हैं कि भारतवर्ष में उद्योग धन्धों के वास्ते पूँजी की कैसी स्थिति है। पहले देशी पूँजी की बात लें। हमारे देहातों और साधारण कस्बों में बैंकिंग या महाजनी की कोई सङ्गठित व्यवस्था नहीं है। आदमी डाकखानों के सेविंग बैंकों में, तथा कुछ वर्षों से सहकारी बैंकों में अपनी बचत का रुपया जमा करने लगे हैं। परन्तु साधारणतया स्थानीय आवश्यकताओं के लिए गाँव का महाजन ही पूँजी देता है। वह अपनी पूँजी नए कामों में बहुत कम लगाता है। कहीं-कहीं स्थानीय पूँजी से आटा पीसने की चक्कियां या धान से चावल निकालने की मिलें आदि चलायी जाती हैं। बड़े-बड़े ग्रामों या नगरों में उद्योग-पूँजी की दशा कुछ सन्तोषजनक है, परन्तु यहां भी कुछ कठिनाइयां हैं। वर्तमान बैंकों की पद्धति औद्योगिक दृष्टि से हितकर नहीं है। उद्योग-धंधों के वास्ते जैसी बड़ी अवधि के लिए रुपया चाहिए, उसके मिलने की सङ्गठित व्यवस्था नहीं है। सहकारी बैंक जुलाहों आदि छोटे कारीगरों के लिए ही उपयोगी होते हैं। अस्तु, उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए यथेष्ट पूँजी की व्यवस्था होने की अत्यन्त आवश्य-

कता है। प्रत्येक प्रान्त में वहां की परिस्थिति और आवश्यकताओं का विचार करते हुए, अच्छे औद्योगिक बैंक होने चाहिए। भारतवर्ष में उद्योग-धन्धों और बैंकों में जितनी स्वदेशी पूँजी लगी है, उसकी अपेक्षा विदेशी पूँजी कहीं अधिक है। फिर, सरकार ने जो रेल, डाक, तार, नहर आदि का कार्य किया है, वह अधिकतर विदेशी पूँजी से किया है; अकेले रेलों में लगभग नौ अरब रुपए लगे हुए हैं। इससे यहां विदेशी पूँजी के विशाल परिमाण का अनुमान सहज ही हो सकता है।

मशीनें और इमारतें—कृषि हो या कोई उद्योग-धंधा, सभी में कुछ आवश्यकता चल पूँजी की होती है, तो कुछ अचल पूँजी की। हाँ, औद्यगिक कार्यों में अचल पूँजी अधिक लगाने, अथवा चल पूँजी को सुविधानुसार क्रमशः अचल पूँजी में बदलने की प्रवृत्ति बहुत अधिक होती जाती है। पहले एक कार्य या उसके किसी उप-विभाग की क्रिया श्रमियों द्वारा होती है, इसमें श्रमियों को दिये जाने वाले वेतन में चल पूँजी लगती है। क्रमशः यह विचार किया जाता है कि किस प्रकार उक्त कार्य या उसके उपविभाग की क्रिया मशीन द्वारा होने लगे, उसमें एक बार इकट्ठी ही पूँजी लग जाय, और श्रमियों की आवश्यकता न रहे अथवा वह बहुत कम हो जाय, जिससे उनके वेतन में दी जाने वाली पूँजी या उसका अधिकांश भाग मशीन रूपी अचल पूँजी में बदल जाय। इस प्रकार पूंजी के अन्तर्गत मशीनों का भाग बहुत बढ़ गया है, तथा बढ़ता जा रहा है। यहाँ तक कि इस युग को मशीनों का युग कहा जाता है। मशीनों के साथ,

उद्योग धंधों के लिए, बड़ी-बड़ी इमारतों की भी बहुत वृद्धि हो रही है। हमारे बड़े बड़े नगरों में ही नहीं, कस्बो तक में कल कारखानों के लिए बनी हुई खास ढंग की इमारतें हैं। तथापि आधुनिक उन्नत औद्योगिक देशों से भारतवर्ष बहुत पीछे है, और अभी यहां मशीनों एव इमारतों की उन्नति और वृद्धि की बहुत गुंजायश है।

यातायात और सम्वाद-वाहन के साधन—पूंजी के अन्तर्गत यातायात* सम्वाद-वाहन† और सिंचाई के साधन भी सम्मिलित हैं। देश के भीतर यातायात के मुख्य साधन पहले सड़कों के अतिरिक्त नहर या नदी आदि जल-मार्ग होते थे। उन्नीसवीं शताब्दी में क्रमशः रेलों का निर्माण तथा प्रचार हुआ। आधुनिक काल में आकाश मार्ग द्वारा, हवाई जहाजों से माल भेजने के प्रयत्न आरम्भ हो गये हैं, इनकी अभी शैशव अवस्था कही जा सकती है, परन्तु इनका भविष्य बहुत होनहार मालूम होता है। आशा है कि इनकी उत्तरोत्तर वृद्धि एवं उन्नति होगी, और एक समय ऐसा आ जायगा कि प्रबन्धक को बिक्री का माल इनके द्वारा ही भेजने में किफायत रहेगी, अथवा जब इनसे खर्च कुछ अधिक भी होगा, तो जल्दी के विचार से इनका उपयोग करना अपेक्षाकृत अधिक लाभजनक होगा।

विदेशों में माल कहीं जलमार्ग से भेजा जाता है, कहीं स्थलमार्ग से। स्थलमार्ग में यातायात रेल-पथ और सड़कों से होती है,

* Transportion

† Communication

और जलमार्ग में भाफ से चलने वाले जहाजों का उपयोग होता है। क्रमशः इन सब में ही उन्नति हो रही है। तथापि जैसा कि पहले कहा गया है, हवाई जहाजों की आधुनिक उन्नति को देखते हुए ऐसा अनुमान होता है कि भविष्य में उनका स्थान सब से आगे होगा।

माल मँगाने और भेजने में पत्र-व्यवहार तथा सम्वाद भेजने से बड़ी सहायता मिलती है। प्राचीन काल में यह कार्य बहुत मँहगा, तथा समय-साध्य था—अब इसमें बहुत प्रगति हो गई है, तथा उत्तरोत्तर हो रही है। डाक, तार, टेलीफोन, बेतार का तार आदि साधनों में खूब उन्नति होती जाती है। डाक से तो निर्धारित वजन तक के पार्सल भी आते जाते हैं। तार से माल के आर्डर ही नहीं, उसके मूल्य-स्वरूप रुपया भी आता जाता है। बेतार के तार का उपयोग अभी उपर्युक्त प्रकार से सर्वसाधारण के उत्पादन कार्य में सहायक के रूप में नहीं हो रहा है, पर भविष्य में ऐसा होने का अनुमान है।*

सिंचाई के साधन—सिंचाई के साधनों की भी पूँजी में ही गणना होती है, अतः यहाँ इनका विचार किया जाता है। इस खंड के दूसरे अध्याय में यह बताया जा चुका है कि भारतवर्ष के कुछ भाग ऐसे हैं, जिनमें वर्षा बहुत कम होती है, तथा कुछ भागों में वर्षा काफी होने पर भी अनिश्चित रहती है। फिर, चावल और गन्ने आदि की कुछ फसलें ऐसी हैं, जिन्हें जल काफी और नियमित रूप से मिलना चाहिए; वर्षा से बहुत कम स्थानों में ऐसा होता है। इसके अतिरिक्त, जन-संख्या

---

* इस सम्बन्ध में विशेष बातें आगे 'व्यापार के साधन' शीर्षक एक स्वतन्त्र अध्याय में लिखी जायँगी।

की वृद्धि के कारण साल में दूसरी फसल की आवश्यकता होती है; और, अधिकांश जन-संख्या की आजीविका का मुख्य आधार कृषि ही है। इन सब कारणों से यहाँ सिंचाई की आवश्यकता स्पष्ट है।

सिंचाई के लिए यहाँ कुएं और तालाब तो प्राचीनकाल से हैं, परन्तु नहरों का उल्लेख विशेषतया मुसलमानों के समय से ही मिलता है। संयुक्तप्रान्त, पंजाब, मदरास, बम्बई और बिहार में कुओं से सिंचाई होती है; पंजाब, संयुक्तप्रान्त और मदरास में नहरों से भी बहुत काम लिया जाता है। मैसूर, हैदराबाद, पूर्वी मदरास, राजपूताना और गुजरात में तालाब सिंचाई के काम आते हैं; मदरास के पूर्वी भाग में कुछ तालाबों का घेरा कई-कई मील है। कुएं प्रायः कृषकों के स्वयं बनावाए हुए हैं, कहीं-कहीं धनी मानी या परोपकारी सज्जनों ने बनवा दिए हैं; सरकार ने भी कुछ दशाओं में उनके लिए सहायता दी है। तालाब जनता तथा सरकार दोनों के ही द्वारा बनवाए गए हैं। नहरों का बनवाना साधारण आदमियों के बश की बात नहीं, इन्हें तो राजा-महाराजा अथवा सरकार ही बनवा सकती है।

भारतवर्ष में सरकारी नहरों के दो भेद हैं:—(१) उत्पादक, जिनसे इतनी आय हो जाय कि उनके चलाने का खर्च तथा उनमें लगी हुई पूँजी का सूद आदि निकल सके और कुछ लाभ भी हो जाय, (२) रक्षात्मक, जिनसे ऐसी आय नहीं होती कि आवश्यक खर्च निकालने के बाद उनमें लगी हुई पूँजी का सूद निकल सके। ये कार्य दुर्भिक्ष-निवारण के लिए किए जाते हैं। भारतवर्ष में नहरों के निर्माण में

MAP OF INDIA
(IRRIGATION)
70
80
90
100
30
20
10
ARABIAN
SEA
BAY OF
BENGAL
TANK STORAGE
AREAS.
CANAL IRRIGATED
AREAS.
M. ISMAIL
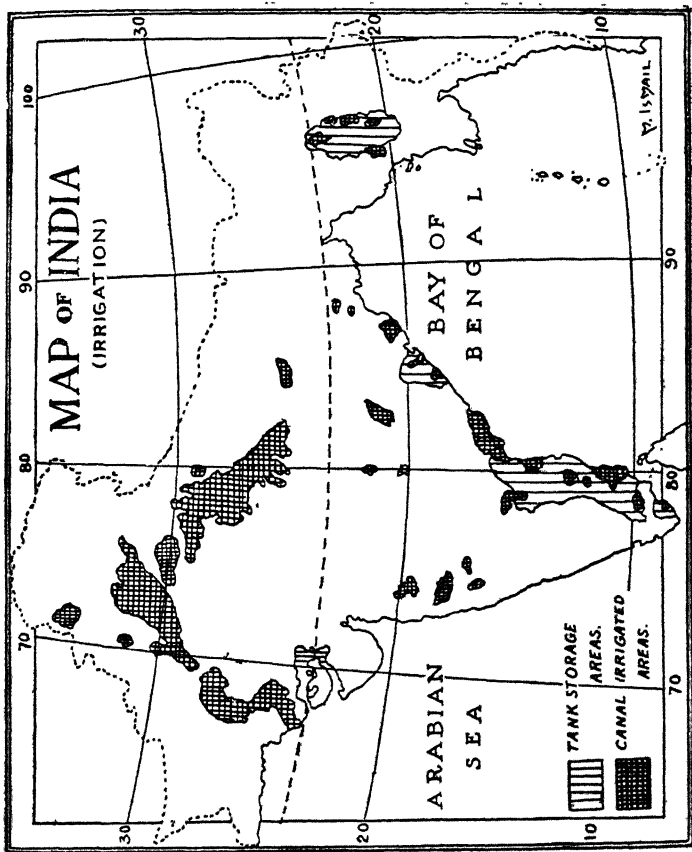
भारत में आबपाशी

विशेष ध्यान इसी शताब्दी में दिया गया है। सन् १६०३ ई० के आब-पाशी-कमीशन की रिपोर्ट के बाद सरकार ने कई नहरें बनवाई हैं। पंजाब में नहरें निकलने से कई जगह अच्छी सुन्दर नहरी बस्तियाँ या उपनिवेश (कालोनी) हो गए हैं। इनकी पैदावार तथा आबादी पहले से कई गुना बढ़ गई है। संयुक्तप्रान्त में गंगा और यमुना की नहरों के अतिरिक्त शारदा नहर निकाली गई है, इससे कई लाख एकड़ भूमि में आबपाशी होगी। सिंध में सक्खर बाँध बनाया गया है, जिससे सिन्ध की लाखों एकड़ बंजर भूमि हरी-भरी और खूब उपजाऊ होने की आशा है।

सन् १८७८-७६ में यहाँ नहरों से केवल १ करोड़ एकड़ भूमि सींची जाती थी। इस शताब्दी के आरम्भ में लगभग दो करोड़ एकड़ भूमि की आबपाशी होने लगी। सन् १६३४-३५ ई० में यह क्षेत्रफल बढ़कर दो करोड़ निन्नानवे लाख एकड़ हो गया जब कि जोती हुई सम्पूर्ण भूमि २३ करोड़ २६ लाख एकड़ थी।

आबपाशी के साधनों में लगी हुई पूँजी सन् १६००—०१ में ४२ करोड़ रुपये थी, सन् १६३४—३५ में यह रकम १५० करोड़ ८६ लाख रुपये थी। सन् १६३४—३५ में कुल आय १२,३४ लाख रुपये, और संचालन व्यय ४६२ लाख रुपये था। इस प्रकार विशुद्ध आय ७४२ लाख रुपये रही। यह कुल पूंजी पर ४.६ प्रतिशत के हिसाब से है।

समुद्र के निकटवर्ती तथा अन्य जिन प्रान्तों में हवा निरंतर चलती है, वहां हवा से चलनेवाले रहँट द्वारा कुओं से जल निकालने की

विधि बहुत लाभकारी हो सकती है। संयुक्त-प्रांत आदि कुछ प्रांतों में 'ट्यूब वेल' नामक कुओं का प्रचार बढ़ता जा रहा है; इन्हें 'पाताल-फोड़' कुएं कहते है। इनकी गहराई बहुत अधिक होती है, जहां से पानी का अनंत स्रोत मिलता है। इन कुओं में, सिंचाई आदि के लिए जल की कमी नहीं होती। जल निकालने का काम विद्युत-शक्ति से लिया जाता है, जिसके विषय में अन्यत्र लिखा गया है।

अभ्यास के प्रश्न

(१) पूंजी की ठीक ठीक परिभाषा दीजिए। सम्पत्ति की उत्पत्ति में इसका क्या महत्व है? भारत में पूंजी के मंदे विकास का कारण बताइए? (१९३५)

(२) पूंजी का आप क्या अर्थ लगाते हैं? इसकी पूर्ति किन शर्तों पर निर्भर रहती है और हमारे गांवों में इन शर्तों की कहां तक पूर्ति होती है? (१९२९)

(३) अचल पूंजी को परिभाषा दीजिए। पूंजी के उपयोग से श्रम की उत्पादकता कैसे बढ़ जाती है? सम्पत्ति की उत्पत्ति में हमको रेल से क्या सहायता मिलती है? (१९३६)

(४) भारत में कृत्रिम आबपाशी के मुक्य साधन क्या हैं? यू० पी० में नहरों द्वारा होने वाली आबपाशी के प्रधान लाभ समझाइए। क्या कारण है कि कुछ नहरों से सरकार को लाभ होता है और कुछ से हानि होते हुए भी चालू रखी जाती हैं? (१९३५)

(५) यू० पी० में आबपाशी की सुगमता और साधनों का वर्णन कीजिए। उनमें कहां तक विस्तार किया जा सकता है? किसान को आबपाशी से क्या लाभ होता है? (१६३२)

(६) भारत को सिंचाई से जो आर्थिक लाभ पहुँचता है उसे यू० पी० व पंजाब की कुछ लम्बी नहरों को उदाहरण स्वरूप लेकर समझाइए। (१६२७)

(७) ग्रामों में पशुओं की दशा सुधारने के तरीके लिखिए।

(८) भारत में किसानों की पूंजी की क्या दशा है? उनकी पूंजी किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है?

(९) मशीनों के उपयोग से जो हानि लाभ होते हैं उनका वर्णन कीजिये।

पन्द्रहवाँ अध्याय

—:o:—

व्यवस्था

प्राक्कथन—उत्पत्ति के तीन साधनों—भूमि, श्रम और पूँजी—का विचार हो चुका। परन्तु उत्पादन-कार्य तभी सम्भव है, जब इन तीनों की समुचित व्यवस्था हो। अब तो बहुत धनोत्पादन बड़ी मात्रा में, तथा कल-कारखानों द्वारा होने से व्यवस्था* की आवश्यकता और भी बढ़ गई है। इसलिए आधुनिक अर्थ-शास्त्र में इसे उत्पत्ति का पृथक् साधन माना जाने लगा है। इस अध्याय में व्यवस्था और बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

व्यवस्था में प्रबन्ध का स्थान—व्यवस्था के अन्तर्गत दो कार्य हैं—प्रबन्ध† और साहस‡। कल कारखानों में पृथक्-पृथक् आदमी के श्रम के स्थान पर बहुत से आदमियों को इकट्ठे काम करना पड़ता है। इस दशा में निरीक्षण या प्रबन्ध करनेवाले की बहुत जरूरत पड़ती है। प्रबन्धक सदैव यह विचारता रहता है कि उत्पादक साधनों से किस

---

* Organisation

† Management

‡ Erterprise

प्रकार तथा किस अनुपात में काम लिया जाय कि उत्पत्ति अधिक से अधिक हो। जो रीति या साधन मँहगे होंगे, उनके स्थान में वह सस्ते की खोज करके, उन्हें बदल देगा। प्रबन्ध का कार्य निम्नलिखित होता है:—

(१) कारखाने में भिन्न-भिन्न प्रकार की आवश्यक योग्यता-वाले मनुष्यों को इकट्ठा करना और उनसे श्रम-विभाग के विकसित सिद्धांतों के अनुसार अधिक से अधिक काम लेना।

(२) कारखाने की जायदाद का निरीक्षण करना और अच्छे, बढ़िया यंत्रों और औजारों का इस्तेमाल कराना।

(३) उत्पत्ति के भेद, मात्रा तथा समय का निश्चय करना।

(४) आवश्यक कच्चे पदार्थों को समय पर तथा उचित मात्रा में मोल लेना, तैयार माल को अच्छे मूल्य में बेचने का प्रबन्ध करना।

(५) व्यापार के उतार-चढ़ाव का पूर्ण ज्ञान रखना और उससे समुचित लाभ उठाना।

साहस—व्यवस्था के अन्तर्गत, प्रबन्ध के अतिरिक्त दूसरा कार्य साहस है। धनोत्पादन के लिए एक चीज बनाने या पैदा करने का विचार पहले किसी के मन में अवश्य आना चाहिए, और इस विचार को उसे कार्य-रूप में परिणत करने का साहस करना चाहिए। सम्भव है, दूसरे आदमियों को उसकी सफलता में संशय हो; साहसी को अपने उत्पादन-कार्य के हानि लाभ की जोखम उठानी पड़ती है। साहसी का

काम पूँजी लगानेवालो के काम से पृथक् है। साहसी पूँजी उधार लेकर, अथवा कम्पनियो की सहायता से, अपना काम चला सकता है; वह उस काम के संचालन और हानि-लाभ आदि की सब जिम्मेदारी उठाता है। बहुत-से आदमी बिना जोखम की, और निश्चित आमदनी चाहते हैं। वे उस से अधिक नहीं मांग सकते, और उससे कम भी स्वीकार नहीं करते। परन्तु साहस का प्रतिफल निर्धारित नहीं होता, वह सर्वथा अनिश्चित और अस्थायी होता है। वह बहुत अधिक भी हो सकता है, और बहुत कम भी; यहाँ तक कि यह भी सम्भव है, कि किसी उत्पादन कार्य में हानि रहे, और साहसी को अन्य उत्पादक साधनों का कुछ प्रतिफल स्वयं अपने पास से चुकाना पड़े।

अन्य साधनों के स्वामी अपने अपने साधन का प्रतिफल उससे माँगते हैं, भूमि वाला लगान माँगता है, श्रमी वेतन, पूँजी वाला सूद और प्रबन्धक अपना वेतन। परन्तु साहसी अपने साहस का प्रतिफल किसी से न माँग कर, उत्पन्न वस्तु में से, औरो का हिस्सा चुका कर, ले सकता है। इसलिये वह चाहता है कि अन्य साधनो के लिये होने वाला खर्च उत्पत्ति के अनुपात से, यथा-सम्भव कम रहे। वह समय समय पर उनकी मद्द में खर्च बढ़ाने को भी तत्पर होता है, परन्तु वह उसी दशा में ऐसा करता है, जब कि उसे व्यय के अनुपात से उत्पत्ति अधिक होने की आशा हो। साधारण भाषा में कहा जा सकता है कि वह कम से कम खर्च करके, अधिक से अधिक उत्पत्ति करने का अभिलाषी रहता है।

उपर्युक्त कथन से यह विदित है कि वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जो गम्भीर हो, और मजबूत दिल का हो, हानि सहनी पड़े तो चिन्ता-निमग्न न हो जाय, कभी हिम्मत न हार बैठे, सदैव उत्साह-युक्त रहे। वह नयी नयी योजनाओं और विचारों का अध्ययन करे, और उन्हें कार्यान्वित करने के लिये कटिबद्ध हो। कल कारखाने के हानि लाभ का उत्तरदायित्व उस पर है, इसलिये पूंजी वाले उसके विचारे हुए कार्य के लिये रुपया उसी दशा में उधार देंगे, जब कि वह विश्वसनीय हो। श्रमी और भूमिवाले भी विश्वसनीय व्यक्ति से ही सहयोग करते हैं। अतः साहसी को सबका विश्वास-पात्र होना चाहिए।

उत्पत्ति के साधनों का संगठन; ग्रामोद्योग में—प्राचीनकाल की तो बात ही क्या, आजकल भी कुछ स्वावलम्बी परिवार तथा छोटे किसान और कारीगर ऐसे मिलते हैं, जो उत्पत्ति के लिए स्वयं भूमि, श्रम और पूंजी की व्यवस्था करते हैं, अपने कार्य का स्वयं प्रबन्ध और निरीक्षण करते हैं, तथा उसके हानि लाभ की जोखम उठा लेते हैं, तथापि साधारणतया आधुनिक काल में व्यवस्था, अर्थात् उत्पादन कार्य से अधिक से अधिक लाभ उठाने का कार्य ऐसा जटिल है कि उसके लिए एक विशेष योग्यता वाले व्यक्तियों की आवश्यकता होती है; इन्हें व्यवस्थापक कहा जाता है। जब कि भू-स्वामी, श्रमी और पूंजीवाले अलग अलग समुदाय बन जाते हैं तो कोई व्यक्ति ऐसा भी होना चाहिए जो इन सब के साधनों का उत्पादन कार्य के लिए संगठन करे। इस प्रकार कोई ग्रामोद्योग उसके सहयोग बिना अच्छी तरह संचालित नहीं होता। उदाहरणार्थ खादी की उत्पत्ति का कार्य लें।

गाँव में किसान कपास पैदा करते हैं, उनसे भिन्न भिन्न परिवार कुछ खरीद लेते हैं, उसे ओटते हैं, और रूई धुननेवालों से धुनवाते हैं, पश्चात् प्रायः महिलाएं अपने अपने तौर से कातती हैं, और उसका कपड़ा बुनवाती हैं। इस प्रकार गांववाले भिन्न भिन्न प्रयत्नों के फल स्वरूप कपड़ा पाते हैं। व्यवस्थापक देखता है कि गाँव में इतना कपड़ा अमुक प्रकार का बनवाया जाता है और खर्च होता है। वह कपास खरीद कर उसे ओटवाता है, अथवा रूई खरीद लेता है, उसे धुनवाता है। फिर उसे कातने वालियो को देकर कतवाता है। इस प्रकार सूत का सग्रह करके उसका कपड़ा बुनवाता है। वह कच्चे माल की कीमत, तथा श्रमियों को मज़दूरी अपने पास से देता है, और यदि उसके पास अपनी पूँजी नहीं होती तो वह रुपया उधार लेकर इस काम में लगाता है, इस दशा में वह पैसे वाले को सूद भी स्वय देता है। अब इस कार्य में जो हानि लाभ हो इसकी जोखम वह स्वयं उठाता है! अस्तु, इस प्रकार विविध साधनों की व्यवस्था होने से खादी उत्पत्ति का कार्य पूर्वापेक्षा अधिक सुचारु रूप से हो जाता है।

कल कारखानों में—आज कल बहुत सा उत्पादन कार्य बड़े बडे कल कारखानो में होता है, उसमें सैकड़ो हज़ारों श्रमी अपने अपने घर पर स्वतंत्र रूप से नहीं, एक ही स्थान में वेतन-भोगी के रूप में काम करते हैं, वे प्रायः कोई वस्तु पूरी नहीं बनाते वरन् उत्पादन-कार्य का कोई भाग ही करते हैं। इस दशा में इनके निरीक्षण और व्यवस्था की आवश्यकता और भी अधिक होती हैं। व्यवस्थापक कच्चे माल को खरीदने, श्रमियों से काम लेने, और आवश्यक पूंजी जुटाने

का काम तो करता ही है। उसे देखना होता है कि कुल कितना माल तैयार होगा, और कहाँ कहाँ उसकी खपत हो सकेगी। वास्तव में वह खपत का बहुत कुछ अनुमान पहले ही कर लेता है, और उसके अनुसार माल तैयार कराने के लिए उत्पत्ति के विविध साधनों का संगठन करता है। कल कारखानों में माल अधिक तैयार होने से उसे प्रबन्ध-कार्य तो पहले की अपेक्षा अधिक करना ही होता है, उसके अतिरिक्त अब वह हानि लाभ की जोखम भी बहुत उठाता है।

समसीमांत उत्पत्ति-नियम—पहले कहा गया है कि व्यवस्थापक का उद्देश अधिक से अधिक नफा कमाना रहता है। बड़े पैमाने के कार्य में तो उसे विशेष रूप से यह सोचना होता है कि उत्पत्ति के किस साधन की मात्रा को कुछ घटाने और किस की मात्रा को बढ़ाने से अधिकतम लाभ होगा। दूसरे शब्दों में वह इस बात का प्रयत्न करता है कि सब साधनों की सीमान्त उत्पत्ति लगभग समान रहे, अर्थात् प्रत्येक साधन पर खर्च की जाने वाली अन्तिम एकाई (उदाहरणवत् दस रुपये, या सौ रुपये) का प्रतिफल बराबर हो। जैसे-जैसे लगान, वेतन या सूद की दर बढ़ती है, व्यवस्थापक की, भूमि, श्रम या पूंजी की मांग क्रमशः कम हो जाती है। इसी प्रकार जो साधन कुछ सस्ता हो जाता है उसे अपेक्षाकृत अधिक मात्र में लगाने का विचार किया जाता है। उसकी दृष्टि व्यावहारिक अर्थात् आर्थिक होती है। उसे भावनावश किसी साधन विशेष का पक्ष नहीं होता। उदाहरणवत् यदि उसे कुछ मज़दूरों को हटा कर उनकी जगह मशीन से काम लेने में लाभ प्रतीत हो, तो वह यह नहीं सोचेगा कि ऐसा करने से मज़दूरों

को असुविधा होगी; कम से कम, अस्थायी रूप से उनकी बेकारी बढ़ेगी। प्रबन्धक को इस बात से क्या मतलब? वह तो प्रत्येक वस्तु को उसकी अधिक या कम उपयोगिता के अनुसार ग्रहण करता है या उसका परित्याग करता है। जो रीति या साधन कम उत्पादक होगा, उसकी जगह वह अधिक उत्पादक रीति या साधन को काम में लायेगा।

प्रबन्धक उत्पत्ति के विविध साधनों में इस प्रकार व्यय करता है कि प्रत्येक साधन में व्यय होने वाली रक़म की अंतिम एकाई का प्रतिफल दूसरे किसी भी साधन में व्यय होने वाली रक़म की अंतिम एकाई के प्रतिफल के समान हो। जब तक ऐसा न हो, वह अधिक मात्रा वाले साधन की मात्रा को आवश्यकतानुसार घटा कर उसकी जगह दूसरे साधन की मात्रा कुछ बढाता रहता है। इसे 'समसीमान्त उत्पत्ति-नियम'* या 'प्रतिस्थापन सिद्धान्त'† कहते हैं।

इस सिद्धान्त का उपयोग—इस सिद्धान्त का उपयोग दो प्रकार से होता है:—(१) उत्पत्ति के एक साधन की जगह दूसरे साधन को काम में लाने से, और (२) किसी साधन के एक भेद की जगह उसी साधन के दूसरे भेद को काम में लाने से। प्रथम प्रकार के उदाहरण के तौर पर कल्पना करो कि व्यवस्थापक को यह ज्ञात होता है कि कारखाने के किसी विभाग में, मजदूरी की मद्द में दस हजार रुपया खर्च करने की अपेक्षा यह अधिक लाभदायक होगा कि

---

* Law of equi-marginal Productivity.

† Principle of Substitution.

उसमें पाँच हज़ार ही रुपया खर्च किया जाय और पाँच हज़ार से कोई मशीन लेकर लगा दी जाय। इस पर वह मज़दूरों की संख्या कम करके (उनकी मज़दूरी में दी जाने वाली रक़म को घटा कर) एक मशीन बढ़ा लेगा। इसी प्रकार जब वह भूमि की मात्रा कम करके थोड़ी भूमि में ही अधिक पूँजी या अधिक श्रम लगाने में लाभ समझेगा, तो वह ऐसा करने में संकोच न करेगा। स्मरण रहे कि उत्पत्ति के एक साधन को कम करके उसकी जगह दूसरे साधन से काम लेने की क्रिया की एक सीमा है। भूमि, श्रम या पूँजी में से किसी को सर्वथा हटाया नहीं जा सकता, उसकी मात्रा ही कुछ कम ज्यादह की जा सकती है।

अब प्रतिस्थापन सिद्धान्त के दूसरे प्रकार के प्रयोग का उदाहरण लें। व्यवस्थापक यह देखता है कि कारखाने में बीस साधारण श्रमी जो काम आठ आने रोज लेकर कर रहे हैं, उस काम को आठ कुशल श्रमी एक रुपया रोज़ लेकर कर सकते हैं। इसमें १०) का काम ८) में हो जाता है। अब व्यवस्थापक बीस साधारण श्रमियों को हटा कर उनकी जगह आठ कुशल श्रमियों को नियुक्त करेगा। यह भी सम्भव है कि बीस साधारण श्रमियों का काम दस कुशल श्रमियों से होने पर, अर्थात् प्रत्यक्ष में कुछ भी लाभ न होने पर, व्यवस्थापक को यही उचित जँचे कि वह साधारण श्रमियों को हटा दे, और उनकी जगह कुशल श्रमियों को नियुक्त करे; क्योंकि ऐसा करने से मशीन या औजारों की आवश्यकता कम होगी, और कच्चा माल खराब होने का मौका कम आवेगा; इससे व्यवस्थापक को परोक्ष रूप से लाभ होगा।

इस उदाहरण में व्यवस्थापक साधन को नहीं बदल रहा है, वह श्रम को ही काम में ला रहा है, परन्तु वह उसके भेद को बदल रहा है। इसी प्रकार यातायात, विज्ञापन, भूमि आदि के उदाहरण लिये जा सकते हैं। कल्पना करो कि कोई माल पांच सौ मील के फासले पर भेजना है, और वह नाव से, बैलगाड़ी से तथा रेल से भेजा जा सकता है। वह माल जल्दी खराब होने वाला भी नहीं है। इसमें देखना होगा कि किसके द्वारा भेजने से कुल मिला कर होने वाला व्यय, अपेक्षाकृत कम होगा। जिस प्रकार व्यय कम होगा, उसी मार्ग का अवलम्बन किया जायगा।

प्रतिस्थापन सिद्धान्त के सम्यक् उपयोग द्वारा व्यवस्थापक इस बात का प्रयत्न करता है कि उत्पादन-व्यय यथा-सम्भव कम हो, और उत्पत्ति अधिक से अधिक हो।

व्यवस्था के भेद; एकाकी उत्पादक प्रणाली—पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन काल में प्रत्येक उत्पादन कार्य में उत्पादक प्रायः एक ही व्यक्ति (या परिवार) होता था। उसकी अपनी ही भूमि होती थी, और वह अपनी पूंजी और श्रम से काम करता था; अथवा आवश्यकता होने पर वह दूसरों से पूंजी उधार ले लेता और अन्य श्रमियों को मजदूरी पर रख लेता था। आवश्यक कच्चा माल खरीदने आदि का काम वह स्वयं ही करता था। उत्पादन कार्य की देख-रेख या प्रबन्ध के लिए किसी दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता न होती थी। वह अपने कार्य का स्वयं ही व्यवस्थापक था। जो धन उत्पन्न होता, उस पर उसी का स्वामित्व होता, उसको बेचने का कार्य

उसे ही करना होता था। जितना लाभ होता, वह सब उसी का होता; यदि दैवयोग से अतिवृष्टि, अनावृष्टि, फसल में कीड़ा लगने या अन्य किसी कारण से खेती में नुकसान होता तो वह भी उसको सहन करना पड़ता था।

इस पद्धति में लाभ यह था कि उत्पादक स्वयं अपना काम करता था, इस अपनेपन के भाव के कारण वह खूब जी लगा कर कार्य करता था। फिर, वह जो धन उत्पन्न करता अथवा वस्तु बनाता, वह निकटवर्ती उपभोक्ताओं के लिए ही होती थी, जिनकी आवश्यकताएँ वह भली भांति जानता था, और जिनकी मांग का अनुमान वह सहज ही कर सकता था।

इस पद्धति के प्रयोग की सीमाएँ तथा हानियां स्पष्ट हैं। ज्यों ज्यों यातायात के साधनों की वृद्धि, और बाजार का विस्तार होता है, अधिकाधिक उपभोक्ताओं के लिए धन उत्पन्न करने की आवश्यकता होती है। इसके वास्ते पूँजी बहुत चाहिये, और साधारणतया एक व्यक्ति के पास पूँजी की मात्रा परिमित ही होती है, और उसे उधार भी कम ही मिल सकता है। फिर, बड़े काम में यदि हानि भी अधिक हो जाय तो उसे सहन करना प्रायः अकेले आदमी के बस की बात नहीं होती। और, अकेले आदमी में ऐसी योग्यता तथा कुशलता दुर्लभ होती है कि वह किसी बड़े और पेचीदा व्यवसाय के सब विभागों का निरीक्षण तथा संचालन अच्छी तरह कर सके। इन कारणों से यह पद्धति अधिकतर छोटी मात्रा की उत्पत्ति के कार्यों—खेती और

फुटकर बिक्री आदि—में ही विशेष उपयोगी होती है। एकाकी उत्पादक का व्यापार व्यवसाय प्रायः उसकी सन्तान को ही मिलता है।

साझेदारी—पूर्वोक्त व्यवस्था की हानियों से बचने के लिए साझेदारी* प्रथा का आविष्कार हुआ। साझे के उद्योग धंधे, व्यवसाय या व्यापार का प्रबन्ध और नियंत्रण दो या अधिक साझेदार करते हैं। प्रत्येक साझेदार उनका व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है। साझेदारी के व्यवसाय में प्रत्येक साझेदार का उत्तरदायित्व प्रायः अपरिमित रहता है, यदि उस कार्य में दूसरों से उधार लेकर रुपया लगाया गया है, तो ऋणदाता कानूनी तौर से अपनी तमाम रकम एक ही साझेदार से भी प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

साझेदारी की व्यवस्था ऐसे व्यवसायों के लिए बहुत उपयुक्त होती है, जिनमें विविध प्रकार की योग्यताओं की आवश्यकता हो, अर्थात् जिनके प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्य का विभाजन हो सकता हो। उदाहरणवत् कारखाने में एक आदमी कच्चा माल खरीदने में रहे, दूसरा कारखाने का प्रबन्ध करे, तीसरा तैयार माल बेचने का काम करे, ये कार्य भिन्न भिन्न साझेदारों की विशेष योग्यतानुसार बाँट लिए जाते हैं। साझेदारी की व्यवस्था से उन व्यवसायों को चलाने में सुविधा होती है, जिनके लिए आवश्यक पूँजी एक आदमी न लगा सके; उसे इस कार्य के वास्ते दूसरे साझेदार की आवश्यकता हो।

---

* Partnership

कभी कभी तो ऐसा होता है कि एक आदमी में केवल व्यवसायिक बुद्धि होती है, पर पूँजी के अभाव से वह कोई कार्य आरम्भ नहीं कर सकता। फलतः वह किसी ऐसे आदमी को साझेदार बना लेता है, जिसके पास पूँजी हो। इस प्रकार दोनों के साझे से कार्य आरम्भ हो जाता है। एकाकी उत्पादक प्रणाली में, व्यवस्थापक के बाद उसका व्यवसाय उसके पुत्रों अथवा निकट-सम्बन्धियों के सुपुर्द हो जाता है, चाहे वे उसके सम्भालने योग्य न भी हों। इससे बहुधा व्यवसाय के शीघ्र ही चौपट होने की नौबत आ जाती है। साझेदारी में ऐसा प्रसंग नहीं आता। साझेदारी की प्रथा बहुत प्राचीन है, इस समय भिन्न भिन्न पेशों में इसका बड़ा भाग है।

साझेदारी की प्रथा के जो लाभ ऊपर बताये गये हैं, ये यथेष्ट महत्व के हैं, किन्तु ये उसी दशा में होते हैं जब कि सब साझेदार मिल कर अच्छी तरह कार्य सम्पादन करें। यदि साझेदारों में घोर मतभेद रहे, वे मिल कर कार्य न करें, तो व्यवसाय के बिगड़ने में कोई शंका नहीं रहती। साझेदारी में एक मुख्य हानि यह है कि इसमें प्रत्येक साझेदार का अपरिमित उत्तरदायित्व रहता है, किसी एक व्यक्ति की त्रुटि से दूसरे साझेदार को अपनी जायदाद से हाथ धोना पड़ सकता है। बहुत से आदमी ऐसे होते हैं, जो व्यवसाय में थोड़ी सी पूँजी तो लगा देना चाहते हैं; पर वे उसके प्रबन्ध आदि में कुछ भाग नहीं ले सकते, और न उसके लाभ हानि की जोखम ही उठाना चाहते हैं। साझेदारी की प्रथा उनके लिये उपयोगी नहीं होती। साझेदारी में यही पर्याप्त नहीं है कि दो या अधिक व्यक्ति मिल कर काम करने में सहमत

हो जायँ। उनके पास व्यवसाय के लिये यथेष्ट पूँजी भी चाहिये, इसके अभाव में कोई काम नहीं चल सकता। इसलिये एक अन्य प्रकार की व्यवस्था का चलन हुआ, उसका नाम है, मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ।

मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ—आज कल बहुधा जब किसी उत्पादन कार्य के लिये बहुत पूँजी की आवश्यकता होती है, तो उसके सौ सौ या पाँच पाँच सौ या कम ज्यादह रुपये के, बराबर बराबर रकम के हिस्से ('शेयर') निर्धारित कर दिये जाते हैं, प्रत्येक हिस्सेदार एक या अधिक हिस्सा खरीद लेता है। उक्त कम्पनी मिश्रित पूँजी की कम्पनी* कहलाती है। हिस्सेदार प्रति वर्ष एक संचालक समिति † के सदस्यों का निर्वाचन करते हैं—इस समिति को व्यवसाय के प्रबन्ध आदि का सब अधिकार रहता है। यह समिति अपने सदस्यों में एक को प्रधान संचालक ‡ नियत करती है, जो अपना सब समय इस व्यवसाय के लिये लगाता है और आवश्यकतानुसार संचालकों की सभा आदि की व्यवस्था करता है।

इन कम्पनियों की स्थापना पहले इंगलैंड आदि योरोपीय देशों में हुई, पश्चात् जब भारतवर्ष में बड़ी मात्रा में उत्पत्ति का उत्पादन होने लगा तो यहाँ भी इनकी क्रमशः वृद्धि होने लगी; इन कम्पनियों की वृद्धि का एक मुख्य कारण इनमें प्रायः परिमित देनदारी के सिद्धान्त

---

* Joint Stock Company

† Board of Directors

‡ Managing Director

का व्यवहार है, जिससे हिस्सेदारों की जोखम, हिस्से में लिखी हुई रकम तक ही सीमित रहती है। उदाहरणवत्, एक हिस्सेदार ने कम्पनी का सौ रुपये का हिस्सा लिया और उसने पच्चीस पच्चीस रुपये की तीन किश्तों में पिछत्तर रुपये चुका दिये। अब उसे केवल पच्चीस रुपये देने शेष हैं। इस बीच में कम्पनी का दिवाला निकल गया और उसे अपने ऋण-दाताओं का पाँच हजार रुपया देना है, तो ये ऋणदाता उक्त हिस्सेदार पर पाँच हजार का दावा नहीं कर सकते, वे उससे केवल पच्चीस रुपये ही लेने के अधिकारी हैं। इसके विपरीत, यदि कम्पनी अपरिमित देनदारी की हो, और अगर उसके हिस्सेदारों में से अन्य व्यक्तियों की स्थिति अच्छी न हो, केवल उक्त एक हिस्सेदार ही ऐसा हो जिससे ऋणदाताओं को अपना रुपया वसूल होने की आशा हो, तो ऋणदाता उक्त एक हिस्सेदार पर ही पाँच हजार का दावा कर सकते हैं, चाहे इस हिस्सेदार को अपने हिस्से के केवल पच्चीस रुपये ही कम्पनी के देने रहे हों।

कम्पनियों से लाभ—इन कम्पनियों से अनेक लाभ हैं। परिमित देनदारी रहने से हिस्सेदार की जोखम घट जाती है। बहुत से आदमी हिस्सेदार बनने को प्रेरित होते हैं, इस प्रकार वे कुछ दशाओं में अपने उस धन को भी उत्पादन कार्य में लगाते हैं, जिससे सम्भवतः कुछ उत्पत्ति न होती, वह यों ही पड़ा रहता। यदि हिस्सेदार को उस रुपये की ज़रूरत हो, जो उसने कम्पनी में लगाया है तो वह अपने हिस्से को बाजार में बेच सकता है; यदि उसे मालूम हो कि कम्पनी का कारोबार अच्छी तरह नहीं चल रहा है, उसमें हानि होने की आशंका है, अथवा

किसी दूसरे कारोबार में रुपया लगाना अपेक्षाकृत अधिक लाभदायक होगा तो भी वह अपने हिस्से को बेच सकता है। कम्पनियों के हिस्से बेचने का काम दलाल किया करते हैं, और इन हिस्सों की बाजार-दर समय समय पर घटती बढ़ती रहती है, जितना किसी कम्पनी का काम अधिक लाभप्रद होता है, उतना ही उसकी दर चढ़ जाती है, यहाँ तक कि कभी कभी सौ रुपये के हिस्से की कीमत चार सौ पाँच सौ रुपये तक हो जाती है। अस्तु, इस विषय में, विस्तार में जानने की आवश्यकता नहीं। वक्तव्य केवल यह है कि कम्पनी-पद्धति में, हिस्सेदारों को उससे पृथक् होने अथवा सम्बन्ध विच्छेद करने की स्वतंत्रता है, इसी प्रकार नये आदमियों को समय समय पर कम्पनी के हिस्से खरीद कर उसका हिस्सेदार बनने का अधिकार रहता है। यह बात साझेदारी पद्धति अथवा एकाकी उत्पादक पद्धति में नहीं होती।

अनेक दशाओं में एकाकी उत्पादक का कार्य उसके जीवन तक ही चलता है, और उसकी मृत्यु के साथ, उसके कारोबार का भी अन्त हो जाता है। साझेदारी पद्धति का व्यवसाय भी बहुधा अल्पायु होता है, साझेदारों में किसी बात पर मतभेद सहज ही इस सीमा तक बढ़ सकता है, जिससे साझेदारी टूट जाय। परन्तु मिश्रित पूंजी की कम्पनियाँ प्रबन्ध ठीक रहने की दशा में, चिरकाल तक बनी रहती हैं। इन्हें सुयोग्य और विशेषज्ञ संचालकों के बहुमूल्य परामर्श का लाभ मिलता है, जो साझेदारी प्रथा में सम्भव नहीं होता। अगर संचालन उचित रीति से न हो तो हिस्सेदार वार्षिक चुनाव के अवसर पर पुराने संचालकों और प्रधान संचालक को बदल कर उनकी जगह नवीन कार्यकर्त्ता

नियुक्त कर सकते हैं। कम्पनियों द्वारा चलने वाले व्यवसायों में मैनेजर आदि के रूप में उन आदमियों की शक्ति और योग्यता का उपयोग हो सकता है, जिनके पास पूंजी नहीं होती, पर व्यवसाय बुद्धि तथा अन्य प्रकार की कुशलता यथेष्ट होती है। कम्पनी-पद्धति न होने की दशा में ऐसी योग्यता की माँग नहीं होती, और फल-स्वरूप लोगों में इसे प्राप्त करने की प्रेरणा भी नहीं होती।

कम्पनी-पद्धति में बहुत से आदमियों के, थोड़ी थोड़ी पूँजी के लगा देने से एक बड़ी रकम इकट्ठी हो जाती है, और उससे ऐसा कारोबार चलता है, जो अकेले आदमी से नहीं चलाया जा सकता। चीज़ें सस्ती बनती हैं, तथा सस्ते भाव से बेची जाती हैं, और उनका उपयोग बढ़ जाता है। रेल, जहाज, बड़ी बड़ी नहरें, और बड़े बड़े पुलों को बनाने का काम ऐसी कम्पनियो द्वारा ही होता है।

कम्पनियों से हानि—कम्पनियों से कोरे लाभ ही लाभ हों, सो बात नहीं; इनसे हानियाँ भी हैं। परिमित देनदारी के कारण कभी कभी हिस्सेदारों में असावधानी हो जाती है; और संचालक अनाप-शनाप खर्च के कार्य कर डालते हैं। पुनः कम्पनियों का काम हिस्सेदारों, संचालकों और प्रबन्धकों में बटा होने से, कोई व्यक्ति विशेष रूप से अपने उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करता, इससे कारोबार को धक्का पहुँचता है।

"मिश्रित पूंजी कम्पनी-पद्धति" में श्रमियों और पूंजीपति (हिस्सेदारों) में बहुत अन्तर हो जाता है। उनका कुछ पारस्परिक सम्पर्क नहीं रहता। हिस्सेदारों को श्रमियों के सुख दुख का कुछ परिचय नहीं होता,

बहुधा वे कम्पनी के कारखानों के स्थान से काफी दूरी पर रहनेवाले होते हैं। इस प्रकार स्वामी और नौकर की पूर्वकालीन घनिष्ठता का लोप होकर पूँजी और श्रम के संघर्ष की वृद्धि होती है। अमरीका आदि कुछ देशों में तो बड़ी बड़ी कम्पनियाँ, राज्य-कर्मचारियों और प्रभावशाली व्यक्तियों को अनैतिक उपायों द्वारा अपने पक्ष में करके, मनचाहे कानून बनवाने में भी सफल हो जाती हैं।

कहीं कहीं कम्पनियाँ यथेष्ट शक्तिशाली बन कर अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त करके व्यवसाय क्षेत्र से हटा देती हैं, फिर पदार्थों को घटिया बना कर, या मँहगे बेच कर खूब मुनाफा लेने की चिन्ता में लीन रहने लगती हैं। इससे सर्वसाधारण उपभोक्ताओं को बहुत नुकसान पहुँचता है।

एकाकी उत्पादकों, तथा साझेदारों का जो आचार विचार तथा नैतिक आदर्श होता है, वह कम्पनियों में नहीं रहता। हिस्सेदार प्रायः अनुभव शून्य होते हैं और संचालकों तथा प्रबन्धकों को मनमानी करने का अवसर मिलता है। ये संचालक प्रायः अपने मित्रों तथा रिश्तेदारों को बड़े बड़े वेतन पर नियुक्त कर देते हैं, अपने मिलने वालों से कच्चा माल मँहगे दामों में लाकर कम्पनी के हिसाब में लिखा देते हैं। वे बनावटी हिसाब के द्वारा मुनाफा अधिक दिखा देते हैं, और इस प्रकार हिस्सों की कीमत बढ़ जाने पर अपने हिस्से बेच कर लाभ उठाते हैं, और पीछे कम्पनी से पृथक् हो जाते हैं। इससे हिस्सेदारों को बहुत हानि पहुँचती है। समय समय पर अनेक कम्पनियों के 'फेल' होने के समाचार मिलते हैं, इसका एक मुख्य कारण स्वयं

संचालकों की बेईमानी तथा छल-कपट है। उनके अनैतिक व्यवहार से सर्वसाधारण को बहुत धोखा होता है, समाज को भयंकर आर्थिक क्षति सहन करनी पड़ती है।

कम्पनियों का नियंत्रण—इसे रोकने के लिये, राज्य के क़ानून द्वारा यथा-सम्भव प्रयत्न किया जाता है। हर एक कम्पनी की रजिस्टरी कराने का नियम रहता है। जब संस्थापक यह निश्चय कर लेते है कि इतनी पूँजी से अमुक कार्य चलाया जाय, तथा इसे बराबर बराबर रकमों के इतने हिस्सों में विभक्त किया जाय, और अमुक व्यक्ति कम्पनी के संचालक हों, तब कम्पनी की रजिस्टरी की जाती है। रजिस्टरी होने से पूर्व कम्पनी का विवरणपत्र या 'प्रासपेक्टस' प्रकाशित नहीं किया जा सकता। जब निर्धारित परिमाण में हिस्से बिक चुकते हैं, तब कम्पनी का कारोबार आरम्भ किया जाता है। कम्पनी को अपने वार्षिक हिसाब की 'आडीटर' अर्थात् लेखा-परीक्षक से नियमानुसार जाँच करानी होती है, जो इस बात को भी देखता है कि कम्पनी के पास वास्तव में इतना रुपया है या नहीं, जितना हिसाब में दिखाया गया है, तथा संचालकों ने तो कोई ऋण नहीं ले रखा है। आडीटर की जाँच के बाद कम्पनी का हिसाब सर्वसाधारण के लिये प्रकाशित किया जाता है, जिससे सब उसकी आर्थिक स्थिति को भली प्रकार जान सकें।

इतना होने पर भी कुछ संचालक जनता को धोखा दे ही देते हैं। वे कानून से बचने या उसका उल्लंघन करने के लिए नये नये उपाय निकाल लेते हैं। उदाहरणवत् हिसाब में यह दिखाने के लिए

कि संचालकों के नाम कोई ऋण नहीं है, वे ऋण लेकर उसे अपने मित्रों या सम्बन्धियों आदि के नाम लिख देते हैं। पुनः जब वे देखते हैं कि कम्पनी को मुनाफा अधिक होने से दूसरी कम्पनियों द्वारा उसकी प्रतियोगिता होने, और इस प्रकार उसका लाभ घटने की सम्भावना है तो वे कभी कभी कृत्रिम रूप से हिस्सेदारों के हिस्से बढा देते हैं, जिससे प्रतिशत मुनाफा कम मालूम पड़े। तथापि सरकारी कानून द्वारा, चालाक और बेईमान संचालकों के व्यवहार से जनता की, बहुत कुछ रक्षा हो सकती है। सर्वसाधारण तथा हिस्सेदारों को भी चाहिए कि सतर्क रहें, केवल संचालकों के नाम देख कर ही उनके हाथ में सब कारोबार सौंप कर निश्चिन्त न हो जायँ।

कम्पनियों सम्बन्धी निष्कर्ष—कम्पनियों से धनोत्पत्ति में बहुत सहायता मिलती है, इससे हिस्सेदारों के अतिरिक्त समाज का भी हित-साधन होता है। हाँ, जैसा कि ऊपर कहा गया है, उनसे कई हानियाँ भी हैं, जिनसे बचने की आवश्यकता है। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि मिश्रित पूँजी-कम्पनी-पद्धति, एकाकी उत्पादक पद्धति तथा साझेदारी पद्धति की अपेक्षा, निम्नलिखित प्रकार के व्यवसायों के लिए अधिक उपयोगी है :—(१) रेल, जहाज, नहर, बड़े पुल आदि बड़ी उत्पत्ति के उन कार्यों के लिए, जिनमें बहुत बड़ी पूँजी चाहिए, (२) उन व्यवसायों के संचालन के लिए जिनमें बहुत जोखम उठानी पड़ती है, और विविध प्रयोगों की परीक्षा या अन्वेषण आदि में बहुत व्यय करना होता है। जिन कामों में साधारण पूँजी की आवश्यकता हो, और जिनमें परिस्थितियाँ

जल्दी जल्दी बदलती हों और शीघ्र निर्णय करने की आवश्यकता हो, साझेदारी अधिक उपयुक्त होती है।

किसी कम्पनी का क्षेत्र बहुत बढ़ जाने पर, अथवा उसके साथ एक या अधिक कम्पनियों के मिल जाने पर, उसके उत्पादन में एकाधिकार प्राप्त करने की प्रवृत्ति होती है। एकाधिकार से उपभोक्ताओं को प्रायः हानि होती है। इसलिये सरकार द्वारा उसका नियंत्रण किया जाता है।

सहकारिता—मिश्रित पूँजी की कम्पनियों तथा एकाकी उत्पादक द्वारा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होने की दशा में श्रमियों पर कभी कभी बहुत सख्ती होती है, उनका वेतन घटाया जाता है, और उनकी विविध शिकायतों पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता। इसके अतिरिक्त छोटे छोटे उत्पादकों से अनुचित प्रतियोगिता की जाती है, उपभोक्ताओं से कीमत बहुत ली जाती है, और ऋण लेने वालों से भारी सूद लिया जाता है। उपर्युक्त विविध वर्गों के मनुष्यों ने अपनी रक्षा का उपाय यह सोचा है कि मिल कर काम करें, और सहकारिता* द्वारा शक्तिशाली बनें, जिससे कोई उन पर अत्याचार या ज्यादती न कर सके। सहकारिता द्वारा किये जाने वाले भिन्न भिन्न कार्यों की दृष्टि से उसके कई भेद हो सकते हैं। अर्थशास्त्र में उसके मुख्य तीन भेद हैं :—

(१) उत्पादकों की सहकारिता (या सहकारी उत्पादकता)

---

* Co-operation.

(२) उपभोक्ताओं की सहकारिता या सहकारी क्रय। इसे वितरण-मूलक सहकारिता भी कहा जाता है।

(३) सहकारी साख, अर्थात् सहकारी महाजनी, जिसके अन्तर्गत उधार लेना और उधार देना, दोनों कार्यों का समावेश होता है।

इस अध्याय में हम केवल उत्पादकों की सहकारिता या सहकारी उत्पादकता पर ही विचार करते हैं।

सहकारी उत्पादकता—इसका उल्लेख पूँजी और श्रम के हित-विरोध को दूर करने के उपायो में किया जा चुका है, इसमें श्रमी ही अपने स्वामी होते हैं, वे ही समस्त व्यवसाय का प्रबन्ध करते और जोखम उठाते हैं, वे व्यवस्था और श्रम दोनों कार्य करते हैं। इस पद्धति में निम्नलिखित लाभ हैं:—

१—श्रमजीवी खूब मन लगा कर काम करते हैं, किसी चीज़ को खराब नहीं जाने देते, उन्हें निरीक्षक की आवश्यकता नहीं होती, यन्त्रों और औजारों की सार-संभार अच्छी तरह की जाती है। इस प्रकार कई तरह की बचत होती है।

२—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इसमें श्रम और पूँजी का हित-विरोध नहीं होता, अर्थात् हड़ताल या द्वारावरोध आदि की चिन्तनीय घटनाओं का अवसर नहीं आता, जो आधुनिक औद्योगिक संसार में किसी भी समय उपस्थित हो सकनेवाली बातें हैं। अस्तु, इस प्रकार श्रमियों को लगातार और अच्छी परिस्थितियों में काम करने के प्रयत्न में सफलता मिलती है।

३—जो श्रमी इस प्रकार की व्यवस्था की जोखम उठाते हैं, वे इस विषय में भली प्रकार विचार और निर्णय कर सकते हैं कि प्रबन्ध-कार्य योग्यता तथा ईमानदारी से हो रहा है या नहीं। इस प्रकार उत्पत्ति की इस विधि में उनकी कार्य-क्षमता की वृद्धि होती है।

४—श्रमियों को, श्रमियों की हैसियत से, वेतन तो मिलता ही है, उसके अतिरिक्त उन्हें व्यवस्थापक की हैसियत से मुनाफा और मिलता है।

ये लाभ महत्वपूर्ण हैं। परन्तु हम इस पद्धति के व्यवहार में उपस्थित होनेवाली कठिनाइयों या बाधाओं की भी अवहेलना नहीं कर सकते। उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं:—

(क) श्रमी-प्रबन्धकों पर अन्य श्रमी बहुधा बहुत अधिक और प्रायः बिना सोचे समझे नियन्त्रण या आलोचना करते हैं। इससे कार्य-क्षमता कम होती है।

(ख) अच्छे प्रबन्धक कम मिलते हैं, कारण कि अन्य श्रमी उनके मानसिक कार्य का यथेष्ट महत्व नहीं मानते और इसलिये उन्हें यथेष्ट वेतन आदि देने को तैयार नहीं होते।

यद्यपि उपर्युक्त कठिनाइयों और बाधाओं के कारण अभी तक सहकारी उत्पादकता में बहुत कम सफलता मिली है, इसका भविष्य अच्छा मालूम होता है। कठिनाइयों के दूर करने का उपाय किया जा रहा है, और क्रमशः उन पर विजय प्राप्त की जायगी, ऐसी आशा है। सहकारिता के सिद्धान्तों का प्रचार बढ़ रहा है, कितने ही व्यक्ति इन सिद्धान्तों के

प्रति अनुराग रखने के कारण, सहकारी व्यवसायों में कम प्रतिफल लेकर भी सेवा करने को तैयार रहते हैं, श्रमियों का व्यवसायों तथा व्यवस्था-सम्बन्धी ज्ञान और अनुभव बढ़ रहा है। यदि उनमें पूँजी एकत्र करने की यथेष्ट क्षमता रहे और पूजीपतियों को ऐसा अवसर न मिले कि वे उत्पादक के रूप में, व्यवसाय में भाग लेकर श्रमियों पर नियन्त्रण करने लग जायँ, तो ऐसी उत्पादन-विधि में सफलता अवश्य ही कुछ अधिक हो। ये बातें केवल कल्पित नहीं हैं। रूस में, सह-कारिता द्वारा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति सफलतापूर्वक होना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अभ्यास के प्रश्न

(१) आजकल के उद्योग धंधों में साहसी के कौन कौन से कर्तव्य होते हैं? भारतीय ग्रामीण कारीगर इनमें से किनको करता है? (१९३२)

(२) निम्नलिखित में उत्पत्ति के साधनों के संगठन और व्यवस्था का वर्णन और तुलना कीजिए।

(अ) गांव के जुलाहे या कुम्हार के काम में।

(ब) मुरादाबाद या बनारस के पीतल के धंधे में।

(स) रुई कातने की मिल में। (१९२७)

(३) समसीमान्त उत्पत्ति-नियम की परिभाषा दीजिए। उत्पत्ति में इसके उपयोग पर सोदाहरण संक्षिप्त विवरण लिखिए।

(४) मिश्रित पूंजीवाली कम्पनियों से होने वाले लाभ और हानि बताते हुए कम्पनियों के नियंत्रण की आवश्यकता समझाइए।

(५) सहकारिता से आप क्या समझते हैं? कम्पनियों के कारण उत्पत्ति कार्य में होनेवाली किन बुराइयों को सहकारिता से दूर किया जा सकता है?

सोलहवाँ अध्याय

—०::०—

उत्पत्ति के साधनों की क्षमता

उत्पति के किसी साधन की क्षमता* का आशय यह है कि वह धन की उत्पत्ति में कहाँ तक सहायक होता है। यदि भूमि के दो समान टुकड़ों में बीज और सिंचाई आदि की समानता होते हुए एक की पैदा-वार दूसरे की अपेक्षा अधिक है तो उसकी क्षमता दूसरे की अपेक्षा अधिक कही जाती है। इसी प्रकार यदि एक श्रमजीवी निर्धारित समय में एक ही प्रकार का कार्य दूसरे से अधिक करता है, तो यह कहा जायगा कि उसकी क्षमता दूसरे की अपेक्षा अधिक है। इसी प्रकार पूँजी और व्यवस्था की क्षमता समझी जा सकती है। बहुधा एक साधन की क्षमता की कमी वेशी का प्रभाव दूसरे साधनों की क्षमता पर भी पड़ता है। उदाहरणार्थ खराब औजार से भूमि या श्रम की क्षमता घट जाती है। उत्पत्ति के समस्त साधन अच्छी क्षमता वाले हों, इसकी व्यवस्था करना व्यवस्थापक का कार्य है। अच्छी व्यवस्था से साधनों की क्षमता बढ़ती है।

---

*Efficiency.

भूमि की क्षमता—खेती के काम में आनेवाली भूमि की क्षमता उसकी उत्पादकता से जानी जाती है, और भूमि के उपजाऊपन पर उसकी मिट्टी, जलवायु, और परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है, साथ ही मनुष्य की बुद्धि और परिश्रम से उसकी बहुत कुछ उन्नति भी हो सकती है। इस प्रकार वैज्ञानिक खेती, फसलों के हेर-फेर, आबपाशी, चकबन्दी और यातायात की वृद्धि आदि से भूमि की क्षमता बढ़ती है।

जनता के निवास, या व्यापारिक कार्य में आनेवाली भूमि की क्षमता उसकी मितव्ययिता पर निर्भर होती है। बड़े बड़े नगरों में भूमि की आवश्यकता बढ़ जाने से आदमी कई कई मंजिलों का मकान बनाने लगे हैं। कहीं कहीं ज़मीन के नीचे गोदाम या रेलवे लाइन आदि बनाकर निर्धारित आकार की भूमि की क्षमता बढ़ायी जाती है।

श्रम की क्षमता—श्रम विभाग:—श्रम के अध्याय में यह बताया जा चुका है कि श्रमियों की क्षमता जलवायु, स्वास्थ्य, शिक्षा, कार्य करने की स्वतंत्रता, उन्नति और लाभ की आशा, तथा कार्यक्रम की विभिन्नता आदि पर निर्भर है। और इस क्षमता को बढ़ाने का उपाय उनकी शिक्षा है। श्रम की क्षमता का यथेष्ट उपयोग श्रमविभाग में देखने में आता है। अतः इसके सम्बन्ध में यहाँ कुछ विशेष विचार करना आवश्यक है। पहले कहा गया है कि आरम्भ में मनुष्य की आवश्यकताएँ कम होती हैं और उन सब की पूर्ति वह स्वयं अपने परिश्रम से ही कर लेता है। धीरे धीरे उसकी आवश्यकताएँ बढ़ जाने पर, उसका काम केवल अपनी बनायी हुई वस्तुओं से नहीं चलता। इस पर वह एक ही प्रकार का कार्य करने लगता है और अपने बनाये

पदार्थ विविध व्यक्तियों को देकर उनसे उनकी बनायी वस्तुएँ अपनी आवश्यकतानुसार ले लेता है। उदाहरणार्थ गांव का एक आदमी केवल अन्न पैदा करता है, एक केवल लकड़ी लाता है, एक केवल कपड़ा तैयार करता है, इत्यादि। इस प्रकार गाँव के कृषक, लकड़हारे और जुलाहे आदि का काम पृथक् पृथक् हो जाता है। समाज में क्रमशः भिन्न भिन्न पेशो की वृद्धि होती रहती है। पीछे एक एक पेशे के कई कई भाग होने लगते हैं। उदाहारणार्थ, कपड़े तैयार करने के लिये एक आदमी केवल कपास पैदा करता है; दूसरा कपास लेकर केवल उसे ओटता है, अर्थात् उसमें से रुई और बिनौले पृथक् पृथक् करता है; तीसरा केवल रुई का सूत कातता है; चौथा केवल कपड़ा बुनने का ही कार्य करता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति एक कार्य के एक एक भाग का काम करता है, यह एक एक भाग स्वतः पूर्ण है और उसके परिणाम-स्वरूप तैयार होनेवाली चीज दूसरे व्यक्ति के लिये कच्चे माल का काम दे देती है, जिससे वह उससे आगे की क्रिया करने लगता है।

अब श्रम-विभाग * का स्वरूप और आगे बढ़ता है। एक कार्य के विविध भागों में से प्रत्येक के कई कई सूक्ष्म उपविभाग किये जाते हैं और एक व्यक्ति ही नहीं, व्यक्ति-समूह उक्त उपविभाग का कार्य करता है। प्रत्येक उपविभाग अपूर्ण होता है और एक के बाद दूसरे, बहुत से उपविभागों का कार्य हो चुकने पर अन्ततः अभीष्ट वस्तु बनती है। आधुनिक काल में कल-कारखानों में बड़े पैमाने की उत्पत्ति होती है। उसमें श्रम-विभाग बहुत सूक्ष्म होता है। कपड़ा बुनने की क्रिया

---

* Division of Labour

लगभग अस्सी उपविभागों में विभक्त है। पिन या सूई जैसी ज़रा ज़रा सी वस्तु को बनाने के लिये उसके कार्य को दर्जनों विविध उपविभागों में बाँटा जाता है।

अस्तु, श्रम विभाग का अर्थ है कार्य को बहुत से उपविभागों में बाँटना और प्रत्येक उपविभाग का विविध व्यक्ति-समूहों द्वारा किया जाना। साधारणतया, जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से विदित है, श्रम विभाग के तीन रूप होते हैं:—

१—भिन्न भिन्न पेशों का पृथक् पृथक् होना।

२—एक एक पेशे के कई कई ऐसे विभाग होना, जिनमें से प्रत्येक अपने तौर से पूर्ण हो।

३—एक एक पेशे के एक एक विभाग के अनेक उपविभाग होना, जिनमें से प्रत्येक अपूर्ण हो।

अब श्रम विभाग के लाभ हानि पर विचार करें। पहले कहा जा चुका है कि आधुनिक कल कारखानों में यह बहुत सूक्ष्म अवस्था को पहुँच गया है। अस्तु, इस सूक्ष्म श्रम विभाग के लाभों के सम्बन्ध में विचार करते हुए प्रथम तो यही बात सामने आती है कि एक खास क्रिया को बारम्बार करते रहने से मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक शक्ति उस विशेष क्रिया के लिये ऐसी बढ़ जाती है कि उसके करने में उसे कुछ जोर नहीं लगाना पड़ता, वह मानों अपने आप ही होती रहती है। किसी छापेखाने में एक कम्पोज़िटर को देखिये; वह 'केस' के खानों में से कैसी जल्दी जल्दी बिना देखे वही अक्षर उठाता है, जिसकी

उसे कम्पोज़ करने के लिये आवश्यकता है। उसे यह नहीं सोचना पड़ता कि अमुक अक्षर का खाना कौन सा है। उसका हाथ स्वयमेव उपयुक्त खाने में जाता रहता है। बहुधा वह दूसरे आदमी से बातचीत करता हुआ भी अपना काम मानों यंत्र की तरह फुर्ती से करता रहता है।

पुनः यदि एक आदमी को भिन्न भिन्न कार्य अथवा एक कार्य के भिन्न भिन्न भागों की कई कई क्रियाएँ करनी पड़ें तो उनके लिये सम्भव है कि भिन्न भिन्न औजारों की आवश्यकता हो। उन्हें उठाने में, और उनका कार्य पूरा हो जाने पर उन्हें रखने तथा दूसरों को उठाने में समय लगेगा। इसके विपरीत, जब उसे एक ही कार्य अथवा उसके किसी एक ही भाग की कोई क्रिया करनी होगी तो उसे औजारों को उठाने धरने की, तथा अपना ध्यान एक यंत्र से हटा कर दूसरे में लगाने की आवश्यकता बहुत कम होगी। और, इसके परिणाम-स्वरूप उसका बहुत सा समय बचेगा। इसी प्रकार जब कि एक व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले भिन्न भिन्न कार्य अथवा एक कार्य की भिन्न क्रियाओं को करने का स्थान पृथक् पृथक् कुछ दूरी पर हो, अथवा एक मकान की भिन्न भिन्न मंजिलों में हो, तो उन्हें करने वाले के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने में भी बहुत समय लगता है।

श्रम विभाग द्वारा एक कार्य को बहुत से उपविभागों में विभक्त कर दिया जाता है, जिनमें से प्रत्येक उपविभाग में की जाने वाली क्रिया बहुत सरल होती है। ऐसा होने पर उक्त उपविभागों की क्रिया को करने के लिए श्रमियों की जगह मशीनों का उपयोग सहज ही हो

जाता है; इससे कार्य बहुत जल्दी तथा कम श्रम से सम्पादन होता है, और जहाज तथा रेल आदि का बहुत सा, बड़े परिमाण का, कार्य तो ऐसा हो जाता है, जो अन्यथा हो ही नहीं सकता। मशीनों के बारे में विशेष आगे लिखा जायगा।

श्रम विभाग में श्रमी एक बहुत साधारण और सरल क्रिया करता है। निरन्तर इसे करते करते उसे इसकी कोई और अधिक सुगम विधि मालूम हो सकती है। इसका यह आविष्कार अन्य अनेक श्रमियों के लिये बहुत लाभ-प्रद होता है। वैज्ञानिक या यान्त्रिक अविष्कारों का यथेष्ट उपयोग भी तभी हो सकता है, जब श्रम विभाग द्वारा काम किया जाय।

प्रायः श्रमियों की कार्य-कुशलता भिन्न भिन्न होती है। किसी में शारीरिक शक्ति अधिक होती है, किसी में मानसिक। पुनः किसी की कोई कर्मेन्द्रिय तेज़ होती है, किसी की कोई। श्रमियों में पुरुष, स्त्री, बच्चे, बूढ़े, बलवान, दुर्बल, अन्धा, लंगड़ा आदि अनेक प्रकार के व्यक्ति होते हैं। श्रम-विभाग द्वारा ही यह सम्भव है कि इनमें से प्रत्येक को उसकी सामर्थ्य के अनुसार काम दिया जा सके। यदि प्रत्येक आदमी को सभी कार्य करना हो, तो इनमें से बहुत सों का उपयोग ही न हो सकेगा। कुशल श्रमजीवी को अपना समय ऐसे कार्य में भी लगाना पड़ेगा, जिसे साधारण योग्यतावाला व्यक्ति भी कर सकता है, इसमें उसकी कार्य-कुशलता से पूरा लाभ नहीं होगा।

पहले बताया जा चुका है कि श्रम विभाग द्वारा श्रमियों की निपुणता बढ़ती है, तथा प्रत्येक श्रमी की कार्य-कुशलता का यथेष्ट

उपयोग होता है। इन बातों से धनोत्पत्ति में खर्च कम होना स्पष्ट ही है। इसके अतिरिक्त श्रम विभाग की दशा में प्रत्येक व्यक्ति को केवल थोड़े से ही औजारों की आवश्यकता होती है, इस प्रकार धनोत्पादन की इस मद में बचत होती है। श्रम विभाग के लाभों का इतना उल्लेख करके अब इसकी हानियों पर विचार करें।

श्रम विभाग में बहुत से श्रमियों को किसी कार्य के एक उप-विभाग की क्रिया सम्पादन करने में लगा रहना पड़ता है। उदाहरणवत् पिन बनाने के कारखाने में सैकड़ों आदमी अपना समय केवल पिन की नोक ठीक करने में व्यतीत करते हैं, वे यंत्र की भांति काम करते हैं, और उनका कार्य बहुत नीरस होता है।

प्रत्येक श्रमी को एक कार्य के छोटे से उपविभाग का ही कार्य करना पड़ता है, उसे उसी का अभ्यास होता है। यदि किसी कारण से उसका निर्धारित कार्य छूट जाय तो, उसकी कार्य-क्षमता एक परिमित क्षेत्र तक ही परिमित होने से, उसे अन्यत्र काम मिलना सहज नहीं होता। इससे बेकारी की विकराल समस्या उपस्थित होती है, जो आधुनिक व्यवसायिक जगत का एक विशेष चिन्तनीय अभिशाप है। परन्तु एक कार्य के भिन्न भिन्न उपविभागों का भेद इतना कम है, और प्रत्येक उपविभाग का कार्य इतना सरल है कि एक उपविभाग में कार्य करने वाला श्रमी दूसरे उपविभाग का कार्य जल्दी ही सीख सकता है।

प्रत्येक कार्य के उपविभागों की क्रियाएँ इतनी सरल हो गयी हैं, कि उनको करने के लिए विशेष बुद्धि या निपुणता की आवश्यकता

नहीं रहती। अधिकतर कार्य अ-कुशल श्रमियों द्वारा हो जाता है, कुशल या निपुण श्रमियों का कार्यक्षेत्र घटता जाता है।

पूंजी की क्षमता—पूंजी एक निष्क्रिय वस्तु है, उसकी क्षमता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि उसका उपयोग किस प्रकार किया जाता है, और अभीष्ट-सिद्धि के लिए वह कहां तक अनुकूल है। कुशल श्रमी ही यह जानता है कि किसी काम के लिए कौनसी मशीन, औजार या कच्चा पदार्थ अधिकतर उपयोगी है तथा उसे किस तरह मितव्ययिता-पूर्वक काम में लाना चाहिए, इसके विपरीत अकुशल श्रमी मशीन बिगाड़ देता है, तथा बहुत सा कच्चा माल नष्ट कर देता है। आजकल पूँजी के अन्तर्गत मशीनों का भाग बहुत बढ़ गया है, तथा बढ़ता जा रहा है, अतः इस प्रसंग में मशीनों के लाभ हानि का विचार कर लेना उचित होगा। पहले लाभों को लीजिये।

मशीनों से हानि-लाभ—संक्षेप में मशीनों से होनेवाले लाभ निम्न-लिखित हैं:—(१) अब अनेक कठिन श्रम के कार्य मशीनों द्वारा हो जाते हैं। पहले अधिक श्रम करने से श्रमी की शक्ति बहुत क्षीण होती थी, उसका स्वास्थ्य बिगड़ता था, और इससे उसकी आयु कम होती थी। अब मशीनों के प्रयोग से यह बात नहीं रही; मनुष्य को शारीरिक श्रम कम करना पड़ता है।

(२) मशीनों से बहुत से ऐसे काम हो सकते हैं, जो पहले या तो होते ही नहीं थे, या अत्यन्त कठिनाई से हो सकते थे। उदाहरणवत् आजकल के से, बड़ी बड़ी नदियों और नहरों के पुल तथा एक एक

नगर के अनेक विशाल गगन-चुम्बी भवन आदि प्राचीन काल में आश्चर्यजनक दृष्टि से देखे जाते। इसी प्रकार जेबी या कलाई की घड़ियों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुर्जे इतने बड़े परिमाण में मशीनों के बिना बनने असम्भव ही थे। इन पुर्जों के हाथ से बनाने में मनुष्यों की आँखों पर कितना जोर पड़ता, बहुतों की तो नजर ही खराब हो जाती।

(३) मशीनों द्वारा श्रम-विभाग के लाभ (जो पहले बताये जा चुके हैं) चरम सीमा तक मिलते हैं। उत्पत्ति बढ़ जाती है। माल सस्ता होता है, सर्व साधारण भी उन वस्तुओं को खरीद सकते हैं, जो मशीनों के अभाव में केवल कुछ धनी लोगों के ही काम आतीं। आज-कल पोस्टमेन, विद्यार्थियों, और कार्यालयों के कर्मचारियों और चपरासियों आदि के पास घर घर साइकल मौजूद हैं, कुछ अच्छी स्थिति-वाले लोग तो मोटर रखने लगे हैं, यह मशीनों का ही प्रताप है।

(४) मशीनों द्वारा ही यह सम्भव है कि एक ही नमूने की और पूर्णतया एक ही आकार की सैकड़ों वस्तुएँ बनायी जायँ। हाथ से बनायी जानेवाली बहुधा दो वस्तुएँ भी पूर्णतया समान नहीं होतीं। आजकल भिन्न भिन्न मशीनों में जो सूक्ष्म तथा पेचीदा पुर्जे लगते हैं, वे एक ही साँचे के होते हैं, और बने बनाये चाहे जिस नगर में तैयार मिल सकते हैं।

(५) कितने कार्य जो बहुत नीरस हैं, अब मशीनों के द्वारा सुभीते से किये जा सकते हैं। उदाहरणवत् नालियाँ साफ करना, कूड़ा कचरा ढोना, लकड़ी चीरना, रन्दा करना, आदि। ये सब कार्य अब

मशीन से होते हैं, मनुष्य को केवल थोड़ी सी देख-भाल आदि का साधारण कार्य करना होता है।

(६) मशीनों की सहायता से अब समय और दूरी की समस्या बहुत कुछ हल हो गयी है। महीनों का कार्य केवल कुछ दिनों में, और दिनों का काम केवल कुछ घंटों में पूरा हो जाता है। सैकड़ों हजारों मील दूर रहनेवाले व्यक्ति एक दूसरे से आसानी से सलाह-मशविरा कर सकते हैं। अमरीका और इंगलैंड के वक्ताओं के भाषण भारतवासी उनके ही स्वर में घर बैठे सुन सकते हैं।

मशीनों से लाभ के साथ साथ हानियाँ भी हैं और यद्यपि उन्हें कम करने के लिये निरन्तर प्रयत्न हो रहा है तथा उसमें कुछ सफलता भी मिल रही है, तथापि हानियाँ विचारणीय हैं।

१—मशीनों से दो चार आदमी दर्जनों श्रमियों का काम कर लेते हैं, इस प्रकार बहुत से आदमी बेकार हो जाते हैं; हाँ, जब वस्तु सस्ती बनती है तो उसकी माँग बढ़ने से कुछ और आदमियों को भी काम मिल जाता है, तथापि एक तो इसमें समय लगता है, दूसरे जितने आदमी खाली होते हैं, उन सब को काम नहीं मिलता। पदार्थों के सस्ते होने से आदमियों को नयी आवश्यकताएँ होने लगती हैं, इनकी पूर्ति के प्रयत्न में भी कुछ आदमियों को काम मिलता है। तथापि, बेकारों की संख्या क्रमशः बढ़ती ही जाती है।

२—मशीनों से कारीगरी को बड़ा धक्का पहुँचता है। यद्यपि हाथों द्वारा बनाया हुआ माल कभी कभी अधिक मजबूत तथा बढ़िया होता है, पर वह मँहगा पड़ने के कारण सर्व साधारण में उसकी मांग न

होकर केवल सम्पन्न या धनी व्यक्ति ही उसे खरीदते हैं। इस प्रकार प्रायः स्वतन्त्र कारीगरों का निर्वाह नहीं होता, उन्हें पराधीन श्रमजीवियों का जीवन बिताना पड़ता है।

३—मशीनों से माल जल्दी और अधिक परिमाण में बन जाने से उस सब की उस देश में खपत नहीं हो पाती। माल रुका रहने से उसमें लगे रुपये के सूद की हानि होती है, तथा माल खराब होने की आशका होती है। अतः उसे अनौद्योगिक देशों के सिर मढ़ने का प्रयत्न किया जाता है। इससे भिन्न भिन्न औद्योगिक देशों में पारस्परिक संघर्ष, द्वेष और युद्ध की वृद्धि होती है। इस प्रकार आधुनिक अशान्ति और रक्त-पात का मशीनों के प्रयोग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कभी कभी माल न बिकने की दशा में, आगे होने वाली उत्पत्ति में कमी करने का विचार किया जाता है, और इस हेतु श्रमजीवियों की संख्या तथा काम करने के घंटे कम किये जाते हैं। परन्तु इससे भी उक्त समस्या पूर्ण रूप से हल नहीं होती, तथा कुछ अंश में मजदूरों की वेतन में कमी, अथवा उनकी बेकारी की समस्या आ जाती है।

४—मशीनों का अधिक उपयोग करने वाले देशों में प्रायः पूँजी और मजदूरी का झगड़ा, और हड़ताल होती है, घनी बस्तियाँ स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकर होती हैं, तथा स्त्री पुरुषों का सदाचार ठीक नहीं रहता, परन्तु इन बातों का मशीनों के प्रयोग से प्रत्यक्ष तथा अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है, और इसका क्रमशः सुधार भी हो रहा है।

व्यवस्था की क्षमता—व्यवस्था की क्षमता उत्पत्ति के अन्तिम परिणाम से जानी जाती है। व्यवस्थापक का लक्ष्य यह रहता है कि भूमि, श्रम और पूँजी का इतने परिमाण में तथा ऐसी विधि से उपयोग करे कि कम से कम खर्च होकर, अधिक से अधिक उत्पत्ति हो, अर्थात् लाभ अधिक से अधिक हो; जहाँ तक वह इसमें सफल होता है, उस सीमा तक उसके कार्य अर्थात् व्यवस्था की क्षमता अधिक मानी जाती है। उक्त साधनों की क्षमता के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। व्यवस्थापक उस क्षमता को निरंतर बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह बड़े पैमाने की उत्पत्ति करता है, जिसमें बाह्य तथा आन्तरिक बचत होती है; इसके सम्बन्ध में अगले अध्याय में लिखा जायगा।

अभ्यास के प्रश्न

(१) आधुनिक कल कारखानों में होने वाले श्रम विभाग से आप क्या समझते हैं? इससे होनेवाले आर्थिक तथा सामाजिक परिणाम की विवेचना कीजिए (१९३८)।

(२ कल कारखानों में श्रम की क्षमता किन किन बातों पर निर्भर रहती है? भारतीय परिस्थितियों पर विचार करके बताइए कि यहाँ के श्रम की क्षमता क्यों कम है। (१९३७)

(३) "श्रम विभाग" को सावधानी पूर्वक समझाइए। किस प्रकार इसका विकास होता है? इससे क्या लाभ हैं? उदाहरण दीजिए। (१९३४)

(४) उत्पत्ति के किसी साधन की क्षमता से आप क्या समझते हैं ? क्या भारतीय श्रम की क्षमता ठीक है ? यदि नहीं, तो इसे अधिक क्षमता पूर्ण बनाने के लिए आप क्या उपाय कीजिएगा ? (१६३३)

(५) भारतीय श्रम की क्षमता क्यों कम है ? समझाइए कि कैसे और कहाँ तक इस श्रम की क्षमता बढ़ाई जा सकती है। (१६३२)

(६) श्रम की क्षमता किस प्रकार की पढ़ाई से किस प्रकार बढ़ जाती है :—

(अ) प्राइमरी शिक्षा (ब) शिल्प-शिक्षा (१६२६)

(७) श्रम की क्षमता किन बातों पर निर्भर है? हमारे औद्योगिक केन्द्रों में ये बातें कहाँ तक पाई जाती हैं ? (१६३०)

(८) मशीनों के प्रयोग से क्या हानि लाभ होते हैं ? उदाहरणों सहित लिखिए।

सत्तरहवाँ अध्याय

—०::०—

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति

पिछले अध्यायों में उत्पत्ति के साधनों का विचार कर चुकने पर, अब इस अध्याय में इस बात का विवेचन करना है कि उत्पत्ति की मात्रा का, उत्पादन कार्य पर क्या प्रभाव पड़ता है; यदि छोटी मात्रा में उत्पत्ति की जाय तो उसमें क्या लाभ-हानि है; और यदि बड़ी मात्रा में की जाय तो क्या सुविधाएँ या असुविधाएँ होंगी।

प्राचीन काल में, छोटी मात्रा की उत्पत्ति* होती थी; जैसा कि पिछले अध्याय में बताया जा चुका है, बहुधा एक ही आदमी अपनी भूमि पर, अपने श्रम और पूँजी से उत्पत्ति करता था, वह आवश्यकतानुसार अपने परिवार के व्यक्तियों से सहायता ले लेता था। क्रमशः कुछ कुछ आदमियों ने मिलकर कार्य करना आरम्भ किया, अब तो बहुत-सा उत्पादन कार्य बड़ी बड़ी पूँजी से कल कारखानों में मशीनों द्वारा होता है। एक एक जगह सैकड़ों हज़ारों आदमियों के सहयोग से, श्रम विभाग के विकसित सिद्धान्तों के अनुसार, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होती है। हाँ, इससे छोटी मात्रा की उत्पत्ति सर्वथा बन्द नहीं हुई है, वरन् जैसा

---

* Small-scale Production

आगे मालूम होगा, कुछ दशाओं में अब छोटी मात्रा की उत्पत्ति को ऐसी सुविधाएँ प्राप्त हो गयी हैं, जो पहले प्राप्त नहीं थीं।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से बचत—अब हम यह विचार करते हैं कि बड़ी मात्रा की उत्पत्ति* से क्या लाभ-हानि है। पहले यह उल्लेखनीय है कि बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में कई प्रकार की बचत होती है, यह तो ऊपर कहा ही जा चुका है कि बड़ी मात्रा की उत्पत्ति अधिकतर कल-कारखानों में होती है। बड़े कल-कारखानों में यंत्रों के सुधार और मरम्मत के लिये अपनी व्यवस्था होती है, इसके लिये उन्हें बाहरवालों की सहायता लेनी नहीं पड़ती। इससे बचत होना स्वाभाविक ही है। फिर बढ़िया यंत्रों के कारण बिजली और कोयले आदि की सञ्चालक शक्ति का व्यय भी कम होता है।

बड़े कारखाने वालों को, छोटी मात्रा की उत्पत्ति वालों की अपेक्षा, कच्चा माल अधिक परिमाण में, थोक खरीदना होता है, इससे उन्हें यह सस्ता मिल जाता है, और उसकी ढुलाई आदि का खर्चा भी औसतन कम लगता है। इन्हें पूँजी भी कम सूद पर मिल जाती है। इन्हें अपना माल बेचने में भी बचत होती है, कारण, इनके पास अनेक प्रकार का काफी सामान रहने से ये ग्राहकों की विभिन्न रुचि के अनुसार वस्तुएँ दे सकते हैं। इन्हें अपने यहाँ तैयार माल भी औसतन कम रखना होता है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में, भूमि की आवश्यकता औसतन कम होती है, अर्थात् किसी छोटी मात्रा के एक कार्य के लिये जितनी भूमि

---

* Large-scale Production

चाहिये; उससे सौ गुना उत्पादन करनेवाले कारखाने के लिये सौ गुना भूमि नहीं चाहिये, सम्भव है, बीस-पचीस गुणा भूमि से ही काम चल जाय। इससे लगान का खर्च औसतन कम लगता है।

छोटी मात्रा की उत्पत्ति में कुछ पदार्थ अवशिष्ट रह जाते हैं, प्रायः इनका कुछ उपयोग नहीं हो पाता; बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में इन अवशिष्ट पदार्थों को यथा-सम्भव व्यर्थ नहीं जाने दिया जाता, इससे अन्य पदार्थ बनाये जाते हैं। यहाँ तक कि कोयले की राख आदि का भी उपयोग होता है, अथवा उसे बेचकर काफी दाम वसूल किये जाते हैं।

माल बेचने में विज्ञापन का कितना भाग होता है, यह सर्व-विदित है, और इस सम्बन्ध में कुछ अन्यत्र लिखा भी गया है। अस्तु, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति वाले जितने अधिक परिमाण में तथा जितने कम मूल्य में अपनी वस्तुओं का विज्ञापन कर सकते हैं, छोटी मात्रा वाले नहीं करा सकते। इन्हें एजन्ट, दलाल या प्रचारक भी औसतन कम रखने होते हैं। इसका अर्थ यह है कि बड़ी मात्रा वालों के बिक्री-खर्च के इन अंशों में काफी बचत होती है।

ऊपर जो भिन्न भिन्न प्रकार की बचत बतायी गयी है, इसके मुख्य दो भेद किये जा सकते हैं :—(१) बाह्य, और (२) आभ्यन्तरिक। बाह्य बचत* में वे बचत गिनी जाती हैं, जो किसी उद्योग धन्धे की व्यापक रूप से होने वाली उन्नति के कारण होती हो, उस उद्योग धन्धे के किसी विशेष कारखाने की व्यवस्था आदि के कारण नहीं। उदाहरण-

---

* External Economies.

वत् जब कोई व्यवसाय किसी विशेष स्थान पर केन्द्रीभूत हो जाता है, तो उसके कारखानों को उसकी मशीनें, औजार तथा कच्चा माल मँगाने, और तैयार माल बाहर भेजने की बड़ी किफायत होने लगती है, यातायात की सुविधाएँ हो जाती हैं, तथा उस व्यवसाय सम्बन्धी विविध उपयोगी बातों का ज्ञान सहज ही होने लगता है। इन सब बातों से व्यवसाय सम्बन्धी खर्च में बचत होती है।

आभ्यन्तरिक बचत* में वे बचतें समझी जाती हैं, जो किसी व्यवसाय के एक विशेष कार्यालय की व्यवस्था आदि के कारण हो। उदाहरणवत् श्रम विभाग और अच्छी तरह करने, बढ़िया मशीनों के उपयोग करने, संचालन शक्ति (भाफ या बिजली आदि) के उपयोग में मितव्ययिता होने, आदि से बहुत बचत हो सकती है। सुयोग्य प्रबन्धक ऐसी बहुत सी बातें सोच सकता है, और उन्हें सुविधानुसार कार्यान्वित कर सकता है।

अन्य लाभ—उपर्युक्त बचत के परिणाम-स्वरूप, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में लागत-खर्च कम होता है। इससे समष्टि रूप से समाज को बड़ा लाभ होता है। सर्व साधारण उपभोक्ताओं को भी फायदा है, कारण कि इससे वस्तुओं का मूल्य प्रायः कम हो जाता है, उपभोक्ता पदार्थों का अधिक परिमाण में, या अधिक संख्या में उपभोग कर सकते हैं। कुछ दशाओं में, छोटी मात्रा की उत्पत्ति की अपेक्षा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति करने वाले श्रमजीवियों को अधिक वेतन तथा कार्य

---

* Internal Economies.

करने में अधिक सुविधाएँ दे सकते हैं। प्रत्येक आदमी को उसकी योग्यता के अनुसार काम मिलता है, साधारण कार्य के लिये साधारण कुशलता के आदमी रहते हैं, और विशेष कार्यों के वास्ते उच्च वेतन और अधिक योग्यता वाले वैज्ञानिकों तथा विशेषज्ञों की नियुक्ति की जा सकती है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के कामों में नये बढ़िया से बढ़िया यंत्रों का उपयोग हो सकता है, और यंत्रों और आविष्कारों सम्बन्धी विविध प्रयोग और परीक्षण किये जा सकते हैं। इससे उत्पत्ति की वृद्धि होती है। बहु-व्यय-साध्य होने के कारण ये बातें छोटी मात्रा की उत्पत्ति वाले कार्य में सम्भव नहीं हैं। बड़े बड़े कल-कारखानों में ही इनके लिये हजारों लाखों रुपये खर्च किये जा सकते हैं। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति वालों का बाजार बहुत विस्तृत होता है, वे विविध स्थानों में होने वाले कीमत के उतार-चढ़ाव से परिचित रहते हैं। यदि एक स्थान पर उन्हें कच्चा माल मँहगा मिलता है, या उनके तैयार माल की बिक्री कम होती है तो उनके लिये दूसरे अनेक स्थानों का क्षेत्र खुला रहता है।

कुछ विरोधक बातें—एक सीमा के बाद, ज्यों ज्यों कोई व्यवसाय बढ़ता है, उसका प्रबन्ध एक व्यक्ति द्वारा योग्यता तथा मितव्ययिता पूर्वक होना कठिन हो जाता है; क्रमशः बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से होने वाली बचत में कमी होने लगती है, और औसत खर्च बढ़ने लगता है। अन्ततः व्यवसाय की और अधिक वृद्धि हानिकर होती देखकर, उसे रोक देना पड़ता है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में व्यवस्थापक अर्थात् प्रबन्धक और साहसी विशेष कार्य-कुशल होने चाहिये, उनके आवश्यक गुण हर किसी में नहीं होते। अतः साधारण आदमी को उसमें सफलता नहीं मिलती। विफलता की आशंका से अनेक आदमी उसका उत्तरदायित्व नहीं लेते। इसके विपरीत, उन्हें छोटी मात्रा की उत्पत्ति के कार्य में सफलता की बहुत आशा होती है, और इसलिये वे उसी की ओर आकर्षित होते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक उन्नति से छोटी छोटी परन्तु खूब काम करने वाली मशीनें, तथा बिजली आदि की संचालक शक्ति घर घर पहुंच सकने से अब अनेक स्वाधीनता-प्रेमी व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए (कारखानों के श्रमियों की तरह किसी की अधीनता में न रहते हुए) उत्पादन कार्य करना पसन्द करते हैं, चाहे इसमें उन्हें अपने परिश्रम का फल कुछ कम ही मिले। फिर, आज कल शिक्षा, साहित्य, समाचार-पत्रों तथा तार, टेलीफोन और बेतार के तार आदि सम्वाद-वाहक यंत्रों के अधिकाधिक प्रचार के कारण छोटे छोटे व्यवस्थापक भी बाजार भाव से सहज परिचित रह सकते हैं, उनसे कोई बात छिपी नहीं रहती। इससे छोटी मात्रा की उत्पत्ति की एक बाधा दूर होकर, उसकी ओर प्रवृत्ति बढ़ने में सहायता मिल रही है।

छोटी मात्रा की उत्पत्ति करने वालों में सहकारिता की भावना बढ़ने पर, उन्हें कुछ बचत हो सकती हैं। कच्चे माल, औजार और यंत्र खरीदने में, तैयार माल को बेचने और अवशिष्ट माल का उपयोग करने में, एवं आवश्यक रुपया उधार लेने में सहकारिता द्वारा

छोटे उत्पादकों को भी बहुत लाभ हो सकता है। यह भी बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के विरुद्ध, और छोटी मात्रा की उत्पत्ति के पक्ष की बात है।

कुछ आदमी मशीन के बने हुये माल की अपेक्षा हाथ से बना हुआ ही अधिक पसन्द करते हैं, और उसके लिये अपेक्षाकृत कुछ अधिक मूल्य भी देने को तत्पर रहते हैं। ऐसा माल छोटी मात्रा में ही तैयार हो सकता है, उदाहरणवत् शाल दुशाले, कालीन, हाथ के कते हुए सूत का, हाथ से बुना बढ़िया कपड़ा, धातु या लकड़ी का बारीक काम। जो काम बहुत मोटा-झटा होता है, जिसमें निपुणता की आवश्यकता नहीं होती, जिसमें कच्चा माल बहुत चाहिये वह भी छोटी मात्रा में ही उत्पन्न हो सकता है, यथा मोटा खद्दर, मिट्टी की ईंटें। मशीनों तथा उनसे बनी हुई कल पुर्जों वाली चीजें, जैसे मोटर, बाइसिकल, घड़ी आदि को सुधारने का काम बड़ी मात्रा में नहीं हो सकता, इसके लिये छोटी मात्रा की उत्पत्ति के ही कार्यों की आवश्यकता होती है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से हानियाँ—अब हम बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से होने वाली हानियों का विचार करते हैं। स्मरण रहे कि अधिकांश हानियाँ पूँजीवाद-पद्धति में ही होती है; जब साम्यवाद में, सरकार द्वारा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होती है, तो वे हानियाँ नहीं होतीं। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति करने वालों के बहुधा 'ट्रस्ट' बन जाते हैं, जो बाजार के एक बड़े भाग पर एकाधिकार-सा प्राप्त कर लेते हैं। इनकी प्रतियोगिता में छोटे उत्पादक और दुकानदार टिक नहीं सकते,

उन्हें प्रायः बड़े बड़े कारखानों में श्रमजीवी बनने की नौबत आ जाती है, जिनकी आर्थिक स्थिति व्यवस्थापकों की तुलना में अत्यन्त चिन्तनीय होती है। अस्तु, उपर्युक्त एकाधिकारी ट्रस्ट अन्य उत्पादकों को क्षेत्र से हटा कर, पदार्थों की कीमत बढ़ा देते हैं, और उन्हें घटिया बनाने लगते हैं। ये क्रमशः अन्य देशों के बाजार को भी हथियाने की तरकीबें सोचते हैं, अनुकूल अवसर पाकर वहाँ अपना माल सस्ता बेंच कर वहाँ के कारखानों को बन्द करा देते हैं। एकाधिकार के सम्बन्ध में विशेष विचार आगे एक स्वतंत्र अध्याय में किया जायगा।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति का, जब कि वह श्रमजीवियों या राज्य के नियंत्रण में न होकर, कुछ पूँजीपतियों द्वारा हो, एक परिणाम देश के धन का असमान वितरण होता है। मुट्ठी भर आदमियो का, देश के अधिकांश धन पर अधिकार हो जाता है, वे क्रमशः लखपति और करोड़पति ही नहीं; अरबपति और खरबपति बन जाते हैं, और वृहत् जन समुदाय के हिस्से में धन की शेष थोड़ी सी मात्रा आती है। इससे असंतोष, क्रान्ति और अनाचार की वृद्धि होती है। पुनः व्यवस्थापक सोचते हैं कि हम अपने तैयार माल को विज्ञापन, या प्रचार आदि के बल पर खपा देंगे; उसके लिये नये नये बाजारों की खोज करके उन पर अधिकार प्राप्त कर लेगे। यह भावना सभी व्यवसाइयों में होती है, इस लिये एक देश के व्यवसाइयो में परस्पर विरोध होता है, और एक देश के व्यवसाइयों का दूसरे देश के व्यवसाइयों से झगड़ा रहता है। और, क्योंकि प्रायः प्रत्येक देश की राष्ट्रीय सरकार अपने

यहाँ के व्यवसाइयों के पक्ष का समर्थन करती है, और उन्हें आवश्यक सुविधाएँ और सहायता देती है, इसलिये विविध देशों की सरकारों का आपस में मनोमालिन्य हो जाता है, जिसके परिणाम-स्वरूप थोड़े बहुत समय में परस्पर विरुद्ध स्वार्थ वाले देशों का युद्ध होता है। भिन्न भिन्न राष्ट्रों के गुट बनने या दलबन्दी होने से दो राष्ट्रों का युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय महायुद्ध का रूप धारण कर लेता है। आज कल महायुद्ध की आशंका हर समय बनी रहती है, इसका मूल बहुत कुछ आर्थिक स्वार्थों का संघर्ष, और बड़ी मात्रा की उत्पत्ति है।

बड़े बड़े कारखाने—अब हम भारतवर्ष के बड़े बड़े कारखानों के सम्बन्ध में कुछ विचार करते हैं। सन् १९३२—३३ ई० में ब्रिटिश भारत में (जिसमें बर्मा सम्मिलित नहीं है) कुल मिला कर ७,५१० कारखाने थे, जिनमें से ३,६८० निरंतर साल-भर चलने वाले थे, और शेष मौसमी, अर्थात् किसी ऋतु विशेष में चलनेवाले। कुल कारखानों में प्रतिदिन औसतन तेरह लाख आदमी काम करते थे, जिनमें से साढ़े दस लाख व्यक्ति निरंतर साल-भर चलनेवाले कार-खानों में काम करते थे, और शेष व्यक्ति मौसमी कारखानों में। प्रांतों की दृष्टि से सबसे अधिक कारखाने क्रमशः बंबई, बंगाल और मदरास में थे; इनमें से प्रत्येक प्रांत के कारखानों की संख्या डेढ़ डेढ़ हज़ार से अधिक, और तीनों को मिला कर ४६४१ थी। इस प्रकार देश भर के कुल कारखानों के आधे से अधिक इन्हीं तीन प्रांतों में थे। इन तीनों प्रान्तों के श्रमजीवियों की संख्या साढ़े नौ लाख (कुल श्रम-जीवियों की संख्या की लगभग ६८ फी-सैकड़े) थी। संयुक्त-प्रांत में

कारखानों और उनमें कार्य करने वाले श्रमियों की संख्या क्रमशः ४७६ और १, १२, ६६३ थी।

ब्रिटिश भारत के उपर्युक्त कुल कारखानों में से ३४३ सरकारी तथा स्थानीय-स्वराज्य-संस्थाओं के थे, (३३७ निरंतर काम करने वाले, और ६ मौसमी)। कारखाने विशेषतया, खाद्य पदार्थों, रूई (कातने बुनने), जूट, कागज, इंजिनयरिंग, खनिज द्रव्यों, रासायनिक द्रव्यों और रंगों, जीन प्रेस, चमड़े, शीशे, लकड़ी और पत्थर के थे। देशी रियासतों में सन् १६३२ ई० में कुल १,६४६ कारखाने थे, जिनमें से ६६ तो राज्यों के थे, और शेष, जनता के। इनमें कुल मिलाकर प्रति दिन औसतन लगभग दो लाख व्यक्ति काम करते थे। इस प्रकार ब्रिटिश-भारत और देशी रियासतों में, कुल कारखानों में काम करनेवाले व्यक्तियों की संख्या पंद्रह लाख है। इससे स्पष्ट है, कि समस्त जन-संख्या का विचार करते हुए इनका अनुपात बहुत साधारण ही है।

औद्योगिक उन्नति की आवश्यकता—कुछ वर्षों से भारतवर्ष की औद्योगिक उन्नति हो रही है, परंतु सरकारी तथा गैर-सरकारी सब विचारशील सज्जन यह स्वीकार करते हैं कि उन्नति, इस देश की जन-संख्या और क्षेत्रफल को देखते हुए जैसी होनी चाहिए थी, नहीं हुई है, तथा यहाँ इसकी बहुत आवश्यकता है; इससे कई लाभ होंगे:—

(१) कृषि पर निर्वाह करनेवालों की संख्या घटेगी, और फ़सल खराब होने की दशा में आर्थिक संकट विशेष न होगा। (२) राष्ट्रीय आय की वृद्धि होगी, और लोगों का रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होगा। इससे उनकी कार्य-क्षमता और उत्पादन-शक्ति बढ़ेगी, जिसके परिणाम-

स्वरूप पुनः जनता की आय बढ़ेगी।। इस प्रकार पारस्परिक लाभदायक क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहेगी। (३) सरकार तथा म्युनिसिपैलिटियों आदि स्थानीय संस्थाओं की आय बढ़ेगी और वे सार्वजनिक उपयोगिता के अधिकाधिक कार्य कर सकेंगी। (४) अनेक आदमियों को रोजगार मिलेगा, और उनकी बेकारी दूर होने में सहायता मिलेगी। (५) देश स्वावलम्बी होगा । आवश्यक वस्तुएँ यहाँ ही बनाई जा सकेंगी, उनके लिए विदेशों को रुपया भेजना, तथा उनके आश्रित रहना न होगा। (६) लोगों की, धन गाड़ कर रखने, या उसे जेवर आदि अनुत्पादक कार्यों में लगाने की प्रवृत्ति में सुधार होगा। मिश्रित पूँजी की व्यवस्था में लोगों की बचत की छोटी-छोटी रकमों का भी उपयोग हो सकता है, जो अन्यथा बेकार पड़ी रहती हैं। (७) लोगों के विचारों की संकीर्णता दूर होगी, उनका दृष्टि-कोण उदार होगा। वे परम्परा के अंध-भक्त न रहेंगे, हानिकर रूढ़ियों को तोड़ते हुए समाज-सुधार में अधिक अग्रसर होंगे। (८) कृषि को भी लाभ होगा। देश में धन अधिक होने से, कृषि की उन्नति के लिए आवश्यक पूँजी मिलना सुगम होगा।

औद्योगिक उन्नति पर यातायात के साधनों का प्रभाव; उद्योग धन्धों का स्थानीय करण—बहुधा यह देखने में आता है कि उद्योग धन्धे के कारखाने कुछ खास खास स्थानों पर विशेष रूप से चलने लगते हैं; कुछ स्थान किसी खास व्यवसाय के केन्द्र बन जाते हैं। इसे उद्योग धन्धों का स्थानीय करण* कहते हैं, उदाहरण-

---

* Localisation of Industries

स्वरूप भारतवर्ष में कलकत्ता ज्यूट के कारखानों का, और अहमदाबाद और बम्बई कपड़े की मिलों के केन्द्र हैं। इसी प्रकार इंगलैंड में लेंकेशायर और मेंनचेस्टर कपड़े की मिलों के लिये प्रसिद्ध हैं। इन स्थानों में तैयार किये जाने वाले पदार्थ केवल अपने नगर में ही पर्याप्त नहीं होते, वरन् दूर दूर के, सैकड़ो हजारों मील के फासले पर रहने वाले आदमियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। किसी उद्योग धन्धे के स्थानीयकरण के कई कारण होते हैं, कभी कभी दो या अधिक कारणों का एक साथ भी प्रभाव पड़ता है। कुछ दशाओं में प्राकृतिक कारण बहुत महत्वपूर्ण होते हैं, तथापि यातायात के साधनों का इस पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

जिन स्थानों में रेल, जहाज आदि से यातायात की सुविधा होती है, वहाँ अन्य स्थानों की अपेक्षा, स्थानीयकरण की प्रवृत्ति अधिक होती है। बंगाल में कलकत्ता और बम्बई प्रान्त में बम्बई नगर की विशेषता बहुत कुछ इस दृष्टि से भी है। दूर दूर से कच्चा माल मंगाने, तथा तैयार माल को दूर दूर तक भेजने में यातायात सम्बन्धी मित-व्ययिता का ध्यान रखना आवश्यक होता है, अतः अन्य बातें समान होने की दशा में जिस स्थान में यातायात की सुविधाएँ अधिक होंगी, और खर्च कम पड़ेगा, वहाँ उद्योग-धन्धों का स्थानीयकरण अधिक होगा। कुछ दशाओं में यातायात की उन्नति का उलटा परिणाम भी होता है। अब यातायात का खर्च तथा उसमें लगने वाला समय कम हो गया है, इसलिये कारखानों को कच्चे माल के उत्पत्ति-स्थान, मंडी, या बन्दरगाह से दूर स्थापित करने की असुविधा तथा हानि घट

गयी है। उद्योग धन्धे को एक ही स्थान पर केन्द्रित की जाने की अब उतनी जरूरत नहीं रही।

उद्योग धन्धे के स्थानीयकरण से लाभ—किसी उद्योग धन्धे के बहुत से कारखाने एक ही स्थान पर स्थापित होने से वहाँ के अनेक श्रमी उसी काम में लगे रहते हैं, फलस्वरूप वहाँ की जनता के एक खासे भाग को उसके विषय में जानकारी हो जाती है, विशेषतः श्रमियों की सन्तान को उस विषय का शिक्षण प्राप्त करना बहुत सुगम हो जाता है। अन्य श्रमी भी वहाँ अधिकतर ऐसे ही आते हैं, जिन्हें उस विशेष व्यवसाय का अच्छा ज्ञान होता है। इस प्रकार वह जगह उस विशेष प्रकार के श्रमियों का केन्द्र बन जाती है। इससे श्रमियों के अतिरिक्त, उस उद्योग धन्धे का नया कारखाना खोलने वालों को भी सुविधा होती है।

जब किसी उद्योग धन्धे के कई कारखाने एक ही स्थान पर होते हैं, तो एक कारखाने के मालिक, प्रबन्धक, और इंजिनियर आदि को दूसरे कारखाने वालों से मिलने और विचार-विनिमय करने का खूब अवसर मिलता है। वे यंत्रों तथा कार्य-पद्धति आदि के सम्बन्ध में सोच विचार करते हैं। इससे एक कारखाने में जो प्रयोग या उन्नति होती है, उसकी वहाँ के दूसरे कारखाने वालों को भी जानकारी हो जाती है। इस प्रकार सब कारखाने वालों को उससे लाभ होता है।

जब कोई उद्योग-धन्धा किसी विशेष क्षेत्र में केन्द्रित हो जाता है, तो उसके लिये वह स्थान दूर दूर तक प्रसिद्ध हो जाता है, और वहाँ

उसके वास्ते आवश्यक कच्चा माल आने, तथा उसका तैयार माल दूर दूर के बाजारों में जाने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है; इसके सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है।

एक उद्योग-धन्धे के स्थानीयकरण से उसके अवशिष्ट पदार्थों के व्यर्थ जाने की बात नहीं रहती। जब कारखाने पृथक् पृथक् क्षेत्रों में होते हैं तो उनमें से प्रत्येक का अवशिष्ट पदार्थ कम मात्रा में होने से, उनका यथेष्ट उपयोग नहीं किया जाता, ऐसा करने में विशेष लाभ भी नहीं होता। किन्तु कई कारखाने एक ही स्थान में होने की दशा में, उनका अवशिष्ट पदार्थ काफी मात्रा में इकट्ठा हो जाता है, उसका उपयोग करने के लिये अर्थात् उससे अन्य उपयोगी पदार्थ बनाने के लिये अच्छे बढ़िया यंत्र मंगाने और बड़ा कारखाना स्थापित करने का विचार किया जा सकता है, इसमें काफी लाभ की भी आशा रहती है। इस प्रकार उद्योग धन्धे के स्थानीयकरण से कुछ गौण उपयोगी पदार्थों की उत्पत्ति होने लगती है। इन गौण पदार्थों के कारखानों से यातायात, महाजनी, बैंकिंग कार्य आदि की जो वृद्धि होती है, उसका लाभ मुख्य उद्योग धन्धे को भी मिलता है।

कुछ उद्योग-धन्धों के स्थानीयकरण से दूसरे पूरक उद्योग धन्धे की स्थापना में सहायता मिलती है। उदाहरणवत् लोहे के कारखानों में हृष्ट-पुष्ट श्रमियों की आवश्यकता होती है। उन कारखाने वालों को उन्हें अपेक्षाकृत अधिक वेतन देना होता है; पर उक्त श्रमियों की स्त्रियों तथा बालकों को वहाँ काम न मिलने से उन्हें परिवार की दृष्टि

से वह वेतन कम ही मालूम होता है। इसलिये जब तक उन्हें काफी वेतन की प्राप्ति न हो, वे वहाँ काम करने को तैयार नहीं होते। अब यदि लोहे के कारखाने के पास कपड़े की मिलें स्थापित हो जायँ तो उक्त श्रमियों की बेकार स्त्रियों और बालकों को उसमें उपयुक्त काम मिल सकता है। जब उन्हें वेतन-प्राप्ति होने लगती है तो उक्त श्रमी लोहे के कारखाने में अपेक्षाकृत कुछ कम वेतन पर भी काम करने लगते हैं। इस विचार से कुछ स्थानों में लोहे के कारखानों के पास कपड़े के कारखाने स्थापित किये गये हैं, और किये जाते हैं। इस प्रकार मुख्य और पृथक उद्योग धन्धे दोनों एक दूसरे की सहायता करते हैं।

स्थानीयकरण से हानियाँ और उनसे बचने के उपाय— यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि जब किसी उद्योग धन्धे में एक विशेष प्रकार के ही श्रमियों की, उदाहरणवत् केवल मनुष्यों को आवश्यकता हो, तो उससे बड़ी असुविधा और हानि होती है। उसका उपाय यही है कि वहाँ कोई पूरक व्यवसाय भी स्थापित किया जाय, जिसमें अन्य प्रकार के श्रमियों की, जैसे उपर्युक्त उदाहरण में स्त्रियों और लड़कों की, आवश्यकता हो।

स्थानीयकरण की दूसरी हानि यह है कि जब किसी ऐसे क्षेत्र में जो विशेषतया एक ही उद्योग धन्धे के आश्रित हो, वहां तैयार होने वाले विशेष माल की मांग किसी कारण से कम हो जाय; या उसके लिये आवश्यक कच्चा माल मिलने में कठिनाई हो जाय, तो उस

समस्त क्षेत्र में आर्थिक संकट उपस्थित हो जाता है—श्रमियों का वेतन कम हो जाता है, उनमें बेकारी बढ़ जाती है, व्यापार मंदा हो जाता है। इससे बचने का उपाय यही है कि उपर्युक्त क्षेत्र में दूसरे भी उद्योग धन्धे हो; यदि एक उद्योग धन्धे का किसी कारण धक्का लगे तो दूसरे उद्योग धन्धों द्वारा आर्थिक संकट कम होने में सहायता मिले।

निष्कर्ष—सभी उद्योग धंधे ऐसे नहीं हैं कि उनका स्थानीय-करण हो सके। वही उद्योग-धन्धा केन्द्रित हो सकता है, जिसकी वस्तु की मांग स्थिर हो, तथा काफी परिमाण में हो, जिसका बाजार विस्तृत हो, जो दूर दूर तक सुगमता-पूर्वक ले जा कर बेची जा सके। इससे स्पष्ट है कि जो वस्तुएँ जल्दी खराब होने वाली हैं, जो अपने परिमाण की दृष्टि से बहुत भारी होने के कारण दूर दूर तक ले जायी जाने में बहुत व्यय-साध्य होती हैं, जिनका बाजार (मांग कम या अस्थिर होने के कारण) परिमित होता है, उनके उद्योग धन्धे का स्थानीय-करण बहुत अधिक नहीं होता। पुनः किसी स्थान में एक ही उद्योग-धन्धा न रहना चाहिये, उसमें या उसके निकट ऐसे अन्य उद्योग-धन्धों की स्थापना होनी चाहिये, जिनमें गौण पदार्थ तैयार किये जायँ या जो मुख्य धन्धे के लिये श्रमियों की दृष्टि से पूरक उद्योग धन्धे का काम दें, अर्थात् जिनमें स्त्रियाँ और लड़के काम करें। इससे श्रमियों को साधारण समय में कार्य-विविधता, और मंदी के समय में कुछ आर्थिक सहायता प्राप्त होगी। यह बात श्रमियों के अतिरिक्त कारखाने वालों के लिये भी उपयोगी है।

अभ्यास के प्रश्न

(१) बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के गुण दोष विस्तार पूर्वक समझाइए। ऐसी उत्पत्ति किस हद तक वांछनीय है ? उदाहरण सहित समझाइए। (१९२९)

(२) बड़ी और छोटी मात्रा पर की जाने वाली उत्पत्ति के गुण दोषों की विवेचना कीजिए। आप अपने देश के लिए किसकी उन्नति चाहेंगे और क्यों ? (१९३३)

(३) यातायात के साधनों का भारतीय ग्रामीण उद्योग धंधों और कृषि पर क्या आर्थिक प्रभाव पड़ता है ? विस्तार पूर्वक समझाइए। (१९३७, १९३५)

(४) भारत में प्रचलित यातायात के भिन्न भिन्न साधनों को बताइए। उनके प्रचलन और उन्नति से भारत की राष्ट्रीय हलचलों पर क्या प्रभाव पड़ा है ? (१९३३)

(५) यातायात के साधनों में उत्तरोत्तर वृद्धि का भारतीय कृषि की दशा तथा ग्रामीण जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है ? (१९३२, १९२६)

(६) सस्ते परन्तु तीव्रगामी यातायात के साधनों का ग्रामीण उद्योग धंधों और कृषि पर क्या प्रभाव पड़ता है ? (१९२९)

(७) वायुयानों का आर्थिक महत्व समझाइये।

अठारहवाँ अध्याय

—०:*:०—

खेती

भारतवर्ष में खेती की उपज—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वर्मा-रहित ब्रिटिश भारत में २१ करोड़ एकड़ भूमि जोती जाती है। यहाँ के भिन्न भिन्न भागों की जल-वायु, उष्णता, तथा तरी आदि विविध प्रकार की होने से यहाँ प्रायः सब प्रकार के खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। अन्नों में यहाँ चावल, गेहूं, चना, ज्वार, बाजरा, जौ, मकई, आदि मुख्य हैं। दालों में मूंग, उड़द, अरहर, मटर, मसूर आदि पैदा होती हैं। तेलहन में तिल, सरसों, अलसी आदि प्रधान हैं। अन्य खाद्य पदार्थों में गन्ना, तथा विविध फल, सब्जी, मसाले और मेवा आदि होती हैं। अखाद्य पदार्थों की पैदावार में कपास, सन (जूट), नील, अफ़ीम, कहवा, चाय, तमाखू और पशुओं का चारा विशेष उल्लेखनीय हैं।

कृषि-जन्य पदार्थों की मात्रा की दृष्टि से भारतवर्ष का संसार में तीसरा नम्बर है। सब देशों की सन की माँग यही पूरी करता है, और गेहूँ, कपास, चावल आदि की पैदावार में यह उनके सामने अच्छा स्थान रखता है। परन्तु देश निवासियों की आवश्यकताओं को देखते

हुए यहाँ की उपज कम है (खाद्य पदार्थों की अन्य देशों में निर्यात हो जाने से तो यह कमी और भी बढ़ जाती है)। तुलना करने पर मालूम हुआ है कि यहाँ प्रति एकड़ गेहूँ, जौ, कपास, गन्ने आदि की उत्पत्ति, कई देशों से कम होती है; इसका यह आशय नहीं कि हमारी भूमि अन्य देशों की ज़मीन से कम उपजाऊ है, क्योंकि कृषि-विभाग के अफ़सर इसी ज़मीन पर नए तरीक़ों से खेती करके उपज दूनी-तिगुनी कर लेते हैं। बम्बई-प्रान्त के कृषि-विभाग के भूतपूर्व डाइरेक्टर श्री० कीटिङ्ग साहब का यह कहना है कि भारत में नए तरीक़ों के उपयोग से अस्सी फ़ी सैकड़ा उपज आसानी से बढ़ाई जा सकती है। परन्तु इसके लिए हमें किसानों की असुविधाएँ दूर करने की आवश्यकता है।

कृषि-सम्बन्धी बाधाएँ—भारतवर्ष में कृषि-सम्बन्धी मुख्य-मुख्य बाधाएँ ये हैं—

१—किसान अशिक्षित और निर्धन हैं। उन्हें ब्याज बहुत देना होता है। गैर-मौरूसी, और शिकमी-दर-शिकमी काश्तकारों से लगान बहुत लिया जाता है।

२—उनकी ज़मीन बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त है, जो बहुधा दूर-दूर भी हैं।

३—बहुत सी भूमि बंजर है, या परती छोड़ दी जाती है।

४—देश के कई भागों में सिंचाई के साधन नहीं हैं।

५—उत्तम बैल, बीज, खाद और औज़ारों की कमी है।

६—यहाँ बढ़िया और नई किस्म की चीजें पैदा नहीं की जातीं।

किसानों की निर्धनता और निरक्षरता—अब हम उपर्युक्त बाधाओं के निवारण के सम्बन्ध में क्रमशः विचार करते हैं। किसानों की निर्धनता अधिक है उनकी आय का बड़ा भाग लगान और सूद में चला जाता है। इन दोनों मद्दों में कमी होनी चाहिए। इस विषय में सविस्तर आगे प्रसंगानुसार लिखा जायगा। इसके अतिरिक्त, वर्तमान अवस्था में किसान अपनी शेष आय का खासा भाग मुकदमे-बाज़ी, या विवाह-शादी और मृतक भोज आदि सामाजिक कार्यों में खर्च कर डालते हैं, इसे भी कम करने की आवश्यकता है। इसमें विशेष सफलता, किसानों में ज्ञान का प्रसार होने पर मिलेगी। उनकी शिक्षा कैसी हो, यह पहले बताया जा चुका है।

खेतों के छोटे-छोटे और दूर-दूर होने को रोकने के उपाय—भारतवर्ष में बहुत से खेतों का क्षेत्रफल एक-एक, दो-दो एकड़ भी नहीं है। कितने ही खेतों का विस्तार तो केवल आधा-आधा एकड़ ही है, अथवा इससे भी कम। इसके अतिरिक्त अनेक किसानों के पास एक से अधिक खेत हैं, जो प्रायः एक-दूसरे से दूर-दूर पर हैं। इससे काश्तकारों को बहुत नुकसान होता है—आने-जाने में उनका बहुत सा समय नष्ट हो जाता है, उन्हें वैज्ञानिक यंत्र इत्यादि का उपयोग करने में बहुत असुविधा होती है तथा वे उससे यथेष्ट लाभ नहीं उठा सकते, रखवाली करने में बहुत दिक्कत होती है, उन खेतों की मेंड़, तथा उनमें जाने के लिए रास्ता बनाने में और उनमें नहर से पानी ले जाने में बड़ी अड़चन पड़ती है, और काश्तकारों का पारस्परिक झगड़ा भी बढ़ता है। इन हानियों का मिटाना आवश्यक है, और

उसका एक-मात्र साधन यह है कि प्रत्येक किसान की जोत के खेत एक स्थान में—एक चक में—हो जायँ, और भविष्य में उनका छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटा जाना कानूनन रोक दिया जाय। इसकी विधि यह है कि जिस गाँव के किसान चकबंदी के लाभ समझ जाते हैं वहाँ चकबंदी सहकारी समिति सब किसानों से प्रायः चार वर्ष तक के लिए त्याग-पत्र लिखा लेती है। फिर, सब जमीन के चक बनाकर वे किसानों में उचित परिमाण में इस तरह बाँट दिये जाते हैं कि प्रत्येक किसान की भूमि एक ही स्थान में हो जाय। और, हर एक किसान को दी जानेवाली भूमि का मूल्य उतना ही हो, जितना पहले उस किसान की जमीन के विविध टुकड़ों का था। इस भूमि-विभाजन में सहकारी समिति के दो-तिहाई सदस्यों का सहमत होना आवश्यक है। चार वर्ष के बाद, यदि किसी किसान का विरोध न हो (और, प्रायः विरोध नहीं होता) तो उक्त भूमि-विभाजन की व्यवस्था स्थाई कर दी जाती है।

आज-कल खेतों के बटवारे का मुख्य कारण हिन्दू और मुसलमानों का दाय विभाग कानून है। इस कानून में ऐसा परिवर्तन हो जाना चाहिए कि किसी हकदार को खेत के उतने भाग से कम मिलना नाजायज समझा जाय जितने से उसके परिवार का पोषण हो सके।* और,

* देश के भिन्न-भिन्न भागों की भूमि की उत्पादकता पृथक्-पृथक् होने से प्रत्येक किसान के लिए समान भूमि निर्धारित करना उचित नहीं हो सकता। एक जगह तीन-चार एकड़ की भूमि की उपज इतनी हो सकती है जितनी अन्य स्थान की दस-बारह या इससे भी अधिक एकड़ भूमि की।

जब कोई ऐसा प्रसंग आए, तो पूरा खेत सब हकदारों में ही नीलाम कर दिया जाय। जो उसके लिए सब से ज्यादह रुपए देने को तैयार हो, उसी को वह खेत मिले, और दूसरे हकदारों को उनके हिस्से के अनुसार रुपया दिला दिया जाय। हम सारी जमीन बड़े लड़के को दिए जाने के पक्ष में नही हैं। ऐसा करना हिन्दू और मुसलमान, दोनों के धर्म-शास्त्रों के सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। उपर्युक्त थोड़े-से परिवर्तन से ही अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है।

बंजर-भूमि—ब्रिटिश भारत में फ़ी-सैकड़े लगभग १८ भूमि ऐसी है जो कृषि-योग्य, किन्तु बंजर है। यह आसाम मध्य-प्रांत, पंजाब, मद्रास, संयुक्त प्रांत आदि विविध-प्रांतों में है। विज्ञान की सहायता से इस भूमि की समस्या बहुत-कुछ हल हो सकती है। मिट्टी का परीक्षण और विश्लेषण करके यह मालूम किया जाता है कि इसमें कौन-कौन से तत्व किस परिमाण में विद्यमान हैं; कृषि की दृष्टि से उसका कौन सा तत्व अधिक है, और कौन-सा कम। पश्चात् उसमें ऐसा कृत्रिम तथा रासायनिक खाद दिया जाता है, जिससे विविध तत्वों का अनुपात ऐसी मात्रा में हो जाय कि उस मिट्टी में कोई उपयोगी फसल भली-भाँति पैदा हो सके। जर्मनी आदि देशों में, यह कार्य बहुत सफलता-पूर्वक किया गया है। भारतवर्ष में भी इसके प्रयोग की बहुत आवश्यकता है। यहाँ कुछ स्थानों में यह अनुभव किया गया है, कि जिस भूमि में खार अधिक हो, उसमें गुड़ के शीरे का खाद देने से वह काफी उपजाऊ हो सकती है।

परती भूमि का उपयोग—यहाँ प्रति-वर्ष लगभग १० फी सैकड़े भूमि ऐसी होती है, जिस पर एक फसल बोकर बाद में उसे परती छोड़ दिया जाता है। जिसमें वह आराम करले और उसके जो-जो तत्व फसल बोने से चले गए हैं, वे वायु मंडल द्वारा उसमें आ जायँ। विचार-पूर्वक फसलों को हेर फेर से बोने का सिद्धांत काम में लाने से परती भूमि पर फिर खेती की जा सकती है। इसका अभिप्राय यह है कि भूमि में एक फसल के बाद दूसरी ऐसी फसल बोई जाय, जो उन तत्वों को लेनेवाली हो, जो पहली फसल के तैयार होने के बाद शेष हों। इस बीच में वायु-मंडल द्वारा अन्य तत्वों की पूर्ति हो जायगी। उदाहरणार्थ मकई, नील या सन के बाद गेहूं, ज्वार के बाद जौ या मसूर, मटर या अलसी, कपास के बाद मकई, जूट के बाद चावल, और ज्वार-बाजरे या गेहूँ के साथ-साथ दालें या तेलहन बोए जा सकते हैं। इस प्रकार भूमि सारे वर्ष जोती जा सकती है, और निरर्थक परती छोड़नी नहीं पड़ती।

गहरी और विस्तृत खेती—कृषि के सम्बन्ध में एक प्रश्न प्रायः विचारणीय होता है। कल्पना करो कि एक किसान के पास पांच एकड़ भूमि है, उसमें वह अपने लकड़ी के हल तथा एक जोड़ी बैलों से खेती करता है। और उसमें निर्धारित परिमाण अन्न की उत्पत्ति होती है। अब, यदि किसी कारण से अन्न की माँग बढ़ जाय तो किसान के सामने दो मार्ग होते हैं, (क) वह अधिक भूमि में खेती करे, श्रम और पूँजी का परिमाण पहले की भाँति ही रखे। इसे विस्तृत खेती कहते हैं। (ख) यह सम्भव है कि उसे अधिक भूमि न मिल सके,

अथवा अधिक भूमि का उपयोग करना उसे लाभप्रद न हो और वह उसी भूमि में खेती करे, परन्तु श्रम और पूँजी की मात्रा बढ़ादे। वह लोहे के बढ़िया हल का उपयोग करे, जिसमें बैल भी एक जोड़ी की अपेक्षा दो जोड़ी लगें, साथ ही वह अपनी सहायता के लिए एक और भी श्रमजीवी को रखले। और इस प्रकार विस्तृत खेती की जगह गहरी खेती करने लगे।

(१) आस्ट्रेलिया जैसे नये देशों में जहाँ भूमि खूब होती है, खेत प्रायः बड़े होते हैं। इसके विपरीत, भारतवर्ष या चीन जैसे प्राचीन देशों में वे छोटे होते हैं। पुनः पहाड़ी भूमि की अपेक्षा समतल मैदानों में बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की सम्भावना अधिक होती है।

(२) बगीचे आदि का काम ऐसा है कि उसके लिए खेत छोटा होने में सुविधा होती है, जिससे उसपर यथेष्ट ध्यान दिया जा सके। इसके विपरीत गन्ने या कपास की फसल के लिए बड़े-बड़े क्षेत्रों की आवश्यकता होती है।

(३) जल-वायु तथा आबपाशी का भी खेतों के आकार पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जहाँ आबपाशी कुएँ या तालाब से होती है, वहाँ खेत छोटे छोटे ही होंगे।

(४) उत्तराधिकार के कानून का असर भी इस प्रसंग में विचारणीय है। भारतवर्ष में पैत्रिक सम्पत्ति का सब पुत्रों में बँट जाने से

खेत कैसे छोटे छोटे टुकड़ों में बट गए हैं, हम इसी अध्याय में चकबन्दी के प्रसंग में उल्लेख कर चुके हैं।

बड़े खेतों में वैसी बचत और लाभ होता है, जैसा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में पहले बताया जा चुका है। पूँजी सुगमता से, कम व्याज पर मिल सकती है, श्रम विभाग का अधिक उपयोग किया जा सकता है, अच्छे बढ़िया यंत्रों का उपयोग, फसलों के हेर-फेर, वैज्ञानिक खेती, विक्रय की सुविधा भी इसमें विशेष होती है। हाँ, खेतों के आकार बढ़ने की एक सीमा है, बड़े क्षेत्र का निरीक्षण अच्छी तरह नहीं हो सकता। फिर, क्योंकि खेती का काम बारहों महीने नहीं होता, खास खास ऋतुओं और महीनों में होता है, अतः श्रम-विभाग का इतना उपयोग नहीं हो सकता जितना कल कारखानों में होता है। बड़े बड़े खेतों की पद्धति में कुछ सामाजिक दोषों की सम्भावना रहती है, जमींदार अपनी भूमि से दूर रहता है, वह उसकी उन्नति की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं देता, धन का वितरण असमान रूप से होता है, और किसानों में असन्तोष बढ़ता है।

अब छोटे छोटे खेतों की बात लीजिये। छोटा काश्तकार अपनी काम की ओर स्वयं ध्यान देता है। भूमि बहुत से व्यक्तियों में बँटने से, असंतोष, सम्पति के वितरण की असमानता विशेष नहीं होती। हाँ, किसान, प्रायः पुराने विचारों के हुआ करते हैं, इस प्रकार छोटे खेतों की पद्धति से देश में पुरातनवादी, दकियानूसी, भाग्यवादी व्यक्तियों की अधिकता होती है। अगर किसान लोग सहकारिता से काम करें,

तो उन्हें खेतों के छोटे होते हुए भी बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के कई लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

खेती के पशुओं आदि का सुधार—भारतवर्ष में खेती पशुओं और विशेषतया बैलों द्वारा होती है। यहाँ इनकी दशा कैसी है, यह पहले बताया जा चुका है। इनकी नस्ल सुधारने, इनके लिये चरागाहों का प्रबन्ध होने और स्वयं किसानों की आर्थिक दशा ऐसी होने की आवश्यकता है कि वे इन्हें भली-भाँति पुष्टिकर भोजन दे सकें, स्वास्थ्यप्रद वातावरण में रख सकें और आवश्यकता होने पर उनकी चिकित्सा आदि की समुचित व्यवस्था कर सकें।

वर्तमान अवस्था में बहुत कम किसान अच्छे बढ़िया बीज, खाद और औजारों का उपयोग करते हैं। सहकारी समितियों, तथा सरकारी कृषि विभाग से इस विषय में यथेष्ट सहायता मिलनी चाहिए।

बढ़िया तथा नई किस्म की चीजों की उत्पत्ति—हमारे किसान जैसे-तैसे पैदावार का परिमाण बढ़ाने की तो फिक्र करते हैं, परन्तु उसे बढ़िया तरीके से करने की ओर प्रयत्न-शील नहीं होते। अन्य अनेक देशों में कई खाद्य पदार्थ तथा अन्य कृषि-जन्य पदार्थों का रूप-रंग और आकार आदि बदल कर उनकी उपयोगिता बहुत बढ़ा दी गई है, और दूसरे पदार्थों के सम्बन्ध में ऐसा प्रयत्न किया जा रहा है। भारतवर्ष में ऐसा सफल प्रयत्न विशेषतया रूई में हुआ है। अब यहाँ मिश्र की तरह की रुई पैदा की जाने लगी है, जिसका सूत बहुत महीन होता है। सरकारी फार्मों में कुछ अन्य

पदार्थों के प्रयोग हुए हैं, पर अभी जनता में उनका यथेष्ट प्रचार नहीं हुआ।

भारतीय कृषक अपने रोजमर्रा के काम और चिन्ताओं में ही व्यस्त रहते हैं, वे यह नहीं सोचते-विचारते कि उनके खेत में कोई ऐसी नई वस्तु भी पैदा हो सकती है, जो उनकी आय को बढ़ाने के साथ जनता के लिए भी बहुत उपयोगी हो। कुछ समय से ग्राम-उद्योग संघ, जिसके सम्बन्ध में अगले परिच्छेद में लिखा जायगा, ऐसे प्रयोग कर रहा है। पिछले दिनों उसने 'सोयाबीन' के गुणों की परीक्षा की, और किसानों को उसकी खेती के लिए प्रोत्साहित किया। इस दिशा में कार्य करने के वास्ते बहुत क्षेत्र पड़ा है। उत्साही व्यक्तियों को पारस्परिक सहयोग-पूर्वक उद्योग करना चाहिये।

कृषि और सरकार—भारतवर्ष में यह बात अति प्राचीन काल से मानी जाती है कि राज्य को कृषि की उन्नति और कृषकों के उत्थान में यथेष्ट भाग लेना चाहिए। हिन्दू राजा तो इस ओर अपना महान् कर्तव्य पालन करते ही थे, मुसलमानों शासकों ने भी देश की आर्थिक उन्नति के लिए इस दिशा में समुचित प्रयत्न किया। अंगरेजी शासन में एक विशेष सरकारी विभाग द्वारा कृषि की उन्नति करने का विचार सर्वप्रथम सन् १८६६ ई० में, उड़ीसा में अकाल पड़ने के अवसर पर हुआ। सन् १८८० के दुर्भिक्ष-कमीशन ने भी इस विषय की सिफारिश की। फल-स्वरूप विविध प्रांतों में कृषि-विभाग स्थापित किए गए, परन्तु बहुत समय तक इनसे विशेष कार्य न हुआ। सन् १९०५ ई० में इन विभागों के संगठन तथा आर्थिक स्थिति में सुधार

किया गया, और एक केन्द्रीय कृषि-विभाग (बोर्ड) स्थापित किया गया। इस विभाग के प्रयत्नों से, विशेषतया भिन्न-भिन्न प्रकार की जमीनों में उचित खादों का उपयोग, अच्छे बीज, पौदों के रोग और उनके निवारण, नई तरह के औजारों के उपयोग, पशु-चिकित्सा और नए तरीकों से खेती करने के सम्बन्ध में कई उत्तम बातों का ज्ञान प्राप्त हुआ है, परन्तु जनता में उनका यथेष्ट प्रचार नहीं हो पाया है। बात यह है कि इस विभाग के कार्यक्रम का ढङ्ग बहुत ही खर्चीला और आडंबर-पूर्ण है, और वह यहाँ की कृषक-जनता के लिए यथेष्ट उपयोगी नहीं। यदि कृषि विभाग जनता के प्रति उत्तरदायी होकर अपना उचित कर्तव्य पालन करे, तो उसकी उपयोगिता बढ़ सकती है।

सन् १९२६ ई० में यहाँ एक शाही कृषि कमीशन नियत हुआ था। उसने अपनी रिपोर्ट में कृषि-सम्बन्धी उन्नति, अनुसंधानों, भूमि-विभाजन, कृषि-प्रदर्शनियों (नुमायशों), पशु-चिकित्सा, आबपाशी, देहाती जीवन, कृषि-शिक्षा, सहकारी-साख-सभाओं और कृषि सम्बन्धी नौकरियों पर अपने विचार प्रकट किए थे। इस रिपोर्ट के आधार पर एक कृषि-कौंसिल बनाई गई है, जिसका कर्तव्य कृषि की उन्नति का विचार करना है। सन् १९३५ ई० से भारत सरकार ग्रामोन्नति के लिए कुछ कार्य करने लगी। सन् १९३७ ई० से प्रान्तों में नये विधान के अनुसार बहुत कुछ उत्तरदायी शासन की स्थापना हो जाने पर, प्रान्तीय सरकारें अपने परिमित साधनों के अनुसार इस दिशा में प्रयत्नशील हैं।

कृषि की व्यवस्था—कृषि के सम्बन्ध में, उत्पत्ति के अन्य साधनों भूमि, श्रम, और पूंजी के विषय में पहले कहा जा चुका है। व्यवस्था के सम्बन्ध में यहां कुछ विशेष उल्लेखनीय है। जब बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होती है, और औद्योगिक व्यवस्था बढ़ती जाती है, तथा यातायात के साधनों की उन्नति होने लगती है तो फसलों का व्यापारिककरण बढ़ता जाता है अर्थात् फसलों की पैदावार का लक्ष्य खाद्य वस्तु की उन्नति की अपेक्षा व्यापार होने लगता है। ऐसी चीजें पैदा करने की ओर ध्यान अधिक दिया जाने लगता है, जिनसे आय अधिक हो, चाहे उन्हें दूर दूर भेज कर बेचना हो। भारतवर्ष में अभी किसानों को ऐसा ज्ञान तथा अनुभव नहीं हुआ है कि वह अपनी जोती जाने वाली भूमि का बाजार की बदली हुई आवश्यकता के अनुसार फसलों में उचित विभाजन करें। उदाहरणार्थ संयुक्त प्रान्त में चीनी के कारखाने बढ़ जाने से किसानों को खेतों में गन्ने की काश्त करना लाभदायक होने लगा। इस पर किसानों ने इसकी खेती बढ़ाने में बहुत जल्दबाजी से काम लिया, इसका परिणाम यह हुआ कि गन्ना इतना पैदा होने लगा कि कारखानों में उसका उपयोग न हो सका। यदि सरकार द्वारा गन्ने की कीमत निर्धारित न की जाती तो गन्ने की खेती करने वालों की दशा बहुत ही दयनीय हो जाती।

अभ्यास के प्रश्न

(१) गहरी खेती से आप क्या समझते हैं? यू० पी० में किस हद तक गहरी खेती की जाती है, तथा इसकी उन्नति की क्या सम्भावना है? (१६३२)

(२) यह बताइए कि विस्तृत खेती किसे कहते हैं? भारत में विस्तृत खेती का कितना उपयोग होता है और इस उपयोग के बीच क्या अड़चने पड़ती हैं? (१६२६)

(३) कृषि सम्बन्धी प्रधान बाधाओं का वर्णन कीजिये और उनके दूर करने के उपाय संक्षेप में बताइये।

(४) खेतों की चकबन्दी की एक व्यावहारिक योजना लिखिये।

(५) युक्त प्रान्त की सरकार किसानों की दशा सुधारने के जो प्रयत्न कर रही है उनका वर्णन कीजिये।

उन्नीसवाँ अध्याय

—०:*:०—

घरेलू उद्योग-धंधे

पिछले अध्याय में खेती का विचार किया गया। किन्तु, केवल कृषि-जन्य वस्तुओं से ही हमारा काम नहीं चल जाता; हमें अनेक प्रकार के तैयार माल की भी जरूरत होती है, इसलिए उसकी उत्पत्ति की जाती है। दस्तकारियों और उद्योग-धंधों का, खेती से घनिष्ट संबंध है, कारण कि इनके लिए जो कच्चा माल आवश्यक होता है, वह खेती से ही मिलता है। कृषि-संबंधी विचार कर चुकने पर अब हम घरेलू उद्योग-धंधों पर विचार करते हैं। बड़े उद्योग-धंधों का विचार सतरहवें अध्याय में हो चुका है।

औद्योगिक विभाजन—भारतवर्ष की भूमि उद्योग-धंधों, उत्पन्न द्रव्यों और उनके व्यापार के नाते चार भागों में बाँटी जा सकती है।*

(१) आसाम, बंगाल, बिहार और उड़ीसा। यहाँ रबर, तेलहन, तेल, लाख, नील, जूट, कागज, चमड़ा, रेशम, अफ़ीम, तंबाकू, चाय, चीनी, चावल, कोयला, लोहा, शोरा, अबरख इत्यादि द्रव्य

* 'भारत की सांपत्तिक अवस्था' से।

उपजते या पाए जाते हैं। दस्तकारी में हाथी-दाँत का काम, छाता बनाना, सीप, शख का काम, ढाके की मलमल, ज़रदोज़ी या बेल-बूटों का काम और चटाई बुनने का काम मशहूर है।

(२) उत्तर-भारत, जिसमें संयुक्त-प्रांत, मध्य-प्रदेश, राजपूताना, मध्य-भारत, प्रजाब, सीमा-प्रांत और काश्मीर शामिल हैं। यहाँ राल, धूप, लाख, तेलहन, इत्र, साबुन, मोमबत्ती, कत्था, हर्रा, बहेड़ा, रुई, रेशम, ऊन, तैयार चमड़ा, दरी, गेहूँ, बिस्कुट, अफ़ीम, चाय, चीनी, शराब, शीशम, देवदारु की लकड़ियाँ, जस्ता, ताँबा, नमक, शोरा, सोहागा, खारी मिट्टी इत्यादि द्रव्य पाए जाते या उपजते हैं। दस्तकारी में टीन के सामान, लाख से रँगे धातु के सामान, इनामिल, सोने, चाँदी, ताँबे, पीतल और फ़ौलाद के सामान, पत्थर खोदने और काटने का तथा मिट्टी का काम, लकड़ी, हाथीदाँत तथा चमड़े का काम, रँगने-छापने का काम, रुई, रेशम तथा ऊन के कपड़े, शाल-दुशाला, दरी, जाजम, गलीचे इत्यादि के काम मशहूर हैं।

(३) पश्चिम-भारत (बंबई-अहाता, बरार और बिलोचिस्तान)। यहाँ गोंद, तेलहन, रुई, ऊन, चमड़ा, जड़ी-बूटी, नमक और गेहूँ, पैदा होता है। सोने चाँदी के सामान, लकड़ी, सींग, चमड़े, रुई, ऊन, तथा ज़रदोज़ी से संबध रखने वाली दस्तकारियाँ मशहूर हैं।

(४) दक्षिण-भारत (मदरास-अहाता, हैदराबाद, मैसूर और कुर्ग)। यहाँ तेलहन, घी, चर्बी, रुई, नारियल के छिलके के सामान, हाथी-दाँत, चमड़ा, चाय, काफ़ी, सिगार, मिर्च, दालचीनी, चीनी, शराब, चावल, चदन की लकड़ी, मोती, सोना, मैंगनीज़, सीसा,

सीमेंट इत्यादि द्रव्य पाए जाते हैं। दस्तकारी में सोने, चाँदी, ताँबे, पीतल का सामान, पत्थर, लकड़ी, हाथी-दाँत का काम, कपड़ा रँगना-छापना, रेशमी कपड़ा बुनना और चिकन का काम मशहूर है।

इस प्रकार बंगाल और बिहार में कृषि-जात द्रव्यों की प्रचुरता है, पर दस्तकारी की कमी। पश्चिमी-भारत में द्रव्यों तथा कारीगरियों दोनो की कमी है। दक्षिण-भारत में इनकी प्रचुरता है। उत्तर-भारत में कारीगरियों की कमी नहीं है।

भारतवर्ष में छोटी दस्तकारियों की विशेषता—भारतवासी अधिकांश तैयार पदार्थ अब विदेशों से मंगाते हैं। वह जमाना गया, जब यहां की बनी चीज़ें दूर-दूर तक आदर, आश्चर्य और ईर्षा की दृष्टि से देखी जाती थीं। किस प्रकार कंपनी के समय में हमारे उद्योग-धंधों का ह्रास हुआ, और हमारी जगत्-विख्यात कारीगरियाँ नष्ट की गईं, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यहाँ की औद्योगिक जागृति को किस प्रकार कंटकाकीर्ण किया गया, यह इतिहास का विषय है। अस्तु, धीरे धीरे अनेक बाधाओं का सामना करते हुए यहाँ कुछ बड़े बड़े कारखाने खुले हैं, परन्तु अधिकांश देश में छोटी दस्तकारियों की ही विपुलता है। इसके कुछ विशेष कारण ये हैं—

(१) जाति-प्रथा के कारण जुलाहे, कुम्हार आदि अपने पूर्वजों के ही काम करते हैं। स्थान-परिवर्तन या आजीविका के नए साधन प्राप्त करने में उन्हें बहुधा सामाजिक पार्थक्य सहन करना पड़ता है।

(२) बहुधा मनुष्यों को स्वेच्छानुसार काम करने की आदत पड़ी हुई है; वे कारखानो में निश्चित घंटे काम करना अथवा अन्य कायदे कानून का बन्धन पसंद नहीं करते।

(३) कारखानों में मिलनेवाली मजदूरी इतनी अधिक नहीं हुई कि गाँव से लोग सहसा नगर में रहने की असुविधाएँ और खर्च सहन करने लगें। वे भूख से विशेष पीड़ित तथा ऋण-ग्रस्त होने पर ही, लाचार होकर, घर या कुटुंब का मोह छोड़ते हैं।

(४) परदे की प्रथा के कारण अनेक औरतें बाहर जाकर काम नहीं कर सकतीं, उनके लिए घरू धन्धे ही हितकर हैं।

(५) कृषकों को चार से छः महीने तक बेकार रहना पड़ता है और इस समय के लिए अन्य महीनों की आय में से उनके पास प्रायः कुछ बचा नहीं रहता; अतः उन्हें घरू उद्योग धन्धों की बहुत आवश्यकता है।

संयुक्तप्रान्त के घरेलू उद्योग धन्धे—अब हम संयुक्तप्रान्त के कुछ मुख्य मुख्य उद्योग धन्धों का विचार करते हैं। इन धन्धों के दो भेद किये जा सकते हैं:—(१) ऐसे धन्धे जो खेती में सहायक हो सकते हैं, जिन्हें किसान अपने अवकाश के समय कर सकते हैं, जैसे पशु पालन, दूध, मक्खन का काम, चटाई या टाट पट्टी बुनना, टोकरी बनाना, गुड़ बनाना, सूत कातना, कपड़े बुनना आदि। (२) ऐसे धन्धे जिन्हें गांव या कस्बेवाले एक स्वतन्त्र धन्धे के रूप में करें। जैसे चमड़ा कमाना, जूता बनाना, तेल निकालना, दरी, कालीन बुनना, लकड़ी, लोहे, पीतल आदि की चीजें बनाना, धान कूटने या आटा पीसने की मिल चलाना, साबुन बनाना, चूड़ियां आदि बनाना।

कृषि सहायक धन्धे; पशु पालन—अब ऐसे कुछ धन्धों के विषय में कुछ मुख्य मुख्य बातें बतलायी जाती हैं। पहले पशु पालन की बात लें। यह कहा जा चुका है कि कृषि प्रधान भारतवर्ष के लिए पशु-धन कितना बहुमूल्य है। खेती के विविध कामों के लिए किसानों को विशेषतयः बैलों की जरूरत होती है, परन्तु वे अन्य पशुओं की भाँति इनका भी अच्छी तरह पालन नहीं करते। यहाँ पशुओं को प्रायः अस्वच्छ पानी तथा घटिया दर्जे का और कम चारा दिया जाता है, इससे उनकी आयु कम हो जाती है; उनके श्रम तथा रोग की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता, उनके रहने की जगह अच्छी नहीं होती और उनकी नस्ल उन्नत करने का उपाय भी बहुत कम किया जाता है। यदि बछड़ों का ठीक तरह से पालन पोषण हो तो वे अच्छे बैल बन कर खेती के लिए बहुत अधिक उपयोगी हों। दूध देनेवाले पशुओं के पालन से किसान को दूध या घी की बिक्री से आय हो सकती है और उसके बच्चों को यदि दूध नहीं तो मट्ठा तो मिल ही सकता है। गाय-भैंस का गोबर, खाद के लिए बहुत उपयोगी होता है; यहाँ उसका खासा बड़ा भाग कडों (उपलों) के रूप में, जलाने के काम में ले आया जाता है।

दूध, मक्खन आदि का काम—भारतवर्ष में गाय को माता कहते हैं और वास्तव में इसका दूध विशेषतया बच्चों, रोगियों और बूढ़ों के लिए माता के दूध के समान उपयोगी है। परन्तु यहाँ दूध के काम में जितनी सफाई चाहिए, नहीं रखी जाती। दूध दूहते समय हाथों तथा गाय के थनों को नहीं धोया जाता, दूध का बर्तन काफी साफ नहीं होता, दूध में पानी मिला दिया जाता है, अनेक स्थानों में कच्चे

दूध में से ही मक्खन निकाल कर मखनिया दूध बेचा जाता है। बहुत से आदमी रोगी गाय-भैंस के दूध को भी दूसरे दूध के साथ मिला देते हैं।

मक्खन अधिक समय तक नहीं ठहरता, वह जल्दी खराब हो जाता है। अतः उसे अच्छी तरह गर्म करके घी बनाया जाता है, जिससे उसका खराब होनेवाला भाग पहले ही जल जाय। परन्तु अनेक आदमी मक्खन को अच्छी तरह गर्म नहीं करते, इससे वह काफी अच्छा नहीं होता। फिर घी बेचनेवाले बहुधा उसमें नारियल का तेल, कोकोजम या वनस्पति घी आदि मिला कर अशुद्ध या मिलावटी घी को शुद्ध घी की जगह बेचते हैं। इस प्रकार शहरों में शुद्ध घी-दूध दुर्लभ हो रहा है, यही नहीं गावों में भी कठिनाई होने लगी है। आवश्यकता है कि दूध, दही, मक्खन और घी आदि का धन्धा अच्छी तरह ईमानदारी से, विश्वसनीय ढंग से किया जाय। आज कुछ स्थानों में इस कार्य के लिए डेयरी फार्म खुले हैं, परन्तु विशाल जन संख्या की आवश्यकता को देखते हुए उनके कार्य का परिमाण अत्यल्प है।

बगीचा लगाना—खेती के साथ एक छोटा सा बगीचा अल्प व्यय में सहज ही लगाया जा सकता है, जिसमें स्थानीय परिस्थिति तथा आवश्यकता के अनुसार भाँति भाँति के फूल, सब्जी (तरकारी) या फल लगाये जायँ। इसमें यह विचार रखा जाय कि प्रत्येक ऋतु में उसके अनुकूल पदार्थ उत्पन्न किए जायँ, जिससे बारहों महीने कुछ न कुछ आमदनी होती रहे। अगर किसान स्वयं फल आदि के बेचने की व्यवस्था न कर सके तो बगीचा ठेके पर उठाया जा सकता है। जो

जमीन खेती के योग्य न हो, उस पर पेड़ लगा देने से, लकड़ी का लाभ हो सकता है। बढ़िया लकड़ी बेचने के और मामूली लकड़ी जलाने के, काम में आ सकती है।

गुड़ बनाना—किसान गन्ना पैदा करते ही हैं, वे अल्प प्रयास से ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं कि गन्ने के रस से गुड़ बना लें; हां, जो गुड़ बनाया जाय वह साफ और अच्छा होना चाहिए। वर्तमान अवस्था में रस में से तिनके और पत्तियाँ आदि पूरी तरह से नहीं निकाले जातीं तथा रस को उबालते समय उसका मैल भी ठीक तरह से अलग नहीं किया जाता। इससे गुड़ घटिया होता है। ध्यान देने से यह बहुत अच्छा बनाया जा सकता है। बनारस और कानपुर का गुड़ बहुत अच्छा और साफ समझा जाता है।

हाथ की कताई बुनाई—किसानों के बहुत महत्वपूर्ण धन्धों में से एक धन्धा हाथ की कताई बुनाई का है; कारण, भोजन को छोड़कर अन्य वस्तुओं में, कपड़े की आवश्यकता सबको होती है। राष्ट्रीय जागृति में इस धन्धे के पुनरुत्थान की ओर नेताओं का ध्यान जाना स्वाभाविक था। किन्तु इसका विशेष संगठित प्रयत्न सन् १९२५ ई० से हुआ, जब कि महात्मा गान्धी की प्रेरणा से यहाँ अखिल भारतवर्षीय चर्खा-संघ की स्थापना हुई। स्थान स्थान पर इसके सैकड़ों खादी-केन्द्र है। इस धन्धे के बारे में कुछ मुख्य मुख्य बातें आगे दी जाती है— इस धन्धे से कम से कम बीस लाख जुलाहों और कई लाख कत्तिनों (कातनेवालों) को भोजन-वस्त्र मिलता है, जब कि हिन्दुस्थानी मिलें केवल ३ लाख ७० हजार ही मजदूरों को काम देती हैं। सारे हिन्दुस्थान में

कुल पाँच सौ करोड़ गज कपड़े की खपत है, जिसमें लगभग २५ फ़ी सदी कपड़ा हाथ की खड्डियाँ तैयार करती हैं, ४० फ़ी सदी हिन्दुस्थानी मिलें और ३५ फ़ी सदी कपड़ा विदेश से आता है। यह ३५ फ़ी सदी कपड़ा हाथ की खड्डियाँ और हिन्दुस्थानी मिलें बड़ी आसानी से हाथ में ले सकती हैं। हाथ की खड्डियाँ हर साल १४० करोड़ गज कपड़ा तैयार करती हैं, जो बगैर किसी सरकारी अथवा जनता की सहायता के बिक जाता है। यह कपड़ा मिल के सूत और हाथ के सूत दोनों का होता है। कुछ कपड़ा तो केवल मिल के ही सूत का होता है, कुछ मिलावटी सूत का और कुछ बिल्कुल हाथ के ही कते सूत का होता है। अगर इस धन्धे को अपनी खोई हुई बगौती फिर से प्राप्त करनी है, तो इसे मशीनों के सूत पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। मिल का सूत यद्यपि पूरा इकसार होता है, तो भी हाथ के सूत के मुकाबिले में मजबूत नहीं होता। पिछले सालों में चर्खा-संघ ने सूत में बहुत कुछ सुधार किया है। संघ हर साल लगभग ३५ लाख रुपयों की खादी तैयार करता है। ढाई लाख कत्तिनों और दस हजार बुनकरों को काम देकर संघ छः लाख रुपया कताई में और ५॥ लाख रुपया बुनाई में प्रतिवर्ष देता है।

अगर हाथ की खड्डियाँ मिल के सूत की जगह केवल हाथ का कता सूत काम में लावें तो दरिद्र किसानों की दरिद्रता बहुत हद तक कम हो सकती है। यह किसान-परिवारों का बहुत बड़ा सहायक धन्धा है। आठ घंटा चर्खा चलाने से एक अच्छी कत्तिन ३-३॥ आने रोज कमा लेती हैं, घर का काम-काज करने के साथ साथ कुछ समय कात लेने से ही अपने तमाम घरवालों के लिए ओढ़ने-पहनने के कपड़े हरेक बहिन

कातकर बना सकती है। गरीब किसानों के लिए अपनी आमदनी में थोड़ी-सी भी वृद्धि बहुत बड़े महत्व की चीज है, क्योंकि वह उन्हें भूखों मरने से बचाती है। किसानों के वास्ते यह धन्धा खास महत्व का इसलिए है कि चार छः महीने उन्हें बेकार बैठे रहना पड़ता है।

चटाई और टोकरी बनाना—संयुक्त प्रान्त में ताड़ या खजूर के पत्तों के पंखे तथा चटाई बनायी जाती हैं। टोकरियां झाऊ, या बांस की बनती हैं और मजदूरों आदि के भिन्न भिन्न कामों में आती हैं। सरकंडों के मूढे बनाए जाते हैं। इन कामों में बहुत उन्नति की जा सकती है।

रस्सी बटना—कुएँ से पानी खींचने, चारपाई बुनने, बोझ आदि बांधने के कार्य में रस्सी की आवश्यकता होती है। यह पतली, मोटी अनेक प्रकार की होती है, और मूंज या सन आदि की बनायी जाती है। हमारे यहां सन को मैले पानी में सड़ाते हैं, इससे वह मैला हो जाता है, तथा उसमें तिनके आदि बहुत रहने से उसको सुलझाने में बहुत दिक्कत होती है। इन बातों की ओर ध्यान देकर इस धंधे की बहुत उन्नति की जानी चाहिए।

स्वतंत्र रूप से किये जाने वाले घरू धंधे—अब तक उन घरू धंधों का विचार हुआ जो कृषि में सहायक हैं अर्थात जिन्हें किसान कृषि-कार्य को करते हुए उसके साथ साथ कर सकते हैं। अब हम ऐसे घरू धंधों के विषय में लिखते हैं जो उन लोगों के लिए उपयोगी हैं, जो कृषि नहीं करते, इन धंधों का कार्य स्वतंत्र रूप से भी किया

जा सकता है। इनमें पहले लकड़ी और लोहे के काम की बात लेते हैं।

लकड़ी और लोहे का काम—लकड़ी और लोहे की अनेक चीजों की किसानों तथा साधारण श्रेणी के आदमियों को भी आवश्यकता होती है, यथाहल, जुआ, फडुआ, चारपाई, पीढ़ा, खिड़की, दरवाजा, खुरपा, कुल्हाड़ी, और बसूला तथा गाड़ी और छकड़ा आदि। वर्तमान अवस्था में ये चीजें जैसी तैसी बनाली जाती हैं। कोई आदमी इनमें से किसी खास चीज को अच्छी-बढ़िया बनाने का विचार नहीं करता। हां, अच्छी-बढ़िया चीजों की मांग भी कम है। तथापि यदि कारीगर इन्हें बनाने लगे तो मांग भी क्रमश बढ़ने लगे। दरवाजों, खिड़कियों आदि की लकड़ी पर कहीं कहीं बेल बूटे बनाने का काम होता है, कहीं लकड़ी के खिलौने बना कर उन पर चित्रकारी, वार्निस और रंगायी की जाती है। इन कार्यों की बहुत उन्नति की जा सकती है।

तेल पेरने का काम—अधिकांश जनता के लिए तेल एक रोजमर्रा की ज़रूरतों में से है। कुछ तेल खाने के काम आता है, और कुछ जलाने के। यह सरसों, तिल्ली, अलसी, मूंगफली, महुआ आदि कितने ही पदार्थों के पेरने से निकाला जाता है। अब आयल (तेल) एंजिनों के चलने से तेल पेरने का काम सस्ता होने के कारण इस घरू धंधे का ह्रास होता जा रहा है, परन्तु मशीन से तेल निकाले जाने पर जो खली बचती है, वह पशुओं के लिए उतनी उपयोगी नहीं होती, जितनी कोल्हू आदि से तेल निकालने की दशा में बची हुई खली होती है। इस उद्योग की तरफ़ देशवासियों को ध्यान देना चाहिये।

चमड़े का काम—जूते की जरूरत सभी को पड़ती है। बहुत से आदमी गरीबी के कारण उसे नहीं पहनते, तथापि देश में जूतों की खपत काफी है। आजकल देशी जूता बनाने वाले प्रायः साधारण घटिया माल ही तैयार करते हैं, इसके विपरीत अनेक शौकीन आदमियों कारखानों में बनाये जाने वाले मुलायम बिलायती ढंग के जूते (बूट या स्लीपर) पहनने लग गये हैं। पिछले दिनों में रबर के जापानी जूतों का चलन बहुत बढ़ गया है। इससे देशी जूतों की मांग, उतने परिमाण तक कम हो गई है। परन्तु कारखानों में बनने वाले बहुत मुलायम जूते प्रायः मुर्दा खाल (स्वयं मरे हुए पशुओं की खाल) के नहीं बनाये जाते, उनके वास्ते बहुत सी गायों को मारा जाता है, इससे गोवंश का ह्रास होता है, जो कि आर्थिक एवं धार्मिक दोनों दृष्टि से हानिकर है। अतः जहां तक बने बहुत मुलायम चमड़े के जूतों तथा अन्य सामानों का उपयोग कम किया जाना चाहिए। साथ ही देशी ढंग से चमड़े का सामान बनाने वालों को चाहिए कि वे यथासम्भव अच्छा और मजबूत माल बनावें। बहुत से आदमी चमड़े के काम को घटिया समझते हैं, और इसे करने से परहेज करते हैं। यह धारणा बदली जानी चाहिए। जो वस्तु समाज के काम आती है, मनुष्यों के लिए तथा देश के लिए हितकर है, उसे बनाने का श्रम सदैव आदरणीय है।

ग्राम उद्योग संघ—अखिल भारत-ग्राम-उद्योग-संघ की स्थापना वर्धा में सन् १९३४ में हुई। इसका उद्देश्य है, ग्रामों का पुनस्संगठन, ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहित करना, तथा उनमें आवश्यक सुधार

करना। यह ग्रामवासियों की आर्थिक, नैतिक तथा शारीरिक उन्नति का प्रयत्न करेगा और विविध विशेषज्ञों की सहायता से खोज-बीन का काम करेगा तथा स्थानीय ग्रामवासियों की जरूरतों को पूरी करने के बाद बचे हुए तैयार माल के लिए बाजार ढूँढेगा या पैदा करेगा। इस संघ की संरक्षकता में निम्नलिखित ग्रामोद्योग या उनके प्रयोग चल रहे हैं—

१—धान से चावल निकालना, २—आटा पीसना, ३—गुड़ बनाना, ४—तेल निकालना, ५—मूँगफली छीलना, ६—शहद की मक्खियाँ पालना, ७—मछली पालना, ८—दूधशाला, ९—नमक बनाना, १०—कपास लुढ़ाई, ११—कंबल बनाना, १२—रेशम और टसर का माल बनाना, १३—सन की कताई और बुनाई, १४—कालीन बनाना, १५—कागज बनाना, १६—चटाई बनाना, १७—कंघियाँ बनाना, १८—चाकू-कैंची आदि बनाना, १९—साबुन बनाना, २०—पत्थर की कारीगरी, २१—मरे हुए जानवरों की लाशों का उपयोग करना और चमड़ा तैयार करके, उसकी विविध वस्तुएँ बनाना।

संघ अपना प्रारम्भिक कार्य कर चुका है और उसने भावी कार्य की दिशाएँ निश्चित कर ली हैं। आशा है, वह भविष्य में यथेष्ट उद्योग करेगा। कार्य करने के लिए क्षेत्र विशाल है। आवश्यकता इस बात की है कि सब देश-प्रेमी सज्जन अपनी शक्ति भर इसको सहयोग प्रदान करें।

घरू उद्योग-धन्धों की वृद्धि के उपाय—घरू उद्योग-धन्धों को जीवित रखने तथा उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि करने के लिए कई बातों

की आवश्यकता है। प्रथम तो लोगों के मन में से यह अन्ध-धारणा निकल जानी चाहिए कि हाथ का काम कोई निम्न श्रेणी का काम है। नागरिकों को बाल्यावस्था से ही शारीरिक श्रम की महत्ता हृदयंगत कराई जानी चाहिए। इसके लिए औद्योगिक शिक्षा की व्यापक व्यवस्था की जानी चाहिए, जिसके सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। समस्त और विशेषतया गाँवों की प्रारम्भिक पाठशालाओं में छोटी छोटी कारीगरी के योग्य, अच्छे औजार काम में लाने आदि की शिक्षा और भिन्न भिन्न रोजगार सम्बन्धी विविध जानकारी मिलने का यथेष्ट प्रबन्ध होना चाहिए। सहकारी-समितियों को भी बहुत बढ़ाने और संगठित करने को बड़ी जरूरत है, जिससे आवश्यक कच्चा माल खरीदने और तैयार माल बेचने में अधिक लाभ और सुभीता हो।

इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर हाथ की बनी स्वदेशी वस्तुओ की प्रदर्शनियों तथा विज्ञापन की व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे सर्वसाधारण यह जान सकें कि कैसी कैसी वस्तुएँ कहाँ कहाँ बनती हैं और उत्साही सज्जनों को वैसी चीज़ें बनाने तथा उनमें सुधार करने की प्रेरणा हो।* साथ ही प्रत्येक केंद्रीय ग्राम या कस्बे में स्थानीय आवश्यकता की वस्तुओं का एक स्वदेशी-भंडार रहना चाहिए, जहाँ आदमी अपने लिए ज़रूरी वस्तुएँ खरीद सकें। लोगों में देश प्रेम का भाव बढ़ाने और बनाए रखने की भी ज़रूरत है, जिससे वे यथा-संभव अपने

---

* काँग्रेस के अधिवेशन पर तथा कुछ सार्वजनिक उत्सवों के अवसर पर जो स्वदेशी प्रदर्शनियाँ की जाती हैं, वे बहुत शिक्षाप्रद होती हैं।

गाँव या उसके आस-पास की ही वस्तुओ से काम चलावें, और इस प्रकार अपने कारीगर भाइयो की सहायता करें। देश-प्रेम संबंधी यह एक आवश्यक कर्तव्य है, जिसकी किसी व्यक्ति को अवहेलना न करनी चाहिए।

सरकार द्वारा भी उद्योग-धंधों की वृद्धि में बहुत सहायता मिल सकती है। ऊपर औद्योगिक शिक्षा के प्रचार तथा सहकारी समितियों की स्थापना की बात कही गई है, यह कार्य विशेषतया सरकारी सहायता से ही करने का है। सरकार द्वारा उद्योग-धंधों को आर्थिक सहायता भी दी जा सकती है। भारतवर्ष में, प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना होने के बाद से प्रान्तीय सरकारें अब इस ओर अधिकाधिक ध्यान दे रही हैं। अब उनको शीघ्र ही एक पंचवर्षीय योजना तैयार करके इस कार्य में दत्तचित्त होकर अग्रसर हो जाना चाहिये।

अभ्यास के प्रश्न

(१) संयुक्तप्रांत के मुख्य घरेलू उद्योग धंधों को गिनाइए। उनके ह्रास का क्या कारण है? इन धंधों की वृद्धि करने के उपाय बताइए। (१९३७)

(२) ग्रामीण उद्योग धंधों की व्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओं की विवेचना कीजिए। (१९३६)

(३) ग्रामीण उद्योग धंधों की वृद्धि के लिए आप मुख्यतः क्या क्या उपाय बतावेंगे (१९३०)

(४) यदि आपको ५००) दे दिया जाय तो आप उसे अपने गांव के घरेलू धंधों को सुधारने के लिए किस प्रकार खर्च करेंगे ?

(५) युक्त प्रांत में गुड़ किस प्रकार बनाया जाता है ? इस प्रांत में गुड़ कहाँ अच्छा व सस्ता बनता है ?

(६) जुलाहों की आर्थिक दशा का वर्णन करते हुए उसके सुधारने के उपाय बताइए।

(७) आर्थिक दृष्टि से खद्दर प्रचार की आवश्यकता बताइए।

बीसवाँ अध्याय

—०:*:०—

उत्पत्ति के नियम

उत्पत्ति के साधनों का विचार पिछले अध्यायो में किया जा चुका है। अब हम इस बात का विचार करते हैं कि उन साधनो के सहयोग से जो उत्पत्ति होती है उसके क्या नियम है और वे किस प्रकार कहां तक लागू होते हैं। नियम पर विचार करने के पहिले यह जान लेना आवश्यक है कि लागत-खर्च का हिसाब कैसे लगाया जाता है। उदाहरण के लिये हम एक किसान परिवार के लागत खर्च का हिसाब नीचे देते हैं।

सीतल एक किसान है। उसकी स्त्री जिंदा है। उसका लड़का दस साल का है। परिवार में तीन साल की छोटी लड़की को लेकर कुल चार प्राणी हैं। सीतल के पास पाँच एकड़ जमीन है, जिसका वह ३०) सालाना लगान देता है। पारसाल खरीफ के शुरू में उसने दो पैसा रुपया माहवार पर ५०) कर्ज लिया था। वैसे बाजार में सूद की दर १२% सालाना है। उस रकम से उसने बैल खरीद कर करीब पन्द्रह साल की छुट्टी पाई। सीतल के पास ५०) के लागत के औजार हैं। आम-तौर पर ये दस साल चलते हैं। हर साल सीतल खेत में जितनी खाद लगाता

है उसे बेचने पर पांच रुपए वसूल किए जा सकते हैं। छोटी लड़की को छोड़ कर।घर के सब व्यक्ति खेत में काम करते हैं। यदि ये मजदूरी करें तो सीतल ≋), उसकी औरत =)॥ और लड़का =) रोज पैदा कर ले। इस साल उन्होंने खेत में १५० दिन सिंचाई, निराई, कटाई, मंड़ाई आदि में काम किया था। अपने परिवार के मनुष्यों के अतिरिक्त मज़दूरों को उसने कुल मिलाकर ४०) दिए। इस चैत में सीतल ने गेहूँ काटा है। पिछली फसल पर बाजरा हुआ था। बोने के लिए फी एकड़ दो मन गेहूं या साढ़े बारह सेर बाजरा की उसे जरूरत पड़ी। भूसा और कर्बी से सीतल को कुल २०) मिले। एकड़ पीछे सीतल ने १० मन गेहूं व ७ मन बाजरा पैदा किया था। गेहूँ १४ सेर का बिका और बाजरा बीस सेर का। अब यदि सीतल का उत्पत्ति-बजट बनाना हो तो वह निम्न प्रकार से बनेगा।

१—बीज व खाद :—

दो मन फी एकड़ के हिसाब सीतल ने कुल १० मन गेहूं बोया। और १२½ सेर फी एकड़ के हिसाब ६२½ सेर बाजरा।

नाम	मात्रा	दर फी रुपया	रु०	आ०	पा०
गेहूँ	१० मन	१४ सेर	२८	६	–
बाजरा	६२½ सेर	२० सेर	३	२	–
खाद			५	–	–
		कुल	३६	११	–

२—लगान—सीतल साल भर में तीस रुपया लगान देता है।

३—मज़दूरी—यदि सीतल, उसकी स्त्री और उसका लड़का अन्य जगह मज़दूरी करते तो ।≈)॥ रोज कमा लेते। उन्होंने अन्य मज़दूरों के साथ अपने खेत में जोताई, निराई, सिंचाई, कटाई, इत्यादि में १५० दिन काम किया।

नाम	दर फी दिन	दिन	रु०	आ०	पा०
सीतल का परिवार	।≈)॥	१५०	७१	५	—
अन्य मजदूर			४०	—	—
		कुल	१११	५	—

४—सूद—सीतल की पूंजी बैल और औजार हैं। प्रत्येक में ५०) फंसे हैं। बैलों के खरीदने में जो पूंजी लगी है, उस पर)॥ रुपया माहवार सूद है और औजारों पर १२% सालाना का सूद लगाया गया है।

पूंजी का रूप	पूंजी	सूद की दर	रु०	आ०	पा०
बैल	५०)	)॥ रुपया माहवार	१८	१२	—
औजार	५०)	१२% सालाना	६	—	—
		कुल	२४	१२	—

५—घिसावट—

सामान	कीमत	अनुमानित जिंदगी	रु०	आ०	पा०
बैल	५०)	१५ साल	३	५	—
औज़ार	५०)	१० साल	५	—	—
		कुल	८	५	—

६—बिक्री—उपज को बेचने के लिए बाजार में जाने का खर्च इस प्रकार है :—

	रु०	आ०	पा०
किराया गाड़ी	३	८	०
चुंगी	३	०	०
बयाई (कमीशन)	२	१२	०
फुटकर	०	१०	०
कुल	६	१४	०

७—उपज की बिक्री—

१० मन फी एकड़ के हिसाब से खेत में ५०मन गेहूँ हुआ और ७ मन फी एकड़ से ३५ मन बाजरा हुआ ।

नाम	मात्रा	दर फी रुपया	कीमत		
			रु०	आ०	पा०
गेहूं	५० मन	१४ सेर	१४२	१३	—
बाजरा	३५ मन	२० सेर	७०	—	—
भूसा और कर्बी			२०	—	—
		कुल	२३२	१३	—

सीतल का नफा नुकसान खाता निम्न प्रकार से है :—

नफा नुकसान खाता

आय	रु०	आ०	पा०	व्यय	रु०	आ०	पा०
गेहूँ	१४२	१३	—	बीज व खाद	३६	११	—
बाजरा	७०	—	—	लगान	३०	—	—
भूसा कर्बी	२०	—	—	मज़दूरी	१११	५	—
				सूद	२४	१२	—
				घिसावट	८	५	—
				बिक्री	६	१४	—
				मुनाफा	११	१४	—
	२३२	१३	—		२३२	१३	—

किसान का प्रतिशत लागत खर्च
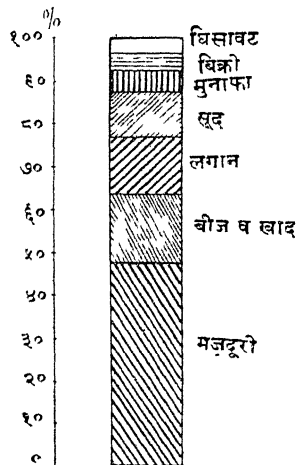
उत्पादन व्यय का संक्षिप्त विवरण

नीचे लिखे अनुसार है:—

	रु० आ०	प्रतिशत
बीज व खाद	३६—११	१५-८
लगान	३०— ०	१२ ६
मजदूरी	१११— ५	४७-८
सूद	२४—१२	१०-६
घिसावट	८— ५	३-६
बिक्री	६—१४	४-२
मुनाफा	११—१४	५-१
मीजान	२३२—१३	१००-०

उपर्युक्त खर्च की मदें इसके साथ में दिये हुए चित्र में दिखलाई गई हैं।

उत्पत्ति-वृद्धि-नियम—खेती के लागत खर्च की भिन्न-भिन्न मदें जान लेने पर अब हम उत्पत्ति-वृद्धि-नियम पर विचार करते हैं। किसी खेत पर या किसी कारखाने में जैसे जैसे लागत-खर्च बढ़ाया जाता है वैसे वैसे उत्पत्ति में भी वृद्धि होती जाती है। परन्तु एक सीमा के बाद जिस अनुपात के लागत-खर्च में वृद्धि होती है उस अनुपात से उत्पत्ति में वृद्धि नहीं होती। जैसे जैसे लागत-खर्च बढ़ता जाता है वैसे वैसे एक सीमा तक सीमान्त उत्पत्ति बराबर बढ़ती जाती है। उस सीमा के बाद अधिक लागत-खर्च लगाने पर फिर एक दूसरी

सीमा तक सीमान्त उत्पत्ति पहले के बराबर ही रहती है, और फिर और भी अधिक लागत-खर्च बढ़ाने पर सीमान्त उत्पत्ति घटने लगती है। जिस सीमा तक लागत खर्च बढ़ाने पर सीमान्त उत्पत्ति बढ़ती जाती है उस सीमा तक क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि-नियम लागू होता है। फिर उस सीमा से जिस सीमा तक सीमान्त उत्पत्ति एकसी रहती है, क्रमागत उत्पत्ति-समता-नियम लागू होता है। और, उस सीमा से जिससे सीमान्त उत्पत्ति कम होने लगती है, क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होता है। प्रत्येक वस्तु के उत्पन्न करने में—चाहे वे खेती द्वारा पैदा की जायँ या किसी कारखाने में तैयार की जायँ—लागत-खर्च क्रमशः बढ़ाने से उपर्युक्त तीनों नियम क्रमशः लागू होते हैं। खेती में क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास-नियम शीघ्र लागू होने लगता है, और कारखानों में लागत खर्च बढ़ाने में बड़ी देर तक क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि-नियम लागू होता है। परन्तु कारखाने में भी एक सीमा के बाद क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास-नियम अवश्य लागू होने लगता है। उदाहरणों द्वारा हम इन नियमों को समझाने का प्रयत्न करते हैं।

खेती का उदाहरण—नीचे लिखे कोष्ठक में किसी एक खेत पर किये हुए लागत-खर्च और उत्पत्ति का परिमाण दिया जाता है।

लागत खर्च रुपयों में	उत्पत्ति का परिमाण (मन में)	सीमान्त उत्पत्ति (मन में)
२५	१०	१०
५०	२२	१२

लागत खर्च रुपयों में	उत्पत्ति का परिमाण (मन में)	सीमान्त उत्पत्ति (मन में)
७५	३६	१४
१००	५१	१५
१२५	६६	१५
१५०	८०	१४
१७५	९३	१३
२००	१०५	१२
२२५	११५	१०
२५०	१२३	८

इस कोष्ठक में सीमान्त उत्पत्ति के अंक, उत्पत्ति के परिमाण (दूसरा कालम) के अंकों से निकाले गये हैं। ५० रुपये लागत-खर्च लगाने पर सम्पूर्ण उत्पत्ति २२ मन होती है, और २५ रुपये लगाने पर केवल दस मन। इस प्रकार दूसरे २५ रुपये लगाने पर उत्पत्ति में १२ मन की वृद्धि हुई। यह बारह मन ५० रुपया लागत-खर्च की सीमान्त उत्पत्ति समझी जाती है। इसी प्रकार अन्य लागत-खर्च की सीमान्त उत्पत्ति का हिसाब लगाया जा सकता है।

इस कोष्ठक के देखने से मालूम होता है कि इस खेत पर १०० रुपयों तक लागत-खर्च बढ़ाते जाने पर सीमान्त उत्पत्ति बढ़ती जाती है। १०० रुपया लागत खर्च लगाने पर सीमान्त उत्पत्ति १५ मन है। २५ रुपया और लागत-खर्च बढ़ाने पर सीमान्त उत्पत्ति १५ मन ही रह जाती है। सीमान्त उत्पत्ति में वृद्धि यहाँ रुक जाती है। इसलिये

हम यह कह सकते हैं कि इस खेत में १०० रुपया लागत-खर्च लगाने तक क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि-नियम लागू होता है। इसके बाद १२५ रुपये की लागत-खर्च तक क्रमागत उत्पत्ति-समता-नियम लागू होता है। इसके बाद लागत-खर्च बढ़ाने पर सीमान्त उत्पत्ति कम होने लगती है। १५० रुपया लागत-खर्च लगाने पर सीमान्त उत्पत्ति १५ मन से घट कर १४ मन ही रह जाती है। इसलिये इस खेत पर १२५ रुपया लागत-खर्च लगाने के बाद क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास-नियम लागू होने लगा है।

इन नियमों के सम्बन्ध में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनका सम्बन्ध उत्पत्ति के परिमाण से है, वस्तु के मूल्य से नहीं। जब तक निर्दिष्ट लागत-खर्च लगाने से उत्पत्ति के परिमाण में कोई अन्तर नहीं पड़ता, जो नियम जिस सीमा से लागू हो रहा है उसी सीमा से लागू होता रहेगा—चाहे फिर वस्तु के मूल्य में कितना ही घट बढ़ होता जाय। दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि जिस सीमा से क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास-नियम आरम्भ होता है, उसी सीमा पर उत्पादक को हानि होना आरम्भ नहीं हो जाता और न वह उसी सीमा पर अधिक लागत-खर्च लगाना बन्द ही कर देता है। लागत-खर्च किसी खेत में किस सीमा तक लगाया जाता है, यह वस्तु के मूल्य पर निर्भर है।

कारखाने का उदाहरण—अब हम इन नियमों के समझाने के लिये किसी कारखाने का उदाहरण लेते हैं। अगले पृष्ठ के कोष्ठक में किसी सूती कपड़े के कारखाने के लागत खर्च और उत्पत्ति का परिमाण दिया जाता है:—

लागत खर्च	सम्पूर्ण उत्पत्ति	सीमान्त उत्पत्ति
१ हजार रुपये	२ हजार गज	२ हजार गज
२ ,, ,,	४½ ,, ,,	२½ ,, ,,
३ ,, ,,	७½ ,, ,,	३ ,, ,,
४ ,, ,,	११ ,, ,,	३½ ,, ,,
५ ,, ,,	१५ ,, ,,	४ ,, ,,
६ ,, ,,	१९½ ,, ,,	४½ ,, ,,
७ ,, ,,	२४½ ,, ,,	५ ,, ,,
८ ,, ,,	३० ,, ,,	५½ ,, ,,
९ ,, ,,	३६ ,, ,,	६ ,, ,,
१० ,, ,,	४२½ ,, ,,	६½ ,, ,,
११ ,, ,,	४९½ ,, ,,	७ ,, ,,
१२ ,, ,,	५७ ,, ,,	७½ ,, ,,
१३ ,, ,,	६५ ,, ,,	८ ,, ,,
१४ ,, ,,	७३ ,, ,,	८ ,, ,,
१५ ,, ,,	८०½ ,, ,,	७½ ,, ,,
१६ ,, ,,	८७½ ,, ,,	७ ,, ,,

उपर्युक्त उदाहरण में, लागत-खर्च में जमीन का लगान, मजदूरी, पूँजी का सूद, मशीनों की घिसाई, मुनाफा, कमीशन, विज्ञापन, कच्चे माल तथा भाफ, बिजली इत्यादि का खर्च सम्मिलित है। इस कोष्ठक में भी सीमान्त उत्पत्ति के अंक, सम्पूर्ण उत्पत्ति के अंकों से निकाले गये हैं। इसका तरीका पिछले उदाहरण में समझाया जा चुका है।

इस कोष्ठक को देखने से मालूम होता है कि जैसे जैसे इस कारखाने पर लागत-खर्च बढ़ता जाता है, सीमान्त उत्पत्ति १३ हज़ार रुपये के लागत-खर्च तक बढ़ती जाती है। इसलिये इस कारखाने में १३ हजार रुपये के लागत-खर्च तक क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि-नियम लागू होता है। १४ हजार रुपये लागत-खर्च लगाने पर सीमान्त उत्पत्ति पहले के बराबर (आठ हजार गज) ही रहती है। इसीलिये १३ हजार रु० लागत-खर्च से १४ हजार रुपये लागत-खर्च तक क्रमागत उत्पत्ति-समता-नियम लागू होता है और १४ हजार रुपये की लागत के बाद क्रमागत-ह्रास-नियम लागू होता है। परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि कारखाने का मालिक इसी सीमा के बाद लागत-खर्च लगाना बन्द नहीं कर देता है। जैसा कि हम पिछले उदाहरण में कह चुके हैं, यह सीमा वस्तु के मूल्य पर निर्भर रहती है।

नियम-सम्बन्धी निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :—

(१) किसी खेत या कारखाने में जैसे-जैसे लागत खर्च बढ़ता जाता है, सीमान्त उत्पत्ति पहले बढ़ती जाती है, पश्चात् कुछ सीमा तक बराबर रहती है, और अन्त में एक सीमा के बाद कम होने लगती है।

(२) खेती में क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास-नियम जल्दी लागू होने लगता है, और कारखानों में यह नियम देर से लागू होता है।

(३) जिस सीमा पर क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास-नियम का लागू होना आरम्भ होता है, वस्तुओं की कीमत के घट-बढ़ का उस पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।

उत्पत्ति की किस सीमा पर अधिक लागत-खर्च लगना बन्द हो जाता है, इसका विचार आगे विनिमय के खंड में किया जायगा।

अभ्यास के प्रश्न

(१) लागत खर्च में कौन सी मदें रहती हैं? एक जुलाहा और एक हलवाई के लागत खर्च का बजट बनाइये।

(२) समझाइये कि श्रम विभाग और मशीनों के उपयोग के कारण बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में माल मँगाने और भेजने में उत्पत्ति वृद्धि-नियम लागू होता है।

(३) क्रमागत-ह्रास-नियम की विवेचना कीजिए। क्या यह (अ) खान (ब) नदी में मछली मारने और (स) कुम्हार के काम पर लागू होता है?

(४) उत्पत्ति के कौन कौन से नियम हैं? उदाहरण सहित सब का हाल लिखिये।

(५) "उत्पत्ति के प्रत्येक कार्य में उत्पत्ति का प्रत्येक नियम बराबर लागू होता है।" इसकी आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

(६) क्या कारण है कि खेती में क्रमागत ह्रास और कल कारखानों में क्रमागत-वृद्धि-नियम लागू होता है? समझाकर लिखिए।

इक्कीसवाँ अध्याय

—:*:—

उत्पत्ति का आदर्श

प्राक्कथन—पिछले अध्याय में इस बात का विचार किया जा चुका है कि उत्पत्ति के नियम क्या हैं। उसके पहले कई अध्यायों में उत्पत्ति के विविध साधनों का विचार किया गया है और यह भी बतलाया गया है कि उनमें से प्रत्येक की उपयोगिता किस प्रकार बढ़ायी जा सकती है। आशा है, इस ज्ञान को प्राप्त करने से उत्पत्ति की मात्रा अधिक से अधिक करने में सहायता मिलेगी। परन्तु धनोत्पत्ति का उद्देश्य सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृति है। यह उद्देश्य सिद्ध होने के लिये यही आवश्यक नहीं है कि धन का सदुपयोग हो, वरन् इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि हमारे सामने उत्पत्ति का सुविचार-युक्त और निश्चित आदर्श हो। अतः पहले इस बात का विचार करते हैं कि प्रायः भिन्न भिन्न आदमियों का उत्पत्ति-सम्बन्धी ध्येय क्या क्या हुआ करता है।

उत्पत्ति सम्बन्धी ध्येय—मोटे हिसाब से उत्पत्ति में उत्पादक का ध्येय, निम्नलिखित तीन ध्येयों में से कोई एक हो सकता है:—

(१) उत्पत्ति मेरे लिये हो, उससे मुझे लाभ होना चाहिये, दूसरों की उससे चाहे जो हानि हो, उसकी मुझे चिन्ता नहीं। इसे स्वार्थवाद या पूँजीवाद कह सकते हैं।

(२) उत्पत्ति दूसरों के लिये, मानव समाज के लिये हो, उससे दूसरों का हित साधन हो, उसके वास्ते, मुझे जो कुछ कष्ट-सहन या त्याग करना पड़े, वह सहर्ष स्वीकार है। इसे परमार्थवाद कह सकते हैं।

(३) उत्पत्ति मेरे लिये एवं दूसरों के लिये हो। मेरे उत्पादन कार्य से किसी को कुछ हानि या कष्ट न हो, उत्पादन धर्म और नीति-संगत हो, यह स्वार्थ और परमार्थ का मध्यम मार्ग है।

अब हम इन तीनो के विषय में क्रमशः विचार करते हैं और यह बतलाते हैं कि इनमें से प्रत्येक में क्या गुण दोष हैं।

स्वार्थवाद या पूँजीवाद—प्रायः प्रत्येक देश में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो धन कमाना ही अपना ध्येय बना लेते हैं। वे किसी भी साधन से, ईमानदारी से अथवा बेईमानी से, जायज तरीके से, अथवा नाजायज़ तरीके से, सदैव धन प्राप्त करने की धुन में लगे रहते हैं। इस स्वार्थवाद का चरम स्वरूप आज कल के पूँजीवादियों में दिखायी देता है। इसके मुख्य दो लक्षण होते हैं:—

(क) पूँजीपति उत्पादन के सब साधनों के स्वामी होते हैं। अनेक किसान उस जमीन के भी मालिक नहीं होते, जिसे वे जोतते हैं। खेती का बीज, औजार या मशीनें भी उनकी नहीं होतीं। फलतः जो पैदावार होती है, वह भी उनकी नहीं होती। वे पूँजीपतियों के आश्रित मजदूरों का सा जीवन बिताते हैं। अब मज़दूरों की बात लीजिये। उनका कल-

कारखानों पर कुछ अधिकार नहीं होता, वे जब चाहें कारखाने से निकाले और काम करने मे रोके, जा सकते हैं। निदान, पूँजीवाद की दशा में मुट्ठी भर आदमी लखपति या करोड़पति होते हैं तो लाखों व्यक्ति निर्धन और अनेक तो अपने जीवन-निर्वाह की साधारण आवश्यकताओं पूर्ति में भी असमर्थ, भूखे और नंगे रहते हैं।

(ख) पूंजीवादी उसी उत्पादन को सफल समझता है, जिससे उसको नफा हो। अन्य पैदावार को वह व्यर्थ मानता है, इसलिए अनेक बार हज़ारों और लाखों आदमियों के भूखे नंगे रहते हुए भी वस्तुओं का भाव बढ़ाने के लिये भोजन-वस्त्र की विपुल सामग्री समुद्र या अग्नि की भेंट कर दी जाती है, अथवा देश की बहुत सी शक्ति विलासिता की, या युद्धोपयोगी वस्तुएँ बनाने में लगायी जाती हैं, जिससे धन-जन की अपार क्षति होती है।

पूंजीवाद प्रथा में धन तो पैदा होता है, परन्तु जनता को अभीष्ट सुख की प्राप्ति नहीं होती। जनता दो भागों में विभक्त हो जाती है। इन दोनों में परस्पर कलह और ईर्षा रहती है। पूँजीपतियों को अधिकाधिक धन की तृष्णा लगी रहती है, अथवा उन्हें यह चिन्ता सताती है, कि इस दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़नेवाली सम्पत्ति का क्या किया जाय। श्रमजीवी वर्ग अपने जीवन निर्वाह की आवश्यकताओं के अभाव से होने वाले दुःख का अनुभव करता है, और अपनी आहों से पूँजीपतियों का और पूँजीवाद के युग का अन्त करना चाहता है। इससे स्वयं पूँजीपतियों की भी अपार हानि होती है। उन्हें चैन या शान्ति नहीं मिलती। पुनः यदि वे अपने लिये सब प्रकार से स्वास्थ्यप्रद भवन भी

बनवा लें तो जब कि उनके चहुँओर निर्धन श्रमजीवियों का निवास है, जो कि तंग और गन्दी झोपड़ियों में रहने, घटिया भोजन खाने और मैले वस्त्र पहिनने से आये दिन बीमार रहते हैं, तो विविधि रोगों के कीटाणुओं से परिपूर्ण ऐसे वातावरण में पूँजीपति भी स्वस्थ और निरोग नहीं रह सकते। यही कारण है कि कुछ पूँजीपति, स्वयं अपने स्वार्थ की दृष्टि से भी श्रमजीवियों के लिये स्वास्थ्य-नियमों के अनुसार अच्छे मकान बनवाते हैं, तथा उनके खान पान आदि की भी व्यवस्था करने की ओर ध्यान देते हैं। तथापि जैसा कि ऊपर कहा गया है, अधिकांश पूँजीपतियों का दृष्टि-कोण स्वार्थमय रहने के कारण वे उक्त कार्य बड़ी कृपणता से करते हैं। वे मज़दूरों को आखिर मज़दूर ही रखना चाहते हैं, उन्हें अपनी बराबरी का तो बनाने से रहे। निदान, पूँजीवाद में दो श्रेणी रहनी अनिवार्य हैं, पूँजीपति और मज़दूर, अथवा मालिक और नौकर। और, यह भेद समाज के लिये कभी हितकर नहीं होता।

संसार की रचना इस प्रकार की है कि यदि कोई व्यक्ति या वर्ग चाहे कि सर्वत्र नरक-यातनाएँ बनी रहें, और केवल उसके लिए स्वर्गीय सुख उपलब्ध हो तो यह हो नहीं सकता। औरों के कष्ट में रहते हुए हमें अभीष्ट सुख नहीं मिल सकता। हम सुख चाहते हैं तो हमें दूसरों के लिये भी त्याग और उदारता-पूर्वक सुख की सृष्टि करनी चाहिये।

परमार्थवाद—उत्पत्ति के ध्येय की एक सीमा पूँजीवाद है, तो दूसरी सीमा परमार्थवाद है। इसके कई दर्जे या भेद हैं। (१) कुछ आदमी वस्तुओं की उत्पत्ति में ही परमार्थ या परोपकार का भाव रखते हैं, (२) कुछ अपनी सेवाएँ त्याग-भाव से करते हैं, (३) कुछ

अपने उपार्जित धन को दूसरों के हितार्थ लगाते हैं। कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा।

कुछ आदमी या संस्थाएँ बहुत रुपया लगाकर गीता, रामायण, बाइबल आदि धार्मिक पुस्तकों की हज़ारों लाखों प्रतियां छपाते हैं, या कोई धार्मिक पत्र-पत्रिका प्रकाशित करते हैं, और उसे बिना मूल्य या नाम मात्र के मूल्य पर सर्व साधारण में वितरित कराते हैं। कितने ही धनी-मानी सज्जन धर्मशाला, कुआँ, तालाब, पाठशाला, अनाथालय, औषधालय, प्रसूत-गृह, विधवाश्रम आदि बनवाते हैं तथा उनके प्रबन्ध के लिए रुपया इसलिए लगाते हैं कि उससे दूसरों का हित हो। इनमें से बहुत से आदमी ऐसे होते हैं, जो स्वयं अपने लिए भी काफी उत्पत्ति करते रहते हैं, और इस प्रकार उन्हें अपने खान-पान या रहन-सहन में विशेष कष्ट या असुविधा नहीं होती। तथापि कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो अपनी उत्पत्ति का प्रधान लक्ष्य परोपकार रखते हैं। अनेक साधु महात्मा अपने लिए कुछ दान-दक्षिणा ग्रहण नहीं करते, रूखे-सूखे भोजन और नाम-मात्र के वस्त्र से सतोष करते हैं, परन्तु इस बात का उद्योग करते रहते हैं कि स्थान स्थान पर कुएँ, बावड़ी, बाग, प्याऊ या धर्मशाला आदि बन जायँ, जिनसे सर्व-साधारण को लाभ हो।

परमार्थ की दृष्टि से सेवा करनेवालों की थोड़ी-बहुत संख्या सभी देशों में होती है। भारतवर्ष में कितने ही आदमी अपना बहु-मूल्य समय राष्ट्रीय कार्य, साहित्य सेवा, या शिक्षा-प्रचार आदि में लगाते हैं, जिसका प्रतिफल वे सामान्य भोजन-वस्त्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं

लेते। यदि ये चाहें तो अपनी शक्ति और योग्यता का 'उपयोग' ऐसे उत्पादन कार्य में कर सकते हैं, जिससे इन्हें प्रति मास सैकड़ों रुपयों की आमदनी हो, परन्तु ये उस आमदनी को त्याग कर अपनी सेवा देश और समाज हित लगाने का ही ध्येय रखते हैं।

कितने ही आदमी अपना उपार्जित धन दूसरों को भोगने देते हैं, तदुपरान्त यदि कुछ शेष रहे, तो जो कुछ भी उन्हें मिलता है, उसी में वे सन्तोष कर लेते हैं और यदि कुछ शेष न रहे तो भी उन्हें कुछ चिन्ता नहीं होती। भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं, कि एक व्यक्ति के पास केवल उसकी ही आवश्यकता की पूर्ति के लिए भोजन था, पर अनायास कोई अतिथि आ गया, उसने भोजन उसे दे दिया और स्वयं भूखा रह गया और स्वेच्छा-नुसार भूखा रहने में ही उसने परमानन्द का अनुभव किया। कितने ही महान् आत्माओं ने घोर शीत काल में अपना एक मात्र वस्त्र उतार कर दूसरे को दे दिया, जिससे उसे ठंड न लगे। ये महापुरुष दूसरों की आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकताओं की अपेक्षा अधिक महत्व देते हैं। इनकी नीति 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' अथवा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' होती है। समस्त विश्व ही इनका परिवार होता है।

मध्यम मार्ग—सर्व साधारण इन महानुभावों को श्रद्धांजलि चढ़ाते हैं, और इनका गुण-गान करते हैं। तथापि इनका मार्ग कुछ थोड़े से व्यक्तियों का ही होता है, और हो सकता है; साधारण आदमी इनका अनुकरण नहीं कर सकते, ऐसा करना उनके लिए व्यावहारिक नहीं है। सर्व साधारण के लिए उत्पत्ति का ध्येय न

परम स्वार्थवाद होता है, और न विशुद्ध परमार्थवाद ही। उनका लक्ष्य 'जीओ, और जीने दो' का होता है। यह बतलाता है कि हमें आत्म-रक्षा करनी चाहिये, अपना भरण पोषण करना चाहिये, पर दूसरों को कष्ट देकर, या दूसरों का शोषण करके नहीं, वरन् उनका भी हित-साधन करते हुए ही। भारत का, विशेषतः हिन्दुओं का, धनोत्पत्ति सम्बन्धी आदर्श यही है।

उत्पत्ति का आदर्श—उत्पत्ति के तीन ध्येय ऊपर बताए गये हैं, इनमें पूंजीवाद तो आदर्श योग्य है ही नहीं, उससे कितना अनर्थ होता है, यह पहले बताया जा चुका है। परमार्थवाद से संसार का बड़ा कल्याण हो सकता है, उससे सब कष्टों का अन्त होकर जन समाज के लिये स्वर्गीय सुख की प्राप्ति हो सकती है। इस लिए वह आदर्श के सर्वथा योग्य है। यही एक ऐसा आदर्श है जिसे विचारवान और विवेकशील व्यक्ति प्राप्त करने के इच्छुक हों। कुछ आदमियों को इस आदर्श की प्राप्ति में थोड़ी बहुत सफलता भी मिल सकती है। परन्तु यदि हम यह समझें कि इसे सर्व साधारण अपने जीवन में पूर्णतया परिणत कर सकेंगे तो यह दुराशा मात्र है, स्वाभाविक नहीं है। अतः सर्व साधारण के लिये परमार्थवाद व्यावहारिक न होने से, उसे मध्यम मार्ग ही ग्रहण करना चाहिये, पूँजीवादी बनने का तो किसी भी दशा में विचार ही न किया जाना चाहिये। रूस में जो उत्पत्ति की जाती है, उसका ध्येय यही है कि उससे किसी विशेष व्यक्ति या व्यक्ति-समूह का लाभ न होकर समस्त समाज का ही लाभ हो। क्योंकि वहाँ सभी व्यक्ति समाज हित की दृष्टि से उत्पादन में

भाग लेते हैं, इसलिये वहाँ किसी व्यक्ति वा व्यक्तिगत समूह के मुनाफे का प्रश्न ही नहीं रहता। वहाँ 'प्रत्येक सब के लिये, और सब प्रत्येक के लिये' का भाव है।

हिन्दुओं के धर्म ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से यह आदेश किया गया है कि प्रत्येक मनुष्य धन को धर्म-पूर्वक ही प्राप्त करे, उसे इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि उसका धन-प्राप्ति का कोई तरीका धर्म-विरुद्ध न हो। हमारे धर्म-शास्त्र कहते हैं कि बेईमानी से अथवा अधर्म से प्राप्त किये धन से कभी सुख और शांति प्राप्त नहीं होती—वह धन मनुष्य को अन्त में पशु बना देता है। धन में अपार शक्ति है। उस शक्ति का उपयोग अपनी और समाज की दशा सुधारने में किया जा सकता है। उसी का उपयोग अपनी और समाज की दशा बिगाड़ने में भी किया जा सकता है। अधर्म से प्राप्त धन द्वारा देश और समाज के हित की बहुत कम सभावना होती है। यदि देश में प्रत्येक व्यक्ति धन कमाते समय उसके तरीके धर्म के अनुसार ही बनाये रखने का हमेशा ध्यान रखे, कभी भी अधर्म से धन प्राप्त करने का प्रयत्न न करे, तो संसार के भिन्न भिन्न देशों में जो आर्थिक संघर्ष दिखायी देता है, वह मिट जाय; सब देश पूँजीवाद, भौतिकवाद इत्यादि के हानि-कारक परिणामों से बच जायँ और संसार में सुख और शांति की वृद्धि हो।

उपसंहार—अस्तु, प्रत्येक व्यक्ति को धन इस प्रकार से प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये जिससे किसी दूसरे व्यक्ति की, या अपने देश की हानि न होने पावे। यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे

का माल चुराता है तो सरकार उसे दंड देती है। परन्तु कई कार्य ऐसे भी हैं जिनके लिये सरकार दंड नहीं देती, तथापि जिनसे दूसरों का तथा देश का नुकसान होता है। यदि कोई पूंजीपति अपने कारखाने में मज़दूरों से, अधिक मुनाफे की लालच से, अत्यधिक काम लेकर उनको बहुत कम मज़दूरी देता है और उनके स्वास्थ्य की परवाह नहीं करता तो वह देश और समाज को हानि पहुँचाता है। यदि कोई वकील अपने मुवक्किलों को उचित सलाह न देकर अपनी आमदनी की लालच से उनको व्यर्थ की मुकदमेबाजी में फंसाता है तो वह समाज और देश को हानि पहुँचाता है। इस प्रकार के कार्य वे ही लोग करते हैं जो धन को ही अपना ध्येय बना लेते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि धन केवल सुख का साधन मात्र है और जब धन प्राप्त करने के प्रयत्नों से समाज या देश का दुःख बढ़ता है, तो यह स्पष्ट है कि उस धन की उत्पत्ति आदर्श-विरुद्ध है। धनोत्पत्ति के ऐसे हानिकारक उपायों को अमल में न लाया जाना चाहिये। आशा है, पाठक धनोत्पादन में धर्म की विस्मृति न करेंगे, अर्थात् उत्पत्ति का आदर्श केवल अपना स्वार्थ-साधन न रख कर, उनके साथ ही, देश और समाज का हित-साधन रखेंगे।

अभ्यास

(१) धनोत्पत्ति का मुख्य उद्देश क्या है? प्रश्न पर सामाजिक दृष्टि से भी विचार कीजिये।

(२) धनोत्पत्ति का आदर्श क्या होना चाहिये?

(३) पूंजीवाद के गुण-दोष लिखिये ।

(४) धर्म और अर्थ का संबंध समझाइये ।

(५) परमार्थवाद कहां तक व्यावहारिक है ?

(६) भारत में धनोत्पत्ति के ऐसे उदाहरण दीजिये जो आदर्श के अनुसार दोष पूर्ण है ।

(७) वकील, जमीदार, साधु, सट्टेबाज, और तीर्थस्थानों के पडों के कार्यों की सामाजिक दृष्टि से आलोचना कीजिये ।

चतुर्थ खंड

विनिमय

बाईसवाँ अध्याय

—:०*०:—

अदल-बदल

विनिमय के भेद; अदल-बदल और क्रय-विक्रय—पहले बताया जा चुका है कि किसी आदमी का काम केवल अपनी ही बनायी वस्तुओं से नहीं चल सकता। उसे दूसरों की बनायी हुई वस्तुओं की आवश्यकता होती है, इन्हें लेने के लिए उसे दूसरों को बदले में ऐसी वस्तुएँ देनी होती हैं, जिनकी उन्हें ज़रूरत हो। इस प्रकार का व्यवहार अति प्राचीन काल से होता रहा है। इस समय भी कहीं-कहीं विशेषतया ग्रामों में इसका चलन है। इसे विनिमय कहते हैं। यह दो प्रकार से होता है। (१) जिसमें वस्तु के बदले वस्तु दी जाती है। यथा राम को मोहन की पुस्तक की आवश्यकता है, और मोहन को राम की कमीज की ज़रूरत है। इस दशा में राम मोहन को कमीज देकर उससे पुस्तक ले लेता है। इसे अदल बदल कहते हैं। (२) जिसमें वस्तु के बदले द्रव्य दिया जाता है। राम को मोहन की पुस्तक की आवश्यकता है, और वह मोहन को पुस्तक का मूल्य दो रुपये देकर उससे पुस्तक ले लेता है। इस दशा में राम पुस्तक खरीदता है अर्थात्

क्रय करता है। यदि मोहन की दृष्टि से विचार करें तो वह पुस्तक बेचता है अर्थात् विक्रय करता है। इसे क्रय-विक्रय कहते हैं।

अदल-बदल से दोनों पक्ष को लाभ—अदल-बदल दो वस्तुओं का होता है, और विनिमय करने वाले कम से कम दो व्यक्ति होते हैं। जैसे, उपर्युक्त उदाहरण में अदल-बदल करने वाले राम और मोहन हैं। अदल-बदल से दोनों पक्ष को किस प्रकार लाभ होता है, यह नीचे समझाया जाता है।

कल्पना करो कि अ के पास छः सेव है, और ब के पास छः केले हैं। अ को कुछ केलो की आवश्यकता है, और ब को कुछ सेवो की। अ अपना एक सेव देकर एक केला उसी दशा में लेगा, जब उसे केले द्वारा उससे अधिक सतुष्टि प्राप्त हो, जितनी का उसे सेव के देने में त्याग करना पड़े, अथवा यों कह सकते हैं कि जब अ के लिए केले से मिलने वाली उपयोगिता उसके सेव की सीमान्त उपयोगिता से अधिक हो। इसी प्रकार ब अपना केला उसी दशा मे देना स्वीकार करेगा जब उसके लिए सेव की प्रारम्भिक उपयोगिता केले की सीमान्त उपयोगिता से अधिक हो।

कल्पना करो अ और ब के लिए सेव और केलो की उपयोगिता आगे दिये हुए कोष्टक के अनुसार है:—

सेव और केलों की क्रम संख्या	अ के लिये सेवों की उपयोगिता	अ के लिए केलों की उपयोगिता	ब के लिए केलों की उपयोगिता	ब के लिये सेवों की उपयोगिता
१	१००	११०	१२०	१३५
२	९९	१०५	११५	१२५
३	९८	९५	११०	१००
४	९६	८५	१००	७०
५	९३	७०	८५	३५
६	८८	५०	६०	२०

अ, ब से एक केला प्राप्त करने के लिए, उसे एक सेव देता है तो इस अदल-बदल से, अ सेव की अन्तिम उपयोगिता ८८ इकाई के बदले केले की प्रारम्भिक उपयोगिता की ११० इकाई प्राप्त करेगा। इससे उसे ११० — ८८ = २२ इकाई का लाभ होगा। ब केले की अन्तिम उपयोगिता की ६० इकाई के बदले सेव की प्रारम्भिक उपयोगिता की १३५ इकाई प्राप्त करेगा। उसे १३५ — ६० = ७५ इकाई का लाभ होता है। इस प्रकार इस अदल-बदल में दोनों को लाभ है, अतः दोनों इसे प्रसन्नता-पूर्वक करना चाहेंगे। अब आगे की बात लें।

अ अपने पांचवे सेव की अन्तिम उपयोगिता की ९३ इकाई के बदले दूसरे केले की उपयोगिता की १०५ इकाई प्राप्त करता है, इससे उसे १२ इकाई का लाभ होता है। ब अपने पांचवें केले की अन्तिम उपयोगिता की ८५ इकाई के बदले दूसरे सेव की प्रारम्भिक उपयोगिता की १२५ इकाई प्राप्त करता है, इससे उसे १२५ — ८५ = ४० इकाई का लाभ होता है। इस प्रकार इस अदल-बदल में भी दोनो को लाभ है, अतः दोनो इसे प्रसन्नता-पूर्वक करेंगे।

अब यदि अ ब को तीसरा सेव देता है तो वह अपने चौथे सेव की अन्तिम उपयोगिता की ९६ इकाई के बदले तीसरे केले की प्रारम्भिक उपयोगिता की ९५ इकाई प्राप्त करता है। इससे अ को एक इकाई की हानि होती है। ब अपने चौथे केले की अन्तिम उपयोगिता की १०० इकाई के बदले तीसरे सेव की प्रारम्भिक उपयोगिता की केवल १०० इकाई प्राप्त करेगा; अर्थात् उसे १०० — १०० = ० हानि लाभ कुछ भी न होगा। इस अदल-बदल में अ को हानि है इससे अ उसके लिए तैयार न होगा और इस प्रकार यह अदल-बदल नहीं होगा।

कोष्ठक के अंकों पर ध्यान देने से विदित होगा कि यदि अदल बदल न हो तो अ को अपने छः सेवो से उपयोगिता की १००+९९+९८+९६+९३+८८=५७४ इकाई प्राप्त होती। परन्तु अब अदल-बदल करके उसने दो केलों और चार सेवों से उपयोगिता की (११०+१०५)+(१००+९९+९८+९६)=२१५+३९३=६०८ इकाई प्राप्त कर ली। इसी प्रकार अदल-बदल न होने की दशा में ब

को अपने छः केलों से उपयोगिता की १२०+११५+११०+१००+८५+६०=५६० इकाई मिलती, परन्तु अदल-बदल करने से उसे दो सेवों और चार केलों की (१३५+१२५)+(१२०+११५+११०+१००)=२६०+४५५=७०५ इकाई प्राप्त कर लीं। इस प्रकार अदल-बदल से दोनों को लाभ रहा।

अदल-बदल की शर्तें—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अदल-बदल होने के लिए निम्नलिखित बातें होना आवश्यक है :—

(१) दो व्यक्ति (या दल) ऐसे हों, जिनमें प्रत्येक को दूसरे की वस्तु की इच्छा हो। उपर्युक्त उदाहरण में यदि अ को ब के केलों की, और ब को अ के सेवों की इच्छा न होती तो अदल बदल का प्रश्न ही उपस्थित न होता।

(२) दोनों पक्ष में से प्रत्येक दूसरे की वस्तु प्राप्त करने के लिए अपनी वस्तु देने को राजी हो।

(३) प्रत्येक पक्ष को अदल-बदल द्वारा प्राप्त वस्तुओं से इतनी उपयोगिता मिले जो उसकी अपनी वस्तुओं की उपयोगिता से अधिक हो।

यदि कोई अदल-बदल की क्रिया होती है, तो यह समझना होगा कि अदल-बदल करनेवाले दोनों पक्ष को उस समय उसमें लाभ हुआ है।

अभ्यास के प्रश्न

(१) विनिमय की परिभाषा लिखिए। सिद्ध करिए कि विनिमय द्वारा दोनों पक्षों को उपयोगिता का लाभ होता है। क्या किसी हालत में यह लाभ शून्य हो जाता है? (१९३४)

(२) अदल बदल की शर्तों को समझाइए। क्या कारण है कि अदल-बदल की जगह मुद्रा का प्रचार आरम्भ हुआ ? (१६२७)

(३) अदल बदल की असुविधाएँ उदाहरणों सहित समझाइए।

(४) "किसी वस्तु की बिक्री में बेचने वाले और खरीदने वाले दोनों को लाभ होता है।" उदाहरण सहित समझाइए।

(५) नीचे के कोष्टक में चावल, कपड़ा और दूध की सीमांत उपयोगिता अ, ब, और स तीन व्यक्तियों को दी जाती है। अ के पास ५ सेर चावल है, ब के पास ५ गज कपड़ा है और स के पास ५ सेर दूध है। यदि एक सेर चावल के बदले में एक गज कपड़ा या एक सेर दूध का अदल बदल होता है तो बतलाइये कि अ अपने चावल के बदले में कितने गज कपड़ा और कितने सेर दूध लेगा ? यह भी सिद्ध कीजिये कि इस अदल-बदल से तीनों को लाभ होगा।

सीमान्त उपयोगिता

	चावल	कपडा	दूध
१	६०	५०	१०
२	५५	४०	५
३	५०	३०	०
४	४५	२०	०
५	४०	१०	५

तेईसवाँ अध्याय

—:o:—

मांग और पूर्ति

पिछले अध्याय में विनियम के एक स्वरूप अदल-बदल के संबंध में लिखा जा चुका है। इस अध्याय में उसके दूसरे स्वरूप क्रय-विक्रय के विषय में विचार किया जाता है।

अदल-बदल की दिक्कतें—आजकल हमें जब किसी वस्तु की आवश्यकता पड़ती है तो बाजार जाकर उसे मोल लेते हैं अर्थात् जिस मनुष्य के पास वह वस्तु रहती है उसे कुछ पैसे या रुपए देकर बदले में उस वस्तु को ले लेते हैं। इस खरीद फरोख्त की इस प्रणाली का विकास क्यों हुआ? बात यह है कि अदल बदल में एक बड़ी दिक्कत होती है। उसमें खरीदार और बेचने वाला ऐसा होना चाहिए कि एक को दूसरे की वस्तु की आवश्यकता हो। यदि श्याम के पास आम हैं और मोहन के पास खरबूजा, तो अदल बदल के लिए यह आवश्यक है कि श्याम को खरबूजों की आवश्यकता हो और मोहन को आम की। यही नहीं यह भी जरूरी है कि आमों को लेने के लिए मोहन खरबूजा देने को तैयार हो, और इसी प्रकार श्याम का आम देने को राजी होना आवश्यक है।

एक बात और। मान लीजिए राम के पास एक पुस्तक है और वह उसके बदले में आम और खरबूजा दोनों लेना चाहता है। परन्तु यह तो तभी हो सकता है जब श्याम और मोहन मिल कर किसी निश्चित दर से आम और खरबूजा देकर पुस्तक लेने को तैयार हों।

इन दिक्कतों से दूर हटने के लिए धीरे धीरे विनिमय के माध्यम अर्थात् रुपए-पैसों अर्थात् मुद्रा का विकास हुआ। इनके सम्बन्ध में विशेष आगे लिखा जायगा। मुद्रा के आविष्कार के पश्चात् राम अपनी पुस्तक को बाजार में बेच सकता है। मान लीजिए उसे आठ आने पैसे मिले। इसमें से कुछ पैसों के वह आम खरीद लेगा और कुछ के खरबूज़े। इसी प्रकार मोहन और श्याम भी आपस में पैसे देकर आम और खरबूजों की अदल बदल कर सकते हैं।

खरीद और बिक्री—रुपए पैसों का माध्यम के रूप में उपयोग करने से, पहले की होने वाली अदला बदली अब बहुत आसान हो गई है। मान लो सीतल किसान को कपड़ा लेना है। वह बाजार में जाकर अनाज को रुपए के बदले में दे देता है। उसके इस कार्य को बिक्री कहते हैं। बिक्री के द्वारा बेचने वाला कोई वस्तु विशेष तो दूसरे को दे देता है और उससे रुपए ले लेता है। अनाज बेच चुकने पर सीतल कपड़े वाले के पास जाता है। वह रुपए के बदले उससे अपने मतलब के कपड़े ले लेता है। इस कार्य को "खरीद" कहते हैं। खरीद के द्वारा खरीदार रुपए देकर कोई वस्तु खरीद लेता है।

पूर्ति—प्रश्न उठता है कि सीतल किस भाव में अनाज बेचेगा। अनाज बेचने की दर पर मांग और पूर्ति दोनों का प्रभाव पड़ता है।

चीनी की पूर्ति की रेखा
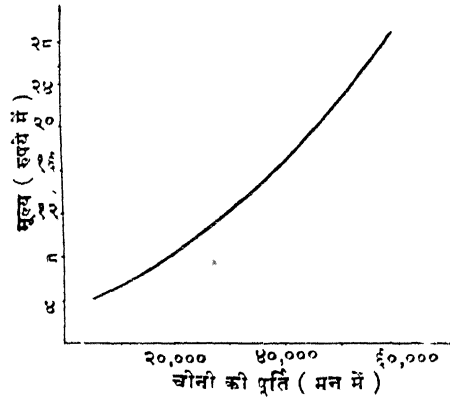
उपभोग वाले खंड में मांग के बारे में बताया जा चुका है। उसी प्रकार हमें पहले पूर्त्ति के सम्बन्ध में भी ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।

जिस प्रकार इच्छा और मांग में भिन्नता है, उसी प्रकार पूर्ति* स्टाक से भिन्न होती है। कृष्ण के पास सौ आमों का स्टाक हो परन्तु वह छै आना सैकड़ा पर केवल साठ आम बेचना चाहे तो हम कहेंगे कि छै आना सैकड़ा पर आमों की पूर्ति साठ है।

पूर्ति की सारिणी और रेखा—भिन्न भिन्न भावों पर किसी वस्तु की जो पूर्ति रहती है उससे हम पूर्ति की सारिणी बना सकते हैं। नीचे चीनी की पूर्ति की एक सारिणी उदाहरण स्वरूप दी जाती है।

मूल्य फी मन (रुपए में)	चीनी की पूर्ति (मन में)
४	५०००
८	२००००
१२	३१०००
१६	३६५००
२०	४७०००
२४	५४०००
२८	६००००

इसी से पूर्त्ति की रेखा खींची जा सकती है जिसकी शक्ल इसके साथ में दिये हुए चित्र में दी गई है।

---

* Supply

मांग की सारिणी से पता चलता है कि जैसे जैसे मूल्य बढ़ता है वैसे वैसे माग घटती है। पूर्त्ति की उपरोक्त सारिणी और रेखा से स्पष्ट है कि जैसे-जैसे मूल्य बढ़ता है पूर्ति की मात्रा भी बढ़ती जाती है।

पूर्ति का नियम—आम तौर पर हम हमेशा कह सकते हैं कि जैसे जैसे मूल्य बढ़ता है वैसे वैसे पूर्ति बढ़ती है और अधिकतर मूल्य घट जाने पर पूर्ति भी घट जाती है। यह पूर्ति का नियम है।

जिस प्रकार हम किसी समाज या बाजार की माग की सारिणी और रेखा बनाते हैं ठीक उसी प्रकार भिन्न भिन्न भावों पर सब दूकानदारों की पूर्ति को मिला कर बाजार की पूर्ति की सारिणी और रेखा खींच सकते हैं।

मांग और पूर्ति की समता—विनिमय या खरीद फरोख्त उस मूल्य पर होता है जिस पर माग और पूर्ति बराबर होती है। उदाहरणार्थ मान लीजिए कि रमेश सेर भर खरबूजा खरीदने गया। उसने तीन पैसे सेर के भाव खरबूजा खरीदना चाहा। बेचनेवाले पांच पैसे सेर का दाम मांगते हैं। यहां सौदा नहीं पटता। तब रमेश सेर भर के चार पैसे देता है। खरबूजा वाला बेचने को तैयार हो जाता है; और रमेश को सेर भर खरबूजा तौल देता है।

किसी मूल्य पर सौदा तय होने के लिए यह परमावश्यक है कि मूल्य पर मांग और पूर्ति बराबर हो। अगले पृष्ठ पर कपड़ा सीने की मशीन की मांग और पूर्ति की सारिणी दी जाती है।

मशीन की मांग और पूर्ति
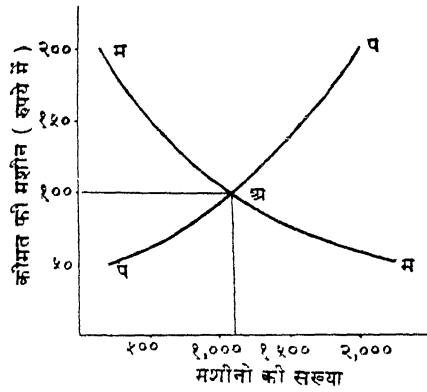
कीमत फी मशीन (रुपए में)	मशीनों की संख्या	
	माग	पूर्ति
२००	१५०	२०००
१५०	५००	१७००
११०	६००	१२००
१००	११००	११००
७५	१५००	७५०
५०	२२००	२००

जैसे जैसे कीमत घटती जाती है वैसे वैसे मांग बढ़ती है और पूर्ति घटती है। सारिणी से स्पष्ट है कि १०० रु० फी मशीन की दर पर माग और पूर्ति दोनों बराबर हैं, अतएव यही मांग और पूर्ति का समता-बिन्दु होगा।

साथ में दिये हुए चित्र में मांग और पूर्ति की रेखाएं अ बिन्दु पर एक दूसरे को काटती हैं। अतएव मशीन की कीमत १००) होगी और इस भाव पर ११०० मशीनें बिकेगी। अस्तु, विनिमय उसी दर पर होता है जिस पर मांग और पूर्ति बराबर होती है।

उत्पादन व्यय और कीमत का संबंध—विनिमय के लिए आम तौर पर बाजार-मूल्य उत्पादन व्यय के बराबर होना चाहिए। अल्प काल में मांग का प्रभाव अधिक होने के कारण बाजार-मूल्य उक्त व्यय से कम और अधिक हो सकता है परन्तु हमेशा के लिए नहीं। ऐसी दशा में जब उत्पादकों में प्रतिस्पर्धा हो और किसी प्रकार का एकाधिकार न हो और यदि किसी समय किसी वस्तु का

बाजारमूल्य उत्पादन व्यय से अधिक हुआ, अर्थात् यदि बेचने वालों को मुनाफा हो रहा है, तो और लोग भी उस वस्तु को तैयार या उत्पन्न करने लगेंगे। फलस्वरूप अन्ततः पूर्ति बढ़ जाएगी और बाजारमूल्य गिर जाएगा। इसी प्रकार यदि बाजारमूल्य उत्पादन व्यय से कम हुआ तो नुकसान होने के कारण सीमान्त उत्पादक उस चीज को तैयार करना छोड़ देंगे जिससे पूर्ति घट जाएगी। फलतः पूर्ति की अपेक्षा मांग अधिक होने के कारण बाजारमूल्य बढ़ जाएगा। इस प्रकार अल्पकाल के लिए कभी बाजारमूल्य उत्पादन व्यय से अधिक हो जाएगा तो कभी कम। पन्तु दीर्घकालीन दृष्टिकोण से मूल्य उत्पादन व्यय के बराबर होगा। दीर्घकालीन दृष्टिकोण से वस्तु विशेष के मूल्य को 'साधारण कीमत'* या दीर्घकालीन कीमत कहते हैं। यह साधारण कीमत वस्तु के उत्पादन व्यय के बराबर होती है। दीर्घकाल में औसत बाजार कीमत साधारण कीमत के बराबर होती है। अति दीर्घकाल में उत्पादन व्यय में, उत्पत्ति के तरीकों में सुधार के कारण, कमी होती है और इसका असर अति दीर्घकाल में 'साधारण कीमत' पर पड़ता है और अंत में उसका असर बाजारकीमत पर पड़ता है। इस प्रकार मांग और पूर्ति, उपयोगिता और उत्पादन व्यय, दोनों का प्रभाव वस्तु के मूल्य पर पड़ता है और दोनों के तारतम्य से ही वस्तु का मूल्य निश्चित होता है। एकाधिकार की दशा में वस्तु की पूर्ति पर एकाधिकारी का पूर्ण अधिकार रहता है। इसलिये उस हालत में मांग का प्रभाव मूल्य पर अधिक रहता है और एकाधिकारी खरीददारों

---

*Normal Price

से ऐसी कीमत वसूल करता है जिससे उसको सबसे अधिक लाभ हो।

बाजार—अब हम यह विचार करते हैं कि कीमत संबंधी उपर्युक्त नियम कहां कहां लागू होते हैं। ये नियम प्रत्येक वस्तु के लिए उसके बाजार भर में लागू होते हैं। आम तौर पर बाजार शब्द से हमें उस स्थान का बोध होता है जहां पर भिन्न भिन्न वस्तुओं के बेचने वालों की दूकान होती है। अर्थशास्त्र में बाजार* का दूसरा ही अर्थ लगाया जाता है। प्रत्येक वस्तु का बाजार भिन्न होता है। किसी वस्तु के बाजार से हमको उस सारे स्थान को समझना चाहिए जिसके अंदर खरीदार और बेचने वाले भली प्रकार आपस में भाव ताव कर सकते हैं अर्थात् जहां तक किसी वस्तु का एक ही मूल्य रहता है।

बाजार का विस्तार—पुराने समय में वस्तुओं के बाजार संकुचित होते थे। वस्तुओं की उत्पत्ति छोटी मात्रा में की जाती थी और उन्हें पास के शहरों में बेच देते थे। कभी कभी मेले लगते थे जिनमें दूर दूर के खरीदार और बेचने वाले आते थे। परन्तु रेल और अच्छी सड़कों के अभाव के कारण अधिक दूर के लोग इन मेलों में शामिल नहीं हो सकते थे। दूर दूर माल भेजने में अधिक समय और खर्च लगता था। रास्ते में लुट जाने का डर रहता था। फलतः उस समय आजकल के समान विस्तृत बाजार नहीं होते थे।

धीरे धीरे शक्तिशाली और सुव्यवस्थित केन्द्रीय सरकारों, यातायात के उत्तरोत्तर उत्तम तथा सस्ते साधनों, प्रेस तथा बैंक के प्रदुर्भाव व

---

*Market

रेडियो आदि के आविष्कार के कारण वस्तुओं का बाजार विस्तृत होने लगा।

बाजार-विस्तार के कारण—किसी वस्तु के बाजार का विस्तार कई बातों पर निर्भर रहता है। पहले तो उसकी मांग चारों ओर होनी चाहिए। उदाहरणार्थ सोना, चांदी, गेहूं, रूई, सिक्युरिटी की मांग संसार भर में होती है। ये वस्तुए बहुत दिनों तक खराब नहीं होतीं। इनके विपरीत साग भाजी और फल फूल बड़ी जल्दी नष्ट हो जाते हैं। फलतः इनका बाजार विस्तृत नहीं होता। हां, यह बात अवश्य है कि कभी कभी यातायात की विशेष सुलमता के कारण दो एक दिन ठहरने वाली वस्तुओं का बाजार मीलों पहुँच सकता है। इसका सब से अच्छा उदाहरण लीजिए। जब जाड़े में जी० आई० पी० रेलवे पन्द्रह दिन का झोने टिकट (Zone Ticket) चालू करती है तो भोपाल भेलसा आदि स्थानों के शरीफे वाले रोज शरीफे दिल्ली ले जाकर बेचते हैं। यातायात के उत्तमोत्तम साधन के कारण ही हमको काबुल के अंगूर, कन्धार के अनार और बम्बई के केलों का मजा घर बैठे मिल जाता है।

विस्तृत बाजार के लिए तीसरा आवश्यक गुण यह है कि वस्तु जगह तो घेरे कम और दाम हों अधिक, जो वस्तुएं अधिक जगह घेरेंगी उन्हें भेजने में रेलभाड़ा अधिक लगेगा और यह भी देखा जाता है कि अधिक जगह घेरने वाली वस्तुओं का मूल्य भी बहुत कम होता है जैसे कोयला। इसके विपरीत चांदी को ले लीजिए। जितनी जगह में चार पैसे का कोयला आवेगा उतनी जगह में सैकड़ों

रुपए की चांदी रक्खी जा सकती है। फलतः जितने खर्च में चार पैसे का कोयला चार छै मील जायगा उतने में उतनी ही चांदी कई सौ मील भेजी जा सकती है। अतः चांदी का बाजार कोयले से कहीं अधिक विस्तृत होगा।

दूरस्थ मनुष्य यहां की किसी वस्तु को तभी खरीद सकते हैं जब कि वे बिना देखे यह जान सकें कि वे किस प्रकार की वस्तु खरीद रहे हैं। अतएव जिन चीज़ों के नमूने बाहर भेजे जा सकते हैं अथवा जिनको विभिन्न भागों में (जैसे उत्तम, मध्यम, निकृष्ट आम अथवा लाल गेहूँ, सफ़ेद गेहूँ, लम्बे दाने का गेहूँ, छोटेदाने का गेहूँ आदि) बांट सकते हैं, उनका बाजार विस्तृत होगा।

अभ्यास के प्रश्न

(१) बाजार की परिभाषा लिखिए। स्थानीय तथा विस्तृत बाजार में क्या अंतर है, सोदाहरण समझाइए। बाजार-विस्तार के कारणों की विवेचना कीजिए। (१९३६, १९३२, १९२९)

(२) 'मांग और पूर्ति की समता' से आप क्या समझते हैं? स्थानीय बाजार में मांग और पूर्ति की समता किन बातों पर निर्भर है? (१९२९)

(३) प्रतियोगिता-मूलक बाजार में किस प्रकार एक भाव स्थिर होता है? चित्र द्वारा समझाइए। (१९३४)

(४) किन कारणों से बाजार का विस्तार होता है? इसका क्या फल होता है? भारतीय उदाहरण देकर समझाइए। (१९३४)

(५) "किसी वस्तु की कीमत सदैव उत्पादन व्यय से कम या अधिक नहीं रह सकती" उक्त कथन को समझाइए। (१९३३, १९२७, १९२९)

(६) "बाजार-मूल्य मामूली-कीमत के इर्द गिर्द बना रहता है तथा दीर्घकालीन दृष्टिकोण से दोनों की प्रगति बराबर होने की होती है।" विस्तार-पूर्वक समझाइए। (१९३५)

(७) मांग और पूर्ति की सारिणी और रेखाओं की परिभाषा दीजिए तथा चित्र सहित समझाइए। (१९३७, १९२६)

(८) "कीमत बढ़ने से मांग घट जाती है। मांग घट जाने से कीमत घट जाती है। समझ में नहीं आता कि तब फिर कीमत क्यों बदलती है"—इस कठिनाई को दूर कीजिए। (१९२९)

चौबीसवाँ अध्याय

—o:※:o—

व्यापार के साधन

पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि किसी पदार्थ का क्रय-विक्रय उस कीमत पर होता है, जिस पर उस वस्तु की माँग और पूर्ति बराबर होती है। कीमत के विषय में यह बात जान लेने पर, अब व्यापार का विवेचन सुगम है; पर इसके लिए पहले व्यापार के मार्ग और साधनों का विचार हो जाना चाहिए। अतः इस अध्याय में यही विषय लिया जाता है। सड़कों तथा रेल आदि के विषय में कई दृष्टियों से, तथा विस्तार-पूर्वक विचार हो सकता है। परन्तु हमें यहाँ विशेषतया आर्थिक दृष्टि से, और संक्षेप में ही विचार करना है।

व्यापार के मार्ग—व्यापार के तीन मार्ग हैं—स्थल-मार्ग, जल-मार्ग और वायु-मार्ग। स्थल-मार्ग में कच्ची-पक्की सड़कों पर ठेलों, पशुओं, मोटरों आदि से या लोहे की पटरी पर रेल से, माल ढोया जाता है। कहीं-कहीं जमीन के नीचे भी रेलें जाती हैं। जल-मार्ग पर नाव, स्टीमर और जहाज चलते हैं। गत महायुद्ध के समय जर्मनी ने पन-डुब्बियों द्वारा माल ढोने का रास्ता पानी के नीचे-नीचे भी निकाला था।

आकाश-मार्ग से काम थोड़े ही समय से लिया जाने लगा है; हवाई जहाजों द्वारा कहीं-कहीं थोड़ा-थोड़ा माल आता जाता है।

सड़कों की आवश्यकता और उन्नति—सड़कों की उपयोगिता सर्व-विदित है। ये किसानों की खेती की उपज को नजदीक की मंडी तथा रेलवे स्टेशन पर लाने में, और इस प्रकार उसके अधिक दाम प्राप्त कराने में सहायक हैं। उद्योग-धंधों के लिए दूर-दूर से कच्चा माल लाने, तथा तैयार माल को दूर-दूर के उपभोक्ताओं तक पहुँचाने का काम रेलें करती हैं; परन्तु सड़कों की सहायता के बिना, रेलों को भी ढोने के लिए, काफी माल नहीं मिल सकता। इस प्रकार सड़कों से उद्योग-धंधों की उन्नति और विस्तार को प्रोत्साहन मिलता है। भारतवर्ष में कुल मिलाकर लगभग ढाई लाख मील सड़कें हैं, जिनमें से पक्की सड़कें तो केवल पचास हजार मील ही हैं। सबसे अधिक प्रसिद्ध (पक्की) सड़क 'ग्रांड-ट्रंक-रोड' है, जो कलकत्ते से इलाहबाद और देहली होकर, पेशावर जाती है। यहाँ की सड़कों में से कुछ तो दूर तक चली गई हैं, परन्तु अनेक पास की ही बस्ती में जाकर खत्म हो जाती हैं। कुछ सड़कें पक्की हैं, और बारहों महीने खुली रहती हैं। कितनी ही सड़कें बरसात में बेकाम हो जाती हैं। कहीं तो बरसाती नदियों पर पुल हैं, और कहीं उन्हें बरसात में तो नाव से और खुश्की के दिनों में पैदल ही पार करना पड़ता है। मोटर तथा ताँगों के चलने योग्य सड़कें बहुत ही कम हैं।

गत वर्षों में मोटरों द्वारा माल और सवारियाँ लाने-लेजाने के काम में प्रगति होने से सड़कों की ओर सरकार अधिक ध्यान देने लगी

है। नवम्बर सन् १६२७ ई० में सरकार ने सड़क-सुधार कमेटी ('रोड-डिवेलपमेंट-कमेटी') नियुक्त की। इस कमेटी की सिफारिशों के आधार पर सन् १६२६ ई० के बजट में सरकार ने मोटर-स्पिरिट पर प्रति गैलन चार आने से छः आने तक कर बढ़ाया; और, इस कर से होनेवाली अधिक आय को सड़कों के काम में लगाने का निश्चय किया। सड़क-सुधार के विषय में विचार करने के लिए केंद्रीय सरकार प्रति वर्ष एक कान्फ्रेंस करती है। अब कई सड़कें प्रांतीय कर दी गई हैं, उनकी मरम्मत आदि का जो काम म्युनिसिपैलिटियों और जिला बोर्डों द्वारा, धनाभाव के कारण अच्छी तरह नहीं होता था, अब प्रांतीय सरकारें कर रही हैं। गाँवों की सड़कों की ओर ध्यान दिया जा रहा है। परन्तु देश का विस्तार देखते हुए, और गत कई शताब्दियों की प्रायः अवहेलना का विचार करते हुए कहना होगा कि अभी बहुत काम करने को पड़ा है, और जिस गति से काम हो रहा है, वह कदापि सन्तोषप्रद नहीं कही जा सकती है।

रेल—यातायात के साधनों में रेलों का स्थान प्रमुख है। इनके द्वारा भारतवर्ष के दूर-दूर के भागों में, पदार्थों का व्यापार होने लगा है, और भारतवर्ष का विदेशों से व्यापारिक संबंध बढ़ने में विलक्षण सहयोग मिला है। रेलों में हज़ारों मन माल इधर से उधर भेजा जाता है। यदि देश में एक जगह अकाल पड़ रहा हो, तो खाने के पदार्थ दूसरी जगह से, जहाँ वे अधिक हों, जल्दी ही लाए जा सकते हैं; और बहुत से आदमियों को भूखों मरने से बचाया जा सकता है। रेलों के कारण, पदार्थों का बाज़ार बढ़ जाने से, उत्पत्ति बड़ी मात्रा में होने

की अनुकूलता हो गई है। श्रमियों को अब जहाँ अधिक लाभदायक तथा रुचिकर काम मिलता है, वहाँ जाने की सुविधा बढ़ गई है।

भारतवर्ष में इस समय रेलवे लाइन लगभग पचास हज़ार मील है। अधिकतर रेलवे लाइनों की मालिक सरकार है; इनमें से कुछ का प्रबन्ध वह स्वयं करती है, शेष का प्रबन्ध विविध कम्पनियों के हाथ में है। अन्य रेलो में कुछ डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों या देशी राज्यों की हैं। स्वयं कम्पनियों की रेलें बहुत कम हैं। प्रबन्ध करनेवाली कम्पनियाँ, शर्तनामे के अनुसार, कुछ मुनाफ़ा पाती हैं। बाक़ी मुनाफ़ा सरकार को मिलता है।

रेलें चार तरह की हैं—(१) स्टैंडर्ड माप—अर्थात् साढ़े पाँच फुट चौड़ी, (२) मीटर माप की—अर्थात् ३·२८ फुट चौड़ी, (३) छोटे माप की—अर्थात् ढाई फुट चौड़ी, और, (४) छोटी लाइन—अर्थात् दो फुट चौड़ी। अधिकांश रेलवे लाइनें प्रथम दो प्रकार के ही माप की हैं। अधिक आमदरफ़्तवाले स्थानों में ये लाइनें भी दोहरी हैं, एक लाइन जाने के लिए, और दूसरी आने के लिए। इससे दोनों तरफ़ की गाड़ियाँ एक साथ ही आ-जा सकती हैं।

भारतवर्ष की रेलों की व्यवस्था में कई दोष हैं। उनमें से मुख्य-मुख्य का ही हम यहाँ उल्लेख करते हैं—

(१) रेलों में विदेशी पूंजी लगी हुई है, जिससे उसका सूद हर साल बाहर भेजना पड़ता है।

(२) बहुत-सी रेलों का प्रबन्ध विदेशी कम्पनियों के हाथों में होने के कारण, बहुत-सा सालाना मुनाफ़ा भी बाहर भेजना पड़ता है। उच्च पदों

अ फ ग़ा नि स्ता न
रा ज पू ता ना
कर्क रेखा
अ र ब सा ग र
है द रा बा द
सिकन्दराबाद
हैदराबाद
मै सू र
लकाद्वीप
मालद्वीप
कोलम्बो

भारतवर्ष - रेलें और मुख्य नगर
ति ब्ब त
भू टा न
बि हा र
और
उ डी सा
बं गा ल
की
खा ड़ी
ब्र ह्मा
स्या म
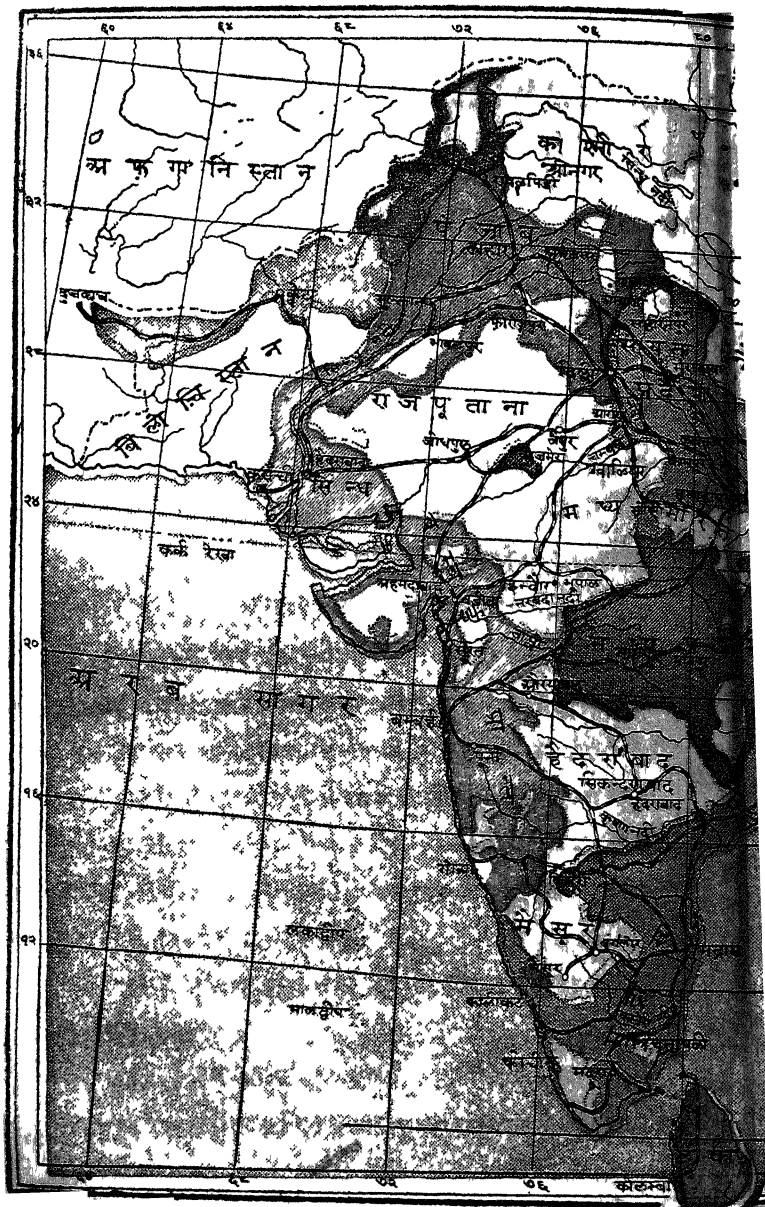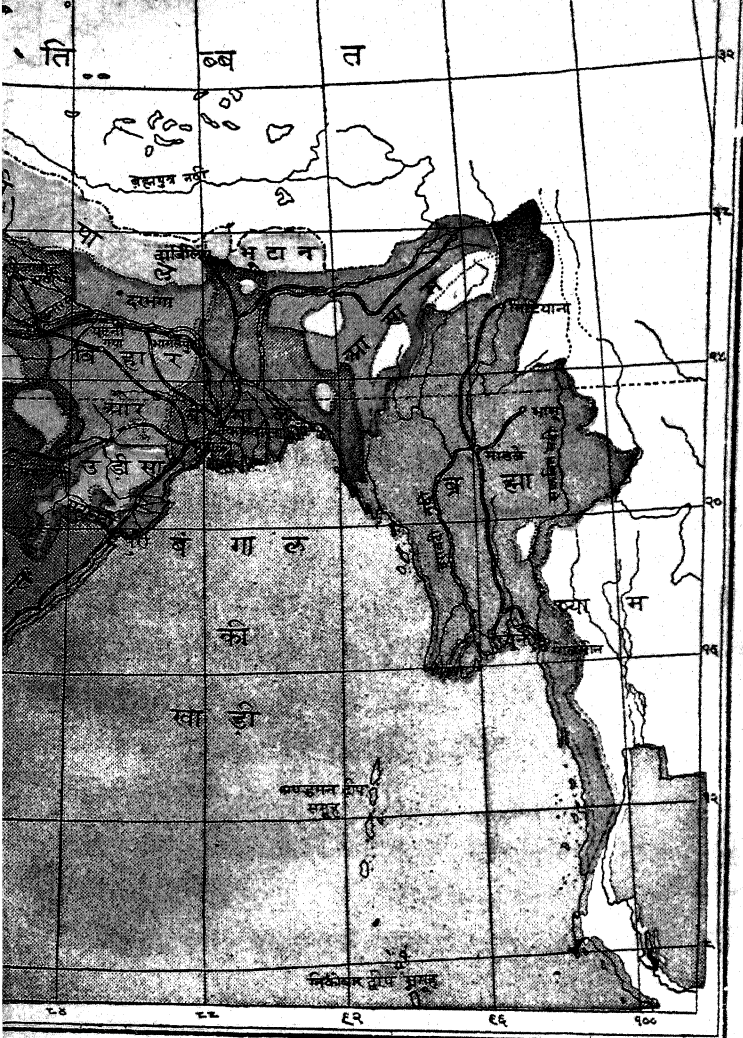
पर भारतीयों की नियुक्तियाँ बहुत कम होती हैं, रेलों के भारतीय-करण की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता।

(३) रेलवे-कम्पनियाँ देशी उद्योग-धंधों तथा व्यापार की उन्नति का विचार नहीं करतीं। वे बन्दरगाहों पर जानेवाले देश के कच्चे माल पर महसूल कम लेती हैं। यदि यहाँ के कच्चे माल को कोई बाहर न भेजकर देशी कारखानों में ले जाना चाहे तो ज़्यादा भाड़ा देना पड़ता है।

(४) लगभग ६६ फ़ी-सैकड़े यात्री तीसरे दर्जे में सफ़र करते हैं। उन्हीं से अधिक आय भी होती है। परन्तु विदेशी कंपनियाँ और सरकार उनके अपार कष्टों की काफ़ी पर्वा नहीं करतीं।

(५) जब रेलें खुलीं, तो बड़े-बड़े शहरों और व्यापार की मंडियों से होती हुई गईं। उस समय देश के भीतरी भागों का ध्यान नहीं रक्खा गया। सड़कों और नदियों के पुलों का सुधार नहीं हुआ। पीछे ब्रांच (शाखा) लाइनें खुलने लगीं। पर उनमें यथेष्ट वृद्धि नहीं हुई। इसलिए सब धंधे घने शहरों में ही इकट्ठे होते गए।

(६) रेलों की माप भिन्न भिन्न है। इसलिए जब माल को एक लाइन से उतारकर दूसरी लाइन पर लादना पड़ता है, तो किराए में व्यर्थ ही वृद्धि हो जाती है; साथ ही टूटने और चोरी जाने की जोखिम भी बढ़ जाती है।

सन् १६३५ ई० के विधान के अनुसार रेलवे विभाग का कार्य 'संघीय रेलवे अथारिटी' के सुपुर्द कर दिया गया है। इसके सात सदस्य होंगे। अब रेलों के प्रबन्ध और संचालन आदि में जनता के

प्रतिनिधियों का कुछ विशेष नियंत्रण न होगा; रेलवे-अथारिटी तथा गवर्नर-जनरल जैसा चाहेंगे, कर सकेंगे, यद्यपि रेलों में लगे हुए लगभग नौ सौ करोड़ रुपए पर दी जाने वाली ब्याज की रक़म को, जो प्रति वर्ष तीस-बत्तीस करोड़ रुपए होती है, भारतीय कर-दाता ही देते हैं।

मोटर—मोटरों द्वारा यात्रा ही नहीं होती, सामान भी ढोया जाता है। बहुत-से स्थानों में रेलें जारी नहीं हुई हैं। गाँवों की तो बात ही क्या, अनेक नगर और क़स्बे ऐसे हैं जहाँ रेल नहीं पहुँचती, और जो रेलवे स्टेशनों से पचास-पचास या सौ-सौ मील तक दूर हैं। ऐसे स्थानों में यदि सड़कें ठीक हों तो मोटर अच्छी तरह काम दे सकती है। रेल से दूर के बहुत-से स्थानों में डाक पहुँचाने का भी काम मोटर करती है। जहाँ रेल जाती है, वहाँ भी बहुधा आमदरफ़्त बढ़ जाने पर मोटरें खूब चलती हैं। प्रायः इनमें महसूल या किराए की दर रेल के बराबर ही रहती है।

मोटरों की सफलता गत वर्षों में इतनी अधिक हुई है कि सरकार को रेलों के विषय में चिंता हो चली है। कई स्थानों में मोटरों की प्रतियोगिता के कारण रेलवे कंपनियों को रेल का किराया कम करना पड़ा है, तथा मोटरों पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगाए गए हैं। इतनी प्रतिकूलताओं के होते हुए भी मोटरवाले कुछ कमाते ही हैं, जब कि रेलों को बहुधा घाटे का रोना रहता है। इसका रहस्य यह है कि मोटर-वाले मितव्ययिता से काम लेते हैं, और रेलों में विशेषतया उच्च पदों के लिए भारी वेतन और भत्ता आदि दिया जाता है, तथा अनेक प्रकार से, लापरवाही से खर्च किया जाता है। यदि कहीं मोटरों को उपर्युक्त

बाधाओं का सामना न करना पड़े, और सरकार इन्हें रेलों का प्रतिद्वंदी न समझ कर इन पर भी कृपा-दृष्टि रक्खे तो इनके कार्य में विलक्षण उन्नति हो।

नदियाँ और नहरें—स्थल-मार्ग की अपेक्षा, जल-मार्ग से माल लेजाने में बहुत-कम खर्च होता है। नदियाँ प्राकृतिक साधन हैं, उन्हें बनाना नहीं होता, साधारण व्यय से उन्हें व्यापार के लिए ठीक रक्खा जा सकता है। जल-मार्ग से माल लेजाने में शक्ति भी कम लगती है; बहाव की तरफ लेजाने में तो प्रायः कुछ भी शक्ति नहीं लगानी पड़ती। भारतवर्ष में जल-मार्ग का उपयोग अति प्राचीन समय से हो रहा है। अंगरेज़ों के शासन में इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। सरकारी संरक्षण और सहायता के अभाव, और रेलों की प्रतिस्पर्द्धा ने इस कार्य को प्रायः नष्ट कर दिया। इधर कुछ वर्षों से इस ओर ध्यान दिया जाने लगा है, पर अभी विशेष कार्य नहीं हुआ है। अस्तु। देश की, आर्थिक उन्नति के लिए, लाखों नाविकों को काम देने के लिए, और माल-ढुलाई के कार्य को विदेशी पूंजी के प्रभाव से मुक्त करने के लिए, इस कार्य के उद्धार की अत्यंत आवश्यकता है।

भारतवर्ष की नाव चलाने योग्य नदियों में सिंध, गंगा, और ब्रह्मपुत्र मुख्य हैं। इनमें मुहाने से लेकर सैकड़ों मील तक प्रायः बारहों महीने नावें चल सकती हैं। सिंध नदी की सहायक चनाब और सतलज में भी खासी दूर तक बारहों महीने नावें चलती हैं। हुगली, महानदी, गोदावरी और कृष्णा नदियों में भी डेल्टा के ऊपर कुछ दूर तक नावें

जा सकती हैं। वर्षा ऋतु में तो छोटी नदियों में भी नाव लेजाने की सुविधा रहती है। पूर्वी बंगाल में नावों के लिए सुभीता सबसे अधिक है; इस भाग में अधिकांश जूट और धान आदि नावों से ही ले जाया जाता है।

नहरें यहाँ विशेषतया आबपाशी के लिए बनाई गई हैं। इनके द्वारा व्यापार बहुत कम होता है। ये बड़े-बड़े शहरों और मुख्य-मुख्य मंडियों से होकर नहीं गुज़रतीं, और न इनका सम्बन्ध समुद्र से ही है। बहुधा नहरों के चक्करदार रास्ते से माल ढोने में रेल की अपेक्षा समय और खर्च भी अधिक पड़ता है। कुछ नहरें केवल सामान ढोने के लिए ही बनाई गई हैं; परंतु उनकी आमदनी से उनका खर्च और पूंजी का केवल सूद ही निकलता है। नहरों को सामान ढोने में उड़ीसा, सिंध, मद्रास और दक्षिण-बङ्गाल के नदियों के मुहानेवाले स्थानों में ही सफलता मिल सकती है, जहाँ रेलों के लिए पुल बनाना बहुत कठिन, एवं बड़े खर्च का काम है।

जहाज़—अति प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भारतवर्ष अपने ही जहाज़ों तथा जहाज़ चलानेवालों के बल पर तटीय तथा विदेशी व्यापार करता था। पश्चात् यह कार्य क्रमशः बन्द हो गया। अब भारतवर्ष का तटीय तथा सामुद्रिक व्यापार विदेशी जहाज़ों द्वारा होता है, इससे हमें करोड़ों रुपया उन जहाज़ों को देना होता है। यहाँ अधिकतर माल अंगरेज़ी जहाज़ों से आता जाता है, शेष विशेषतया जापान, जर्मनी, अमरीका, इटली आदि देशों के जहाज़ों से।

इस परिस्थिति में सुधार करने की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता। बहुत आंदोलन होने के बाद सरकार ने सन् १९२३ ई० में 'इंडियन-मरकेंटाइल-मेरीन-कमेटी' की नियुक्ति की थी, जिसका उद्देश्य यह जाँच करना था कि भारतीय जहाज चलाने, तथा जहाज बनाने के काम में किन-किन उपायों से उन्नति हो सकती है। इस कमेटी की सिफारिश के अनुसार डफरिन-नामक बेड़े पर जहाजों के कर्मचारियों तथा ऐंजिनियरों की शिक्षा की व्यवस्था की गई है।

यहाँ कुछ स्वदेशी जहाज़-कंपनियाँ अपने जहाज़ चलाती हैं, परंतु उन्हें विदेशी कम्पनियों की भीषण प्रतियोगिता सहनी पड़ती है। सन् १९२८ ई० में श्री० हाजी ने भारतीय व्यवस्थापक सभा में इस विषय का प्रस्ताव उपस्थित किया था कि भारत का तटीय व्यापार भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित किया जाय, यदि कोई मिश्रित पूँजी की कम्पनी जहाज चलाए तो उसका संचालन प्रबन्ध और व्यवस्था अधिकांश में भारतीयों द्वारा हो। सरकार को इस प्रस्ताव में जातीय भेद-भाव-वृद्धि की गंध प्रतीत हुई, और उसने इसे टाल ही दिया।

बन्दरगाह—भारतवर्ष के आधुनिक व्यापार में बन्दरगाहों का बड़ा महत्व है। अब तो हमारे व्यापार की दिशा ही बन्दरगाहों की ओर है। वहाँ पहुँचने वाले माल का परिमाण खूब बढ़ गया है। बन्दरगाहों में माल दो उद्देश्यों से जाता है, वहाँ से जहाजों द्वारा विदेशों में जाना, और दूसरे बन्दरगाहों में जाना। इसके अतिरिक्त, उसका एक कारण रेलवे महसूल सम्बन्धी वर्तमान नीति भी है।

जैसा कि पहले कहा गया है, यहाँ रेलें बन्दरगाहों पर जानेवाले कच्चे माल पर जो महसूल लेती हैं, वह उस महसूल की अपेक्षा कम होता है, जो उस बन्दरगाह के निकटवर्ती किसी दूसरे स्थान के लिए भेजा जाय। इसलिए जिस व्यापारी को किसी ऐसे कारखाने के लिए कच्चा माल भेजना हो जो किसी बन्दरगाह के निकट हो, तो उसे पहले बन्दरगाह पर माल भेजने में किफायत रहती है। अस्तु, विविध कारणों से आधुनिक काल में बन्दरगाहों पर माल बहुत भेजा जाता है। पुनः हमारे यहाँ विदेशी माल की खपत गत दशाब्दियों में बहुत बढ़ी है, यह माल अन्य देशों से हमारे बन्दरगाहों पर ही आकर उतरता है। माल के इस आने और जाने की वृद्धि ने बन्दरगाहों को विशेष महत्व प्रदान कर दिया है। बड़े-बड़े जहाजों के प्रचलित होजाने के कारण प्राचीन काल के बहुत-से बन्दरगाह अब व्यापार के लिए उपयोगी नहीं रहे हैं। इसके विपरीत, कुछ विशेष बन्दरगाहों की विलक्षण उन्नति हुई है। भारत सरकार की, विदेशी व्यापार में, विशेषतया इंगलैण्ड से होनेवाले व्यापार में खूब दिलचस्पी है, इसलिए वह बन्दरगाहों की उन्नति में काफी ध्यान देती है।

हवाई जहाज—पिछली शताब्दी तक यातायात तथा आमदरफ़्त के प्रायः दो ही मार्ग थे, स्थल-मार्ग और जल-मार्ग। अब वायु-मार्ग का भी उपयोग होने लगा है और क्रमशः बढ़ता जा रहा है। भारतवर्ष में इसकी वृद्धि की बहुत संभावना है, कारण, वायु-मार्ग की दृष्टि से इस देश की प्राकृतिक स्थिति बहुत अनुकूल है। उस समय को छोड़ कर, जबकि जल बर्साने वाली हवाएँ चलती हैं, यहाँ की जल-वायु
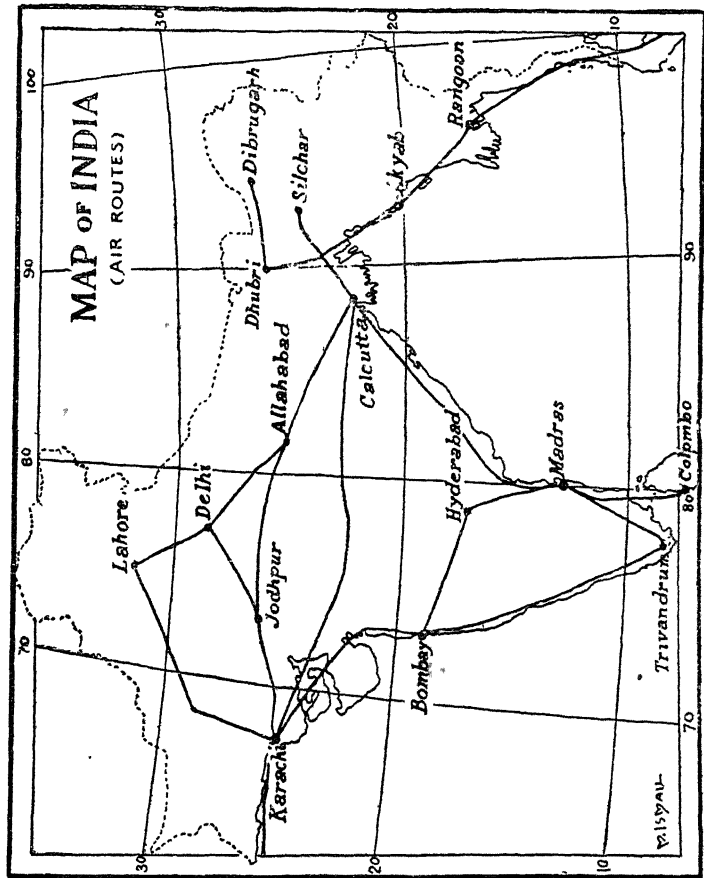
भारत में हवाई जहाज़ के मार्ग

आदर्श है। हवाई जहाज और उनके उतरने के स्थान तथा ठहरने के स्टेशन, और प्रकाश-भवन आदि बनाने में रेलवे लाइन और रेलवे स्टेशन आदि की अपेक्षा कम खर्च होता है। सोने और चाँदी का माल ढोने के लिए हवाई जहाज बहुत ही उपयुक्त हैं। उन पर बहुत कम लोगो के हाथ लगते हैं, इसलिए चोरी का डर कम रहता है। इसी से हवाई डाक में ऐसी वस्तुए बहुत भेजी जाती हैं।

भारतवर्ष के बड़े-बड़े नगर हवाई जहाज द्वारा जोड़े जा चुके हैं, बीच में स्थान-स्थान पर हवाई जहाजों के उतरने के लिए जगह तैयार की जा रही है। हवाई जहाज से यात्रा करने या डाक भेजने में समय की भी बहुत बचत होती है।

डाक और तार—डाक और तार से भी व्यापार की वृद्धि होती है। यह कार्य सरकार द्वारा संचालित होता है। डाक और तार विभाग अपने काम के लिए हवाई जहाजों, रेलों, मोटरों, और जहाजों का उपयोग करता है। भारत भर में इस विभाग का सन् ३६-३७ ई० का काम नीचे लिखे अंकों से मालूम हो जायगा—

डाक में भेजी गई कुल वस्तुओं की संख्या	१,२०,०० लाख
रजिस्टर्ड वस्तुओं की संख्या	४,३५, ”
बीमे द्वारा भेजी गई वस्तुओं की संख्या	३०, ”
बीमों का मूल्य	रु० ६४, ५६, ”
डाक महसूल मिला	रु० ६, ७८, ”
मनीआर्डरों की संख्या	४, ३४, ”
मनीआर्डरों का मूल्य	रु० ८१, ७०, ”

पोस्टल आर्डर बिके, उनका मूल्य	रु०	१४, लाख
वी० पी० द्वारा संग्रह किया गया	रु०	१८, ७० ”

कुल डाकखानों की संख्या लगभग २४ हजार है। उक्त वर्ष के अंत में मेल लाइन (डाक जाने का मार्ग) १ लाख ७० हजार मील थी, और इसमें १ लाख ५ हज़ार आदमी काम करते थे। वर्ष के अंत में तार की लाइन लगभग १,०८,६५६ मील तक थी। तार के कार्य में अधिक विस्तार किया गया। इस साल देश तथा विदेशों में पौने दो करोड़ तार भेजे गए।

बेतार का तार और टेलीफोन—बेतार के तार द्वारा एक नगर से दूसरे नगर में, तथा अन्य देशों के प्रधान नगरों में समाचार बहुत जल्द आ जा सकता है। समुद्र-पार के स्थानों में, अथवा समुद्र में एक जहाज़ से दूसरे जहाज पर समाचार भेजने के लिए यही साधन काम में लाया जाता है। वर्मा-रहित भारतवर्ष में बेतार के तार के अब तक २८ आफ़िस खुल चुके हैं।

रेडियो द्वारा समाचार भेजने की ऐसी व्यवस्था होगई है कि वक्ता का भाषण या गाना-बजाना हजारों मील दूर के आदमी अपने-अपने घरों में इस यंत्र के पास बैठ कर अच्छी तरह सुन सकते हैं। रेडियो-कंपनियाँ इसके द्वारा चीज़ों का विज्ञापन करने लगी हैं, उदाहरणवत् कुछ स्थानों में नई-नई पुस्तकों का परिचय दिया जाने लगा है।

टेलीफोन का अधिकतर संबंध एक ही देश के अन्दर भिन्न-भिन्न स्थानों से या कहीं-कहीं एक ही नगर के भीतर रहता है। बड़े-बड़े शहरों

में एक जगह से दूसरी जगह जाने-आने में काफ़ी समय लगता है; टेलीफोन के द्वारा व्यवसायी अपनी-अपनी दुकान या दफ़्तर में बैठे हुए कई-कई मिनट तक बातचीत कर सकते हैं। भारतवर्ष में डाक और तार विभाग द्वारा स्थापित टेलीफ़ोन-एक्सचेंज कार्यालय ४४२ हैं, अर्थात् कोई आदमी टेलीफोन के एक कार्यालय से इतने स्थानों के आदमियों से बातचीत कर सकता है।

व्यापार के साधनों की उन्नति और उस का प्रभाव— माल ढोने के साधनों की उन्नति के कारण, देश के भीतर एक जगह से दूसरी जगह तथा बन्दरगाहों से माल का आना-जाना बढ़ा है। रेलों ने नई सड़कों की मांग बढ़ा दी है, व्यापार के पुराने रास्तों को बदल दिया है, और प्राचीन मंडियों की अवनति करके नए व्यापार-केन्द्र खोल दिए हैं, जो रेलवे लाइनों के किनारे बसे हुए हैं। रेलें और माल ढोने वाली मोटरें पुराने ढंग की बैल-गाड़ियों तथा लद्दू जानवारों का काम कर रही हैं। किंतु देश के भीतरी भागों में अभी उनकी पूरी पहुँच नहीं हुई है। सामान-ढुलाई का खर्च कम हो गया है। रेलों और जहाज़ों की, माल ढोने की दर क्रमशः कम हो जाने के कारण भारतवर्ष के देशी और विदेशी व्यापार की वृद्धि में सहायता मिली है।

परन्तु रेलों के कारण ग्रामीण उद्योग धंधे मारे गए। मशीन द्वारा बने माल के आगे गांव की बनी वस्तुएं नहीं ठहर सकीं। फलतः हमारे ग्रामीण उद्योग धंधे मिट्टी में मिल गए। आज कल सरकार फिर इन उद्योग धंधों की ओर ध्यान देने लगी है।

मोटर और रेल के प्रचार के कारण किसान अब केवल अपने खाने के लिए अपितु बेचने के लिए अनाज पैदा करने लगा। पहले खाने पीने की वस्तुएं ही अधिकतर उपजाई जाती थीं परन्तु अब बाजार में बिकने वाली उपज तैयार की जाती है। व्यापार के उत्तमोत्तम साधनों के प्रचार की वजह से गेहूं, चावल, रुई, जूट आदि निर्यात पदार्थों की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। अब बन्दरगाहों की उन्नति हो रही है क्योंकि देश का माल यहीं आकर विदेशों को जाता है तथा विदेशी माल भी यहीं आने पर देश भर में फैलता है। अस्तु, अभी व्यापार के विविध साधनों की उन्नति की बहुत आवश्यकता है।

अभ्यास के प्रश्न

(१) व्यापार के उत्तमोत्तम साधनों का भारत के ग्रामीण उद्योग-धन्धों और कृषि पर क्या प्रभाव पड़ रहा है? विस्तार-पूर्वक समझाइए। (१९३७)

(२) भारतवर्ष में किन किन साधनों से व्यापार किया जाता है, संक्षेप में समझाइए। उनकी वृद्धि से देश को क्या लाभ पहुँचा है? (१९३३, १९२६)

(३) भारतवर्ष की रेलों की व्यवस्था में कौन कौन से दोष हैं? उनको किस प्रकार दूर किया जा सकता है?

(४) रेल-मोटर की प्रतियोगिता कहां तक उचित है? मोटरों को संरक्षण की क्यों और कहां तक आवश्यकता है?

(५) "भारत में जलमार्ग से बहुत कम व्यापार किया जाता है। फलतः देश को हानि ही हानि होती है।" उक्त कथन की विवेचना कीजिए।

(६) "व्यापार के लिए डाक, तार व टेलीफोन उतने ही आवश्यक हैं जितना रेल-मोटर और जहाज।" इस पर आपकी क्या राय है? भारत में व्यापार की दृष्टि से दोनों की क्या स्थिति है? भली भांति समझाइए।

(७) हवाई जहाजों द्वारा व्यापार में वृद्धि किस प्रकार की जा सकती है?

पच्चीसवाँ अध्याय

—०:※:०—

देशी और विदेशी व्यापार

व्यापार—यह लिखा जा चुका है कि आज-कल अधिकांश विनिमय-कार्य रुपये-पैसे द्वारा होता है। हम अपनी चीज़ बेचकर रुपया लेते हैं, और रुपये से हम अपनी आवश्यकता की चीज़ें खरीदते हैं। इस खरीद-फरोख्त या क्रय-विक्रय के कार्य को व्यापार कहते हैं। व्यापार दो तरह का होता है—देशी और विदेशी। देशी व्यापार देश की सीमा के भीतर का व्यापार है। विदेश से आनेवाले और विदेश को जानेवाले माल के व्यापार को विदेशी व्यापार कहते हैं।

देशी व्यापार के भेद—पहले देशी व्यापार का वर्णन किया जाता है। इसके दो भेद मुख्य हैं:—(१) आभ्यंतरिक या भीतरी व्यापार, और (२) तटीय व्यापार जो समुद्र के तटवर्ती स्थानों में होता है। इनके सम्बन्ध में विस्तार से आगे लिखा जायगा।

आभ्यंतरिक व्यापार—इस व्यापार में निम्न-लिखित कार्यों का समावेश होता है :—(क) देश में उत्पन्न या तैयार किए गए पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा कर बेचना, या उन्हें विदेशों में बेचने के लिए बड़े-बड़े बन्दरगाहों पर भेजना। (ख) विदेशों से

देश के बन्दरगाहों पर आए हुए माल को देश के भीतरी भागों में पहुँचा कर बेचना।

ज्यों ज्यों आमोदरफ़ और यातायात के साधनों की उन्नति होती जाती है, भारतवर्ष का भीतरी व्यापार बढ़ता जाता है। लोगों की आर्थिक अवस्था सुधारने पर इसमें और भी अधिक प्रगति होने की आशा है। भीतरी व्यापार के महत्व को बहुधा ठीक-ठीक ध्यान में नहीं लाया जाता। विदेशों को होनेवाली निर्यात के बड़े-बड़े अंक भी भारतवर्ष की कुल उत्पत्ति का बहुत थोड़ा-सा ही भाग होते हैं। एवं, यह ठीक है कि निर्यात करने के बाद जो शेष रहता है, वह सब हमारे भीतरी व्यापार का द्योतक नहीं होता, कारण कि उसमें से कुछ हिस्से का तो उत्पादक ही उपभोग कर लेते हैं, वह विक्रयार्थ बाजार में नहीं जाता। व्यापार उन्हीं पदार्थों का होता है, जिनकी उत्पत्ति में से उत्पादकों के उपभोग के बाद कुछ परिमाण शेष रहने की संभावना हो। वर्तमान दशा में यहाँ बहुत से किसान आदि उत्पादक, निर्धनता के कारण, उत्पन्न पदार्थ का कुछ ऐसा अंश भी बेचने के लिए बाध्य होते हैं, जिसकी स्वयं उन्हें ही आवश्यकता होती है।

भारतवर्ष का भीतरी व्यापार विदेशी व्यापार की अपेक्षा कई गुना है। तथापि देश की विशाल जन-संख्या को देखते हुए, अन्य देशों की तुलना में, यह व्यापार अत्यंत कम है। इसका कारण कुछ तो अधिकाँश लोगों का सादा रहन-सहन है, जिससे वे अपने निकट की वस्तुओं से ही अपना निर्वाह कर लेते हैं, और कुछ कारण यह भी है

कि जनता में इतनी आर्थिक शक्ति ही नहीं कि वे बहुत से पदार्थों को उपभोग के लिए खरीद सकें।

तटीय व्यापार—तटीय व्यापार में वह सब व्यापार सम्मिलित होता है, जो समुद्र-तट के एक स्थान का, दूसरे स्थान से होता है; चाहे वह व्यापार स्वदेशी वस्तुओं का हो या विदेशी वस्तुओं का। इस प्रकार इस व्यापार के अन्तर्गत ऐसे पदार्थों के व्यापार का भी समावेश होता है जिनके क्रय-विक्रय का देश के भीतरी भागों से कुछ सम्बन्ध न हो। परन्तु ऐसे व्यापार का परिमाण थोड़ा ही होता है। अतः तटीय व्यापार अधिकतर देशी व्यापार का ही भाग माना जाता है। भारतवर्ष के तटीय व्यापार का बहुधा ६० प्रतिशत से अधिक भाग केवल चार बड़े-बड़े बन्दरगाहों से होता है। सबसे अधिक व्यापार कलकत्ते से होता है, उसका पृष्ठ-प्रदेश बहुत धनी और उपजाऊ है। कलकत्ते के बाद प्रायः बम्बई, कराची, और मदरास का नम्बर है। शेष व्यापार छोटे-छोटे कई बन्दरगाहों में विभक्त है; इनमें चटगांव प्रसिद्ध है। कुल तटीय व्यापार प्रतिवर्ष लगभग दो सौ करोड़ रुपये के माल का होता है। यदि भारतवर्ष का स्वदेशी व्यापारी बेड़ा हो, और उसे सरकार द्वारा यथेष्ट संरक्षण मिले तो यह व्यापार बहुत बढ़ सकता है।

व्यापार की बाधाएँ; संगठन की कमी—कुछ वर्षों से व्यापार का परिमाण बढ़ रहा है; यदि जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी होती तो व्यापार की वृद्धि और भी अधिक होती। अस्तु, हमारे व्यापार की प्रमुख संचालक बड़ी-बड़ी एजंसी-कम्पनियाँ हैं, जो अधिकांश में

विदेशी हैं। इन कम्पनियों के नीचे का व्यापार प्रायः भारतवासियों के ही हाथ में है। इस प्रकार के व्यापार में मारवाड़ियों ने बड़ा भाग लिया है। इनके अतिरिक्त बम्बई में पारसियों, भाटियों, बोहरों, मेमनों और खोजा लोगों ने, पंजाब में खत्रियों और मुसलमानों ने, बिहार और संयुक्त-प्रान्त में बनियों (वैश्यों) ने, बंगाल में मारवाड़ियों तथा मदरास में चेट्टी कोमाइटियों ने बड़ी प्रवीणता दिखलाई है।

अपने हितों और स्वार्थों की रक्षा के लिए व्यापारियों को भी संगठित होने की आवश्यकता है। योरपियन व्यापारियों ने संगठन का महत्व जानकर अपनी संस्थाएँ—चेंबर-आफ्-कामर्स और ट्रेड-एसोसिएशन—क़ायम कर रक्खी हैं। भारतीय व्यापारियों ने भी जहाँ-तहाँ अपनी संस्थाएँ स्थापित की हैं; परन्तु उनमें समुचित शक्ति नहीं है। रेलवे-कंपनियों तथा सरकार पर उनका यथेष्ट प्रभाव नहीं पड़ता। इसका एक कारण यह है कि भारतीय व्यापारियों में एकता नहीं, अनेक व्यापारी परस्पर में ईर्षा और अनुचित प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। वे उधार देकर, माल का दाम गिराकर, या ग्राहकों को बहकाकर, जैसे-भी-बने अपना माल बेचना, नफा कमाना और दूसरे व्यापारियों को नीचा दिखाना चाहते हैं। ये सब बातें हमारे व्यापार की उन्नति में बड़ी बाधक हैं।

तौल-माप और सिक्कों की विभिन्नता—हमारे अंतरप्रांतीय व्यापार की वृद्धि में एक बाधा तौल-माप और सिक्कों की विभिन्नता है। गत वर्षों में इनकी एकता कुछ बढ़ी है, परन्तु अभी यथेष्ट सुधार नहीं हो पाया है। अधिकतर व्यापार में अस्सी तोले का सेर माना जाता है, तो अनेक स्थानों में कम या ज्यादह वज़न के सेर का भी प्रचार है।

मध्य-प्रांत आदि में दाल चावल आदि माप कर दिए जाते हैं, इससे जब वहां कोई नया खरीददार पहुँचता है तो आरंभ में उसे हिसाब समझने में कठिनाई होती है। कपड़े आदि के माप में सोलह गिरह या छत्तीस इंच के गज़ का आम चलन है, तथापि कितनी ही जगह भिन्न-भिन्न माप के कच्चे गज़ का व्यवहार है। सिक्कों में ब्रिटिश भारत का रुपया यहाँ सर्वत्र कानूनन ग्राह्य है, किंतु कई देशी राज्यों में उनका अलग-अलग मूल्य का रुपया चलता है। व्यापार-क्षेत्र में ऐसी अनेकता चित्य है। राष्ट्र-हितैषियों को इस ओर समुचित ध्यान देना चाहिए, और अपनी-अपनी व्यक्तिगत भावनाओं को कुछ अंश में त्याग कर भी व्यापारिक एकता और राष्ट्र निर्माण करने में योग देना चाहिए।

क्रय-विक्रय संबंधी-असुविधाएँ—भारतीय व्यापार की एक प्रधान समस्या क्रय-विक्रय की जटिलता है। पहले कहा जा चुका है कि यहाँ अधिकतर किसान अशिक्षित और निर्धन हैं। वे क्रय विक्रय संबंधी ज्ञान से वंचित होते हैं, और फल-स्वरूप उन्हें दोनों ओर से बड़ी हानि सहनी पड़ती है। पहले क्रय का विचार करें। किसान को बीज आदि खरीदना होता है, उसे अपने गाँव से बाहर का भाव मालूम नहीं होता और मालूम भी हो तो चूंकि उसे माल थोड़े परिमाण में खरीदना होता है, इस लिए किसी दूरवर्ती स्थान में जाकर उसे लाना कठिन होता है। अनेक दशाओं में तो उसके पास नकद दाम ही नहीं होते, उसे अपनी आवश्यकता की वस्तु उधार मोल लेनी होती है। अस्तु, गांव का महाजन जिस भाव से उसे देता है, वह ले लेता है।

इसी प्रकार बेचने की बात है। बहुधा किसान को अपनी फसल का माल गाँववाले महाजन को ही बेचना होता है, जिसका वह प्रायः ऋणी रहता है। अधिकतर किसान को न बाहर की मंडियों का भाव मालूम होता है, और न उन्हें बाहर जाकर बेचने का सुभीता है; फलस्वरूप उन्हें अपने माल का जो कुछ मूल्य मिलता है, उसी में संतोष करना होता है। कुछ थोड़े से किसान ऐसे होते हैं जिन्हें अधिक पैदावार बेचनी होती है, ये पास के किसी कस्बे की मंडी में जाकर बेचते हैं। यहाँ उन्हें कई प्रकार के शुल्क आदि देने होते हैं। चुंगी (म्युनिसिपल टैक्स) के अतिरिक्त, मंडी में गाड़ी ठहराने का शुल्क, दलाल की दलाली, माल की तुलाई, तथा गोशाला, मन्दिर, प्याऊ आदि न जाने उनसे क्या-क्या लिया जाता है। प्रथम तो बेचारे किसान को यही निश्चय नहीं होता कि उसका माल उचित भाव से बिक रहा है, और उसे ठीक ठीक दाम मिल रहे हैं; फिर, जब दाम मिलने लगते हैं तो उपर्युक्त विविध शुल्क आदि में उसकी खासी रकम निकल जाती है।

क्रय-विक्रय-सम्बन्धी उपर्युक्त हानि को दूर करने का उपाय यह है कि स्थान-स्थान पर क्रय-विक्रय की सहकारी समितियाँ स्थापित की जायँ। समिति के सदस्य को जिस और जितने माल की आवश्यकता होती है, उसकी सूचना वह समिति को देता है। समिति बाजार के उतार-चढ़ाव का ध्यान रखते हुए इकट्ठा माल थोक भाव से खरीद लेती है और साधारण कमीशन लेकर अपने सदस्यों को, उनकी आवश्यकतानुसार, दे देती है। इससे सदस्यों को बहुत किफायत रहती है। यह तो क्रय-

सम्बन्धी बात हुई। इसी प्रकार, समिति अपने सदस्यों का माल बेचने का उचित प्रबन्ध कर सकती है; वह बाजार-सम्बन्धी आवश्यक जानकारी प्राप्त करके माल को अंतिम खरीददार के हाथ बेचने का प्रयत्न कर सकती है, जिससे बीच के कई-एक दलालों की दलाली, तथा अन्य नाना प्रकार के शुल्क आदि से सहज ही छुटकारा होकर किसानों को अधिक-से अधिक दाम मिल सकता है।

पदार्थों का भाव-ताव करने के विषय में—हमारे यहाँ प्रायः पदार्थों के दाम निश्चित नहीं होते; दुकानदार उसके अधिक-से-अधिक दाम माँगता है, और ग्राहक उसके कम-से-कम दाम लगाता है। बहुत देर तक वाद-विवाद और हाँ-ना के बाद उक्त दोनों दामों के बीच के किसी दाम पर सौदा तय होता है। यह हमारे दैनिक जीवन की बात बन गई है, और प्रायः हम इसे दोष नहीं मानते। पाठक तनिक विचार करें कि इस पद्धति में कितना समय और शक्ति नष्ट होती है। बाजार से सौदा लाना कितना कठिन होगया है। भोले-भाले आदमियों की तो बात ही क्या, अच्छे अच्छे समझदार आदमी भी कभी-कभी खूब ठगे जाते हैं। इस सम्बन्ध में हमारा मत है कि वस्तुओं के दाम निर्धारित रहने चाहिए। प्रत्येक वस्तु के निश्चित दाम हों, और जिन वस्तुओं के दाम उन पर लिखे जाने सम्भव हो, उन पर लिखे रहें। स्मरण रहे कि वस्तुओं को निर्धारित दाम पर बेचने में, अथवा गरीबों के साथ उपर्युक्त प्रकार की रियायत करने में यह बात न होनी चाहिए कि प्रत्येक चीज के मन-माने ड्योढ़े-दूने दाम रख दिए जायँ। कीमत निर्धारित करने में मुनाफा साधारण ही जोड़ा जाना चाहिए।

माल का विज्ञापन—विज्ञापन आधुनिक व्यापार की जान है। किसी का माल कितना ही अच्छा क्यों न हो, जब तक दूसरे आदमियों को उसकी जानकारी न हो, वे उसे कैसे मँगाएँ! हमारे यहाँ विज्ञापन का प्रचार क्रमशः बढ़ रहा है। उसी का यह प्रताप है कि सुख संचारक कम्पनी बम्बई से घड़ियाँ मथुरा मँगाकर, बम्बई के निकटवर्ती स्थानों तक के ग्राहकों के हाथ सफलता-पूर्वक बेच रही है। डोंगरे का बालामृत, पंडित ठाकुरदत्तजी की अमृतधारा, बाबू हरिदास की 'चिकित्सा चन्द्रोदय' पुस्तक आदि का नाम आज-दिन नगर-नगर ही नहीं, गाँवों तक में प्रसिद्ध है। यद्यपि अभी यहाँ विज्ञापनबाजी बढ़ने की बहुत गुंजायश है, गत वर्षों में इसकी खासी वृद्धि हुई है; बहुत से व्यापारी इस मद्द में काफी खर्च करते हैं।

हमारे अधिकतर अखबार विशेषतया विज्ञापनों की आमदनी के ही भरोसे चल रहे हैं। इससे विज्ञापन और ग्राहकों के अतिरिक्त समाचार-पत्रों के प्रकाशकों और पाठकों को भी लाभ है; उन्हें साधारण मूल्य में काफी पाठ्य सामग्री मिल जाती है। परन्तु इसका दूसरा पहलू भी है। कितने ही व्यापारी अपनी चीज का विज्ञापन देने में झूठ-सच का विचार नहीं करते। अपनी चीज के गुणों का खूब, बढ़-चढ़कर बखान करते हैं। उसमें बहुधा नब्बे फी सदी तक झूठ होता है; हाँ, भाषा आकर्षक और लच्छेदार होती है। ग्राहक झूठे प्रलोभनों में फँस जाते हैं। उनके द्रव्य की हानि होती है। इसका परिणाम यह होता है कि अनेक आदमियों का विज्ञापनों पर विश्वास नहीं होता। वे विज्ञापनों को पढ़ते तक नहीं। अस्तु, यहाँ विज्ञापन-वृद्धि की आवश्यकता है, पर विज्ञापन का

अर्थ झूठा प्रचार; और उसका उद्देश्य जैसे भी बने, लोगों के पैसे ठगना, नहीं होना चाहिए।

व्यापारिक सफलता और ईमानदारी—हमने इस परिच्छेद में व्यापार की विविध बाधाओं के सम्बन्ध में लिखा है; हम व्यापार की बहुत उन्नति और वृद्धि चाहते हैं। परन्तु क्या व्यापारिक सफलता के लिए ईमानदारी आवश्यक नहीं है! आज-कल खाने-पीने के पदार्थों में हानिकारक मिलावट रहती है। व्यापारी अधिक मुनाफा पाने के लिए ग्राहकों को तरह तरह से धोखा देते हैं। खराब तथा पुरानी चीज को अच्छी और नई कहना तो साधारण बात है। दी जानेवाली चीज को कम तोलना और ली जानेवाली को अधिक, यह भी व्यापार-कुशलता का लक्षण माना जाता है। हाथ के बुने साढ़े ग्यारह या पौने बारह गज के थान को बारह गज कहकर बेचा जाता है। माल ऊपर कुछ और रहता है, तथा भीतर कुछ-और; संख्या में कुछ कमी करदी, या बीच में कुछ चीजें टूटी-फूटी या खराब रख दी जाती हैं। क्या यह व्यापारिक सफलता है?

इन बातों से क्षणिक लाभ भले ही प्रतीत होता हो, अंततः सफलता वही है, जिसका आधार छल-कपट न होकर ईमानदारी और शुद्ध व्यवहार हो। फिर यदि बेईमानी से व्यापार करके किसी ने कुछ द्रव्य जोड़ भी लिया तो कौन विवेकशील व्यक्ति इसे अभिनंदनीय कहेगा! व्यापार वही किया जाना चाहिए, जिससे हमारा, देश का तथा मानव समाज का हित हो।

अभ्यास के प्रश्न

(१) "तौल-माप और सिक्कों की एकता की दृष्टि से भारत में व्यापार-वृद्धि बड़ी कठिन हैं" विवेचना-पूर्वक समझाइए।

(२) देशी व्यापार-सम्बन्धी बाधाओं का संक्षेप में वर्णन कीजिए। इस दृष्टि से भारत की क्या स्थिति है तथा उसमें कैसे उन्नति की जा सकती है।

(३) "भारत के तटीय व्यापार में तभी उन्नति हो सकती है जब स्वदेशी व्यापारी बेड़ा हो" उक्त कथन के बारे में आपकी क्या राय है?

(४) किसानों को होने वाली क्रय-विक्रय सम्बन्धी असुविधाओं को समझाइए। उनको दूर करने के लिए आप कौन कौन से उपाय करिएगा?

(५) "विज्ञापन आधुनिक व्यापार की जान है" उक्त कथन की विवेचना कीजिए।

(६) "भारतीय व्यापार में ईमानदारी की दशा शोचनीय है" इस कथन के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है?

छब्बीसवाँ अध्याय

—:०:—

विदेशी व्यापार

प्राक्कथन—जिस तरह एक देश के निवासी आपस में व्यापार करते है, उसी तरह सभ्यता का विकास तथा आयात-निर्यात करने के साधनों में उन्नति और आवश्यकताओं की वृद्धि होने पर एक देश के निवासी दूसरे देशवालों से भी व्यापार करने लगते हैं। अपने देश की जरूरत से अधिक चीज़ें दूसरे देश को देकर बदले में वहाँ की चीजें, अपनी आवश्यकतानुसार, ले ली जाती हैं। इसी को विदेशी व्यापार कहते हैं। इससे एक देश में होने वाली चीजें दूसरे देश से मिल जाती हैं।

व्यापार का परिमाण—अब से सौ वर्ष पहले विदेशी व्यापार (आयात तथा निर्यात) प्रति वर्ष कुल मिलाकर लगभग पच्चीस करोड़ रुपए के माल का होता था। विगत वर्षों में इसके मूल्य का परिणाम छः सौ करोड़ रुपए तक रह चुका है। यद्यपि किसी-किसी वर्ष उसके पहले वर्ष की कपेक्षा इस परिमाण में कुछ कमी भी हुई है, साधारणतया योरपीय महायुद्ध के समय तक इसमें क्रमशः वृद्धि ही हुई। महायुद्ध के समय यह व्यापार कम रह कर, उसके बाद फिर

बढ़ा। किन्तु इधर कई वर्षों से इसका परिमाण कम ही है, इसका कारण कुछ अंश में जनता की राष्ट्रीय जागृति है, जिससे स्वदेशी उद्योग-धंधों की उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। इस समय यह व्यापार प्रति वर्ष लगभग ढाई-तीन सौ करोड़ रुपए के माल का होता है।

ब्रिटिश भारत की आयात (१९३८-३९)

पदार्थ	मूल्य (लाख रुपयों में)
खाने पीने के पदार्थ—	
फल और वनस्पति	१, ३४
शराब	१, ६६
चीनी	४६
तमाखू	१, ०५
अन्न, दाल, आटा	१३, ७६
मसाले	२, ६३
मिठाई, बिस्कुट आदि	२, ४८
अन्य खाने पीने के पदार्थ	१, ०५
कच्चे पदार्थ—	
कोयला आदि खनिज पदार्थ	१, ८२
मिट्टी का तेल, पेट्रोलियम, चर्बी, मोम आदि	१६, ६९
रुई	८, ५१
रेशम, ऊन आदि	१, ३०
लकड़ी	२, ५८

पदार्थ	मूल्य (लाख रुपये में)
तैयार पदार्थ—	
शस्त्रास्त्र	५०
रासायनिक पदार्थ और औषधियाँ	५, ६३
लोहे पीतल आदि की वस्तुएँ और औजारें	१६, ६६
रंग	४, ०४
विजली का सामान	३, ३२
कांच और मिट्टी के बर्तन	१, ६५
खाल और चमड़ा	५३
मशीनें	१६, ७२
कागज	३, ६०
रबर का सामान	१, ४१
रेल आदि सवारी का सामान	६, ६८
रुई का सूत और वस्त्र	१४, ७६
रेशम का सूत और वस्त्र	१, ३२
ऊन आदि सूत और वस्त्र	५, ७१
विविध तैयार पदार्थ	८, ००
डाक से आने वाले पदार्थ	१, ६३
अन्य पदार्थ	२, २२
योग	१,५२,३४

हमारी आयात के पदार्थ

रुई और सूती माल—भारतवर्ष की आयात में प्रमुख स्थान रुई और सूती माल का है। यहां जो कपास पैदा होती है, उसमें से

अधिकांश की रुई का रेशा छोटा होता है। कुछ वर्षों से यहां लंबे रेशे की रुई भी होने लगी है, पर वह काफी नहीं होती। इसलिए विदेशों से लम्बे रेशे की रुइ मँगाई जाती है।

भारतवर्ष में छोटे रेशेवाली रुई तो अब भी काफी मात्रा में होती है, उसमें से कुछ तो विदेशों में भी भेजी जाती है। ऐसी दशा में इँगलैंड और जापान आदि से सूती माल मँगाना बहुत अनुचित और हानिकर है। हमें अपनी रुई से स्वयं ही अपने लिए आवश्यक परिमाण में वस्त्र तैयार करना चाहिए। यों-तो मिलों में बननेवाले माल की वृद्धि हो सकती है, पर हाथ से बुने हुए वस्त्र का परिमाण बढ़ने की तो बहुत ही गुंजायश है। गत वर्षों में चर्खा-संघ ने खादी की उत्पत्ति बढ़ाने का जो उद्योग किया है, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। भारतवर्ष में विदेशी सूत की भी आयात होती है, कारण, यद्यपि यहाँ की मिलों एवं चर्खों ने महीन सूत कातने में, गत वर्षों में, कुछ उन्नति की है, पर वे अभी तक यहाँ के महीन सूत की माँग की पूर्ति नहीं कर सकते।

रेशमी और ऊनी माल—भारतवर्ष से रेशमी और ऊनी माल भी बहुत परिमाण में आता है। गत वर्षों में जापान आदि से नकली रेशम का माल बहुत आने लगा है, वह देखने में तो चटकीला-भड़कीला होता है, पर वैसे बहुत कमजोर रहता है। आवश्यकता है कि इसकी आयात को कम किया जाय, और भारतवर्ष में रेशमी और ऊनी वस्त्र-व्यवसाय को प्रोत्साहन दिया जाय। यहाँ रेशम और ऊन दोनों होते हैं, उद्योग करने पर वे और बढ़िया हो सकते हैं।

लोहे और फौलाद का सामान—भारतवर्ष में टाटा का कारखाना तथा अन्य कम्पनियाँ लोहे और फौलाद का सामान तैयार करती हैं। इस कार्य को संरक्षण मिलने से इसकी खासी उन्नति हुई है। पर अभी यहाँ की सब आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। इसके अतिरिक्त सरकार और रेलवे कम्पनियाँ बहुत-सा सामान इंगलैंड आदि से मँगाती हैं, यदि ये यहाँ के कारखानों को समुचित सुविधाएँ तथा प्रोत्साहन दें तो हमारी जरूरत की बहुत-सी चीज़ें यहाँ ही बन सकती हैं।

मिट्टी का तेल और पेट्रोल—भारतवर्ष में मिट्टी के तेल का खर्च क्रमशः बढ़ रहा है। अभी तक इस पदार्थ की अधिकाँश आयात अमरीका और रूस आदि से होती थी। अब बर्मा के भारतवर्ष से पृथक् हो जाने के कारण वर्मा से आने वाला तेल भी विदेशी समझा जायगा। यहाँ मोटरों आदि का प्रचार क्रमशः बढ़ता जारहा है, इसके फलस्वरूप पेट्रोल का खर्च एवं आयात भी बढ़ रही है।

कागज—भारतवर्ष में पहले हाथ का बनाया हुआ स्वदेशी कागज ही काम आता था। अब कागज की मिलें भी होगई हैं। मिल के कागज के लिए बहुत-कुछ विदेशों से मँगाया हुआ 'पल्प' (लकड़ी का गुदा या लुगदी) आदि काम में लाया जाता है। हाथ से, तथा मिलों में यहाँ काफी कागज नहीं बनता, अतः विदेशी कागज भी मँगाना होता है। ज्यों ज्यों शिक्षा का प्रचार बढ़ेगा, अखबारों तथा किताबों आदि की आवश्यकता अधिक होगी, परिमाण-स्वरूप कागज की माँग भी बढ़ेगी। भारतवर्ष के जंगलों में बाँस काफी परिमाण में है, उससे

कागज बनाया जा सकता है, उसके लिए यथेष्ट उद्योग हो तो हम विदेशी कागज की आयात के भार से सहज ही मुक्त हो सकते हैं।

आयात की अन्य वस्तुएँ—उपर्युक्त वस्तुओं के अतिरिक्त हम प्रतिवर्ष करोड़ों रुपए की मोटर, शराब, तमाखू (सिग्रेट), रंग, शीशे का सामान, दवाइयाँ आदि मँगाते हैं। साबुन, स्याही, छतरी, घड़ी आदि में भी काफी रुपया विदेशों को जाता है। यदि हम तनिक ध्यान दें, तो इनमें से कुछ पदार्थों के उपभोग की आवश्यकताओं को नियंत्रित कर सकते हैं।

अब, उन पदार्थों की आयात का विचार करें, जिनके, इस देश में आने का कारण हमारी विशेष व्यापारिक परिस्थिति है। भारतवर्ष से विदेशों को जाने वाला माल अधिकांश में कच्चा होता है। यह माल तैयार माल की अपेक्षा जगह ज्यादह घेरता है, तथा वजनी भी अधिक होता है। विदेशों से तैयार माल लाने के लिए जितने जहाजों की जरूरत होती है, यहाँ से कच्चा माल लेजाने के लिए उनसे अधिक जहाज चाहिए। जहाजों को खाली लाना कठिन है, अतः इन अधिक जहाजों में कोयला, नमक, सिमेंट आदि वजनी सामान नाममात्र के किराए पर यहाँ लाया जाता है। किराया बहुत कम होने से यह माल मूल्य में यहाँ के स्वदेशी सामान से भली-भाँति प्रतियोगिता कर सकता है; उसे यहाँ के व्यापारी सहर्ष ले लेते हैं। हमारी इस माल की आयात में उस समय तक कमी होने की आशा नहीं, जब तक इसका मूल कारण विद्यमान है, अर्थात् जबतक हमारी निर्यात कच्चे पदार्थों की, और आयात तैयार पदार्थों की है।

ब्रिटिश भारत की निर्यात [१९३८-३९]

पदार्थ	लाख रुपयों में
मछलियां	६८
फल और बनस्पति	२,३८
अन्न, दाल, आटा	७,८१
	६१
मसाले	८२
चाय	२३,४१
तमाखू	२,७८
कोयला आदि खनिज पदार्थ	२,५४
गोन्द लाख आदि	१,५४
खाल, चमड़ा	११,४१
धातुएँ	१,८२
तेल, चर्बी, मोम आदि	१६,२४
रबर और उसकी वस्तुएँ	८८
रुई	२४,८३
जूट	१३,३५
ऊन आदि	४,०५
रंग	८०
रासायनिक पदार्थ	५२

पदार्थ	लाख रुपयों में
धातुओं का सामान	३,६१
सूत का सामान	७,२७
जूट का सामान	२६,३६
ऊन आदि का सामान	१,६७
अन्य तैयार माल	५,५६
डाक से जानेवाले पदार्थ	२,६६
विविध पदार्थ	५,०८
योग	१६६,३४

हमारे निर्यात के पदार्थ; जूट और उसका सामान—अब हम निर्यात के पदार्थों के सम्बन्ध में विचार करते हैं। इनमें प्रमुख स्थान जूट और उसके सामान का है। संसार भर में भारतवर्ष को इसका एकाधिकार है। यहाँ इसका केन्द्र बंगाल है। विगत वर्षों में जूट की मिलों ने बहुत तरक्की की है, इससे इसके गृह-उद्योग को धक्का पहुँचा है। जूट की उपयोगिता बढ़ती जा रही है। टाट, बोरी, सूतली आदि पहले से ही बनती थीं, अब कालीन गलीचे आदि वस्त्रों में भी इसकी मिलावट की जाने लगी है। इससे इसकी माँग बढ़ रही है। मिलों के लिए तथा निर्यात के वास्ते बेचने से किसानों को जूट के दाम अधिक मिलते हैं, पर इससे उनके गृह-उद्योग का लोप हो जाने से

उनकी हानि भी है। कुछ किसानों ने इसकी पैदावार का क्षेत्र बढ़ा कर, खाद्य पदार्थों की फसल का क्षेत्र कम कर दिया है। अब नकली जूट बनने लग गया है। ज्यों-ज्यों उसका व्यवहार अधिक होगा, भारतवर्ष का जूट का एकाधिकार कम रह जायगा। अतः यह विषय चिन्तनीय है।

रुई और सूती माल—हम पहले कह चुके हैं कि भारतवर्ष में बहुत-सा कपड़ा विदेशों से आता है, तो भी हम खासे परिमाण में रुई की निर्यात करते हैं। यदि उस रुई का कपड़ा यहाँ ही बना लिया जाया करे, तो हमारा, रुई बाहर भेजने तथा विदेश से कपड़ा मँगाने, इन दोनों कामों से छुटकारा हो, और हमारे अनेक आदमियों को वस्त्र-व्यवसाय से आजीविका का साधन प्राप्त हो। यद्यपि भारतीय मिलों में बना हुआ कपड़ा, विलायती कपड़े से कुछ मँहगा होता है, तथापि वह मोटा और मजबूत होने से उसकी बाहर के कुछ देशों में माँग रहती है। यहाँ का कपड़ा विशेषतया लंका, मलाया प्रायद्वीप, फारिस, ईराक और पूर्वी अफ्रीका में जाता है। यह निर्यात और बढ़ाई जा सकती है।

खाद्य पदार्थ—भारतवर्ष से खाद्य पदार्थों में विशेषतया गेहूँ और चावल की निर्यात होती है। खाद्य पदार्थों की निर्यात होना उस दशा में तो बुरा नहीं है, जबकि यहाँ ये पदार्थ आवश्यकता से अधिक उत्पन्न होते हों, परन्तु यहाँ के किसान अपनी निर्धनता के कारण गेहूँ चावल आदि बढ़िया अन्नों को बेच कर ज्वार, मकई, बाजरा आदि घटिया अन्नों पर निर्वाह करते हैं, और कुछ दशाओं में तो उन्हें ये घटिया अन्न भी पर्याप्त परिमाण में नहीं मिलते। बढ़िया पदार्थों की जो कीमत

यहाँ मिल सकती है, उसकी अपेक्षा विदेशों से अधिक मिलती है। इस प्रकार इन खाद्य पदार्थों की आयात भारतवासियों की निर्धनता की द्योतक है। गेहूँ और चावल के अतिरिक्त जौ, चने, बाजरे आदि की भी कुछ निर्यात होती है। जौ, शराब तथा दवाइयाँ बनाने के काम में आता है; जब विदेशों में जौ कम पैदा होता है, तो यहाँ से उसकी निर्यात अधिक होती है।

तेलहन—भारतवर्ष से कुछ तेल भी बाहर जाता है, पर उसकी अपेक्षा तेलहन की निर्यात कहीं अधिक होती है। इसमें तीसी, तिल, अंडी, सरसों और बिनौला आदि मुख्य हैं। यदि तेलहन की निर्यात कम करके उससे यहाँ ही तेल निकालने का धंधा बढ़ाया जाय तो एक तो उससे यहाँ के अनेक बेकार आदमियों को काम मिले; दूसरे, खली यहाँ रहने से खेती को, तथा पशुओं को भी लाभ हो।

चाय—चाय की खेती यहाँ विशेष रूप से, सौ वर्ष से ही होने लगी है। इसका व्यवसाय अधिकतर विदेशी कम्पनियों के हाथ में है। वे इसकी उत्पत्ति बढ़ाने, यहाँ इसका प्रचार करने, तथा इसकी विदेशों में निर्यात करने में खूब प्रयत्नशील रहती हैं। चाय विदेशों में भेजने के लिए, डिब्बे बाहर से मँगाए जाते हैं। भारतवर्ष में इसका उपभोग बहुत बढ़ रहा है।

चमड़ा और खाल—भारतवर्ष से चमड़े और खाल की जो निर्यात होती है, उसका कारण यह नहीं कि उसकी आवश्यकता नहीं है, वरन् यह है कि यहाँ अनेक आदमी निर्धन होने के कारण

जूते आदि का उपयोग नहीं कर पाते, दूसरे यहाँ चमड़े के काम को निम्न श्रेणी का समझा जाता है। यह काम अधिकतर अकुशल व्यक्तियों के हाथ में है, वे चमड़े को अच्छी तरह 'कमाना' नहीं जानते, तथा वे अच्छा बढ़िया सामान कम बनाते हैं। भारतवर्ष में बहुत-सा चमड़े का सामान विदेशों से आता है। कुछ वर्षों से यहाँ चमड़े के अँगरेजी ढंग के कारखाने खुलने लगे हैं। यदि यहाँ चमड़े का कुशलता-पूर्वक और काफी उपयोग किया जाय, और रबड़ के (विशेषतया जापानी) जूतों का इस्तेमाल कम हो तो हमें चमड़े की इतनी निर्यात करने की आवश्यकता न हो।

ऊन—पहले कहा जा चुका है कि हम बहुत-सा ऊनी माल विदेशों से मँगाते हैं, ऐसी दशा में हमारा ऊन का निर्यात करना अनुचित है। हमें चाहिए कि ऊन से यहाँ ही वस्त्र तैयार करें। यहाँ पर करघों से बने ऊनी वस्त्र चिर-काल से तैयार होते हैं, और यहाँ के शाल, कालीन आदि दूर-दूर के देशों तक प्रसिद्ध हैं, कुछ समय से ऊन की मिलों ने भी खासी उन्नति की है। ऊनी वस्त्र के व्यवसाय को बहुत बढ़ाने की आवश्यकता है।

धातुएँ—यहाँ धातुएँ काफ़ी परिमाण में विद्यमान हैं, तथा खानों से निकाली भी जाती हैं। परन्तु यहाँ उनके विविध पदार्थ न बनाए जाकर, धातुएँ ही विदेशों को भेज दी जाती हैं। प्राचीनकाल में भारतवर्ष लोहा ढालने तथा धातुओं की विविध वस्तुएँ बनाने के लिए विश्व-विख्यात था; पर पिछली शताब्दी में यह देश साधारण चीज़ों के लिए भी परमुखापेक्षी बन गया। अब कुछ समय से टाटा कम्पनी

तथा बंगाल-स्टील-कम्पनी आदि के उद्योग से कुछ सामान यहाँ बनने लगा है। परन्तु, अधिकाँश में गर्डर, छड़, रेलिंग आदि ही बनाए जाते हैं; देश में नाना प्रकार की जो मशीनें यहाँ काम में लाई जाती हैं, वे अब भी प्रायः सभी विदेशी है। उनमें कितना ही रुपया विदेश भेजना होता है। मशीनों के अनेक छोटे-छोटे पुर्जों को भी यहाँ नहीं बनाया जाता। आवश्यकता है कि इस दिशा में बहुत तीव्र गति से बढ़ा जाय और धातुओं की विदेशों में निर्यात न कर, उनका यहाँ ही अधिक से अधिक उपयोग हो।

व्यापार का स्वरूप—अब हम यह बतलाते हैं कि हमारे आधुनिक विदेशी व्यापार का स्वरूप क्या है। (क) पहले भारतवर्ष से खाँड़, नील, दुशाले, मलमल आदि तैयार माल विदेशों को जाता था; किन्तु अब अन्न या रुई, सन, तेलहन आदि कच्चे माल का, जिसकी विदेशी कारखानों को आवश्यकता होती है, निर्यात बढ़ रही है। विदेशों से आनेवाला माल प्रायः तैयार पदार्थों का होता है, अधिकतर हम कच्चा माल भेजते हैं और तैयार माल मँगाते हैं। (ख) भारतवर्ष की निर्यात, आयात की अपेक्षा बहुत अधिक क़ीमत की होती है। हमारे निर्यात और आयात की क़ीमत में जो अन्तर होता है, उसकी अपेक्षा हमारे व्यापार की बाकी की रकम बहुत कम होती है। [इसका कारण यह है कि हमें इंगलैंड को सूद तथा सरकारी कर्मचारियों की पेन्शन आदि का बहुत सा रुपया प्रति वर्ष देना होता है।] यह व्यापार की बाकी, कीमती धातुओं के स्वरूप में आती है, जिसकी मात्रा बहुत मालूम पड़ने पर भी भारतीय जन-संख्या की दृष्टि से बहुत कम

होती है। (ग) हमारे आयात का बहुत बड़ा भाग अकेले इंगलैंड से ही आता है, जो हमारे निर्यात का अपेक्षाकृत बहुत कम भाग लेता है। इंगलैंड से होनेवाला व्यापार गत वर्षों में घट गया है। उसकी जगह जापान से यहाँ का व्यापार बढ़ता जा रहा है। जापान से कुछ कम व्यापार जर्मनी और संयुक्त-राज्य अमरीका से है। (घ) व्यापार का नफा, जहाज का किराया तथा बीमे और साहूकारी आदि की आमदनी अधिकतर योरोपियनों को मिलती है।

विशेषतः गत साठ-सत्तर वर्षों में विदेशी माल अधिकाधिक मँगाने और विनिमय में उससे भी अधिक कच्चे माल की निकासी करते रहने का परिणाम यह हुआ है कि भारतीय जनता को इस बात की और ज़्यादा जरूरत पड़ती जा रही है कि वह अपना निर्वाह खेती पर करे।

व्यापार की बाकी*—दो देशों के आयात और निर्यात की कीमतों के अन्तर को "व्यापार की बाकी" कहते हैं। इसका भुगतान करने के लिए सोना-चांदी या सिक्का मँगाना, अथवा भेजना पड़ता है। इसलिए सब देशों की इच्छा रहती है कि व्यापार की बाकी अपने नाम न निकले, वरन् दूसरों के नाम। हम ऊपर लिख आए हैं कि भारत के आयात की अपेक्षा यहाँ का निर्यात बहुत अधिक होता है; परन्तु हमारे लेन देन की बाकी की रकम इंगलैंड आदि देशों के नाम नाम-मात्र की ही निकलती है। इसके कई कारण हैं—(१) भारतवर्ष को होम-चार्जेज़ या इंगलैंड-स्थित इण्डिया-ऑफिस आदि के खर्च तथा

हिन्दुस्थान से लौटे हुए अफ़सरों की पेंशन देनी पड़ती है। (२) अपने जहाज़ न होने के कारण विदेशी व्यापार के लिए अन्य देशों के जहाज़ों का किराया देना पड़ता है। (३) विदेशों से लिए हुए ऋण पर सूद देना पड़ता है। (४) विदेशी व्यापारियों का मुनाफा भेजना पड़ता है। (५) विदेशों में गए हुए भारतीय विद्यार्थियों अथवा यात्रियों आदि का खर्च भेजना पड़ता है। (६) भारतवर्ष में रहनेवाले अँगरेज अपने परिवारों के लिए विलायत रुपए भेजते रहते हैं।

सीमा की राह से व्यापार—ब्रिटिश भारत का जो विदेशी व्यापार समुद्र की राह से होता है, उसी का अब तक वर्णन हुआ। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष का कुछ व्यापार सीमा-पार के निकटवर्ती राज्यों से भी होता है। पश्चिमोत्तर-सीमा पर अफ़ग़ानिस्तान, दीर, स्वात, बजौर, मध्यएशिया और ईरान से भारत का व्यापार होता है। उत्तर और उत्तरपूर्व में नेपाल, तिब्बत, शिकम और भूटान से, तथा पूर्वी सीमा पर शान-राज्य, पश्चिम-चीन, और श्याम से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध है। सब से अधिक व्यापार नेपाल से होता है। उसके बाद क्रमशः शानराज्य और अफ़ग़ानिस्तान का नम्बर है। नेपाल से विशेषकर चावल, तेलहन, घी, चाय, गऊ, बैल, भेड़, बकरे आते हैं, और बदले में कपड़ा, चीनी, नमक, धातु के वर्तन इत्यादि जाया करते हैं। शान राज्यों से घोड़े, टट्टू और खच्चर, और श्याम से लकड़ी, तिब्बत से पश्म और ऊन, तथा अफ़गानिस्तान से ऊन और फल इत्यादि सामान आते हैं; और बदले में सूती कपड़ा, चाय, चीनी, नमक, मसाला, धातु के वर्तन आदि जाया करते हैं।

इस व्यापार की उन्नति में मार्ग की कठिनाइयाँ, जँगली आदमियों और चोरों का डर, उन देशों की आर्थिक अवनति आदि बाधक हैं। सीमा की राह से होनेवाली वार्षिक आयात और निर्यात कुल मिला कर लगभग पैंतालीस करोड़ रुपये के माल की होती है।

आयात-निर्यात-सम्बन्धी विशेष वक्तव्य—हमने यहाँ आयात और निर्यात के कुछ मुख्य मुख्य पदार्थों के सम्बन्ध में ही विचार किया है। संक्षेप में, यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष अधिकांश में तैयार माल अन्य देशों से मँगाता है; इसके विपरीत, उसकी निर्यात अधिकतर कच्चे पदार्थों की होती है। यदि भारतवर्ष में घरू उद्योग-धंधों तथा कल-कारखानों की यथेष्ट उन्नति हो जाय तो कच्चे पदार्थों का यहाँ अधिक उपयोग होने लग जाय, उन्हें इतने परिमाण में बाहर भेजने की आवश्यकता न रहे, यहाँ की निर्यात कम हो जाय, और साथही हमारी तैयार माल की आवश्यकताएँ यहाँ के बने पदार्थों से पूरी होने लगें, हमें इतनी आयात की आवश्यकता न रहे; इस प्रकार औद्योगीकरण से हमारी निर्यात और आयात दोनों का ही परिमाण घट जाय। विदेशी व्यापार के परिमाण का घटना कोई चिंताजनक बात नहीं है। कारण, व्यापार के अंको के बढ़ने-मात्र से ही किसी देश की सुख-संमृद्धि सिद्ध नहीं होती। यह बात भारतवर्ष के विषय में विशेष रूप से चरितार्थ होती है। सौ वर्ष पहले की अपेक्षा अब हमारे विदेशी व्यापार का परिमाण कहीं अधिक है। पर, कौन यह कहने का दुस्साहस करेगा कि आज-दिन भारतवासी पूर्वापेक्षा अधिक सुखी हैं। हम अपना कच्चा माल सस्ते भाव से विदेश भेज देते हैं, और उस माल की तैयार की

हुई मँहगी वस्तुएँ अन्य देशों से खरीदते हैं। इससे हमारे अनेक आदमी साल में कई-कई महीने बेकार रहते हैं, उन्हें अपने जीवन-निर्वाह के लिए भी यथेष्ठ सामग्री नहीं मिलती, जैसा कि हम उपभोग के प्रसंग में लिख चुके हैं।

अस्तु, वर्तमान स्थिति में हमें अपनी आयात एवं निर्यात दोनों ही कम करनी चाहिए, इसके लिए देश में उद्योग-धंधों की वृद्धि करने के सम्बन्ध में तो पहले लिखा ही जा चुका है; इसके अतिरिक्त, हमें चाहिए कि भोजन वस्त्रादि की साधारण रोज-मर्रा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हम विदेशी पदार्थ न लें, इन्हें हम अपने यहाँ ही उत्पन्न करें और बनावें। विशेष दशाओं में हमें दूसरे देशों का माल लेने अथवा अपना माल देने में कोई आपत्ति नहीं है। हाँ, दूसरे देशों से हमारा व्यापारिक सम्बन्ध इस प्रकार का हो कि उससे हमारा और उनका, दोनों का हित हो, किसी का आर्थिक शोषण न हो।

व्यापार का आदर्श—हम पिछले अध्याय में लिख चुके हैं कि व्यापार में ईमानदारी आदि सद्गुणों की बहुत आवश्यकता है। विदेशों में यदि हम भारतवर्ष का गौरव स्थापित करना चाहते हैं तो यह हमारी ईमानदारी और सद्व्यवहार से ही हो सकता है। हमें ऐसा व्यापार करना चाहिए कि भारतवर्ष में बने हुए ('मेड-इन-इंडिया') का अर्थ शुद्ध, खरा, बे-मिलावट का, और बढ़िया हो जाय। जो आदमी अपने स्वार्थ के लिए बाहर खराब और घटिया, अथवा वजन या संख्या में कम माल भेजते हैं, वे अपनी साख तो खोते ही हैं, देश का नाम भी

बदनाम करते हैं। हमारी देश-भक्ति का तकाजा है कि हम अपने शुद्ध और निष्कपट व्यवहार से देश-देशान्तर में भारतवर्ष का गौरव बढ़ानेवाले हों।

अभ्यास के प्रश्न

(१) भारतीय विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषताओं को बताइए। पिछले वर्षों में भारत का निर्यात व्यापार क्यों गिर गया है? (१९३७, १९३५)

(२) भारत के मुख्य मुख्य पांच निर्यात तथा पांच आयात वस्तुओं के नाम लिखिए। भारत के तीव्र औद्योगीकरण का यहां के विदेशी व्यापार पर क्या असर पड़ेगा? (१९३३)

(३) स्थल-मार्ग से होने वाले भारतीय विदेशी व्यापार का हाल संक्षेप में लिखिए।

(४) विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के क्या आर्थिक परिणाम होंगे?

(५) लोहा, फौलाद, सूती कपड़ा और चीनी के आयात कम होने के क्या कारण हैं?

(६) विदेशी व्यापार की वृद्धि से किन दशाओं में देश को लाभ और किन दशाओं में देश को हानि होती है?

सत्ताईसवाँ अध्याय

—:*:*:—

मुद्रा

विनिमय का माध्यम—पहले बताया जा चुका है कि मनुष्यों के लिए पदार्थों का अदल बदल करना अनिवार्य है। प्राचीन काल में दो पदार्थों के पारस्परिक अदल-बदल के लिए कोई तीसरी वस्तु माध्यम नहीं होती थी। इससे बड़ी कठिनाई पड़ती थी। जो वस्तु हमारे पास अधिक होती थी, उसके लेनेवाले, सब समय और सब जगह, नहीं मिलते थे। फिर, जिन मनुष्यों को हमारी चीज की जरूरत होती थी, वे सभी हमें हमारी आवश्यकता की वस्तु नहीं दे सकते थे। अतएव हमें ऐसा आदमी ढूँढ़ना पड़ता था, जिसमें एक साथ दो बातें हों—वह हमारी बनाई हुई वस्तु ले सके, और हमारी जरूरत की चीज, बदले में, दे भी सके। इस कठिनाई को दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न वस्तुएँ विनिमय का माध्यम बनाई गईं। भारतवर्ष के देहातों में, अब भी, अन्न के बदले शाक-भाजी, लकड़ी, उपले आदि वस्तुएँ मिलती हैं। एक आदमी अपनी चीज बेचकर बदले में अन्न लेता है, और फिर उस अन्न के बदले में, अपनी आवश्यकता की दूसरी वस्तुएँ। इस प्रकार अन्न विनिमय के माध्यम का काम देता है।

इसमें सन्देह नहीं कि अन्न की आवश्यकता सबको होती है; परन्तु माध्यम के लिए उपयोगी होना ही काफी गुण नहीं है। अन्न से छोटी-छोटी मात्रा के विनिमय का कार्य अवश्य चल सकता है, परन्तु बड़ी मात्रा के विनिमय में इससे बड़ी असुविधा होती है। मान लीजिए, यदि सौ मन रुई बेचना है, और उसके बदले में पाँच सौ मन गेहूँ मिलता है, तो इतने भारी वजन को, एक जगह से दूसरी जगह, ले जाने में क्या कम कठिनाई पड़ेगी? फिर, अन्न ऐसा पदार्थ है, जो बहुत समय तक अच्छी दशा में नहीं रहता; उसके खराब हो जाने अथवा चूहे या कीड़ो द्वारा खाए जाने की आशंका रहती है। अतः ज्यों-ज्यों मानव-समाज में सभ्यता बढ़ती गई, यह विचार पैदा होता गया कि विनिमय का कोई इससे अच्छा माध्यम निश्चित किया जाय।

माध्यम का कार्य वही चीज भली भाँति कर सकती है, जिसमें ये गुण हों—(१) उपयोगिता, (२) चलन अर्थात् लेजाने का सुभीता, (३) अक्षय-शीलता, अर्थात् जल्दी खराब या नाश न होना, (४) विभाजकता या टुकड़े हो सकना; (पशु आदि के विभाग नहीं हो सकते)। (५) मूल्य में स्थायित्व होना, अर्थात् शीघ्र परिवर्तन न होना, (६) पहचान (इसी में उसको चिह्न या अक्षर धारण करने की शक्ति भी सम्मिलित है)।

यथेष्ट अनुभव और प्रयोगों के पश्चात् लोगों को धातुओं से माध्यम का काम लेने की बात सूझी। यदि किसी को रुई के बदले में अन्न लेना हो, तो वह पहले रुई के बदले में धातु लेते, और फिर उस धातु के बदले में अन्न। इस रीति में विनिमय दो बार करना पड़ता है;

किन्तु, तो भी, यह रीति सरल है। अतः माध्यम के लिए धीरे धीरे धातुओं का, और उनमें भी विशेषतः सोने चाँदी का, अर्थात द्रव्य का चलन बढ़ गया। क्रमशः धातुओं के सिक्के बनने लगे।

सबसे अच्छा सिक्का वह है, (१) जिसकी नकल न की जा सके, (२) जिससे यदि कुछ धातु निकाल ली जाय, तो फौरन पता लग जाय, और (३) जिससे धातु, रगड़ के कारण घिस जाने पर, कम न हो जाय, और (४) जो अपने समय की कला का एक खास नमूना हो।

द्रव्य के कार्य; उत्पत्ति में सहायता—द्रव्य का प्रमुख कार्य यह है कि यह विनिमय का माध्यम है। विनिमय की आवश्यकता पहले बतायी जा चुकी है। द्रव्य ने विनिमय के माध्यम के रूप में, उत्पत्ति में विलक्षण सहायता दी है। यदि मनुष्यों को यह आशा न हो कि वे अपने पारिश्रमिक के बदले द्रव्य पा सकेंगे, जिससे नाना प्रकार की वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं, तो वे विविध वस्तुएँ न बनाकर केवल उन्हीं के बनाने का ध्यान रखें, जिनकी स्वयं उनको अपने उपयोग के लिए आवश्यकता हो। कोई आदमी किसी विशेष वस्तु की उत्पत्ति के लिए विशेष कुशलता प्राप्त न करता, श्रम विभाग जो बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की जान है, न होता, और नाना प्रकार की वस्तुएँ न बनतीं।

वस्तुओं के मूल्य का माप—यदि द्रव्य न हो तो हम विविध वस्तुओं के मूल्य का कुछ ठीक अनुमान नहीं कर सकें। प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता भिन्न भिन्न व्यक्तियों की रुचि, स्थिति आदि के अनुसार

भिन्न-भिन्न होती है। द्रव्य के द्वारा ही हम सब के मूल्य का हिसाब लगाते हैं, और इस प्रकार उनके पारस्परिक मूल्य की तुलना कर सकते है। एक आदमी के पास गत वर्ष के अन्त में कुछ वस्तुएँ निर्धारित परिमाण में थीं, अब इस वर्ष के अन्त में कुछ वस्तुओं का परिमाण घटा है, कुछ का बढ़ा है, कुछ वस्तुएँ अब नहीं रहीं हैं, एवं कुछ नयी वस्तुएं हो गई है। ऐसी दशा में द्रव्य के रूप में कोई व्यापक मूल्य-मापक वस्तु होने पर ही, यह कहा जा सकता है कि उसकी आर्थिक स्थिति अब पूर्वापेक्षा अच्छी है, या खराब। इसी प्रकार दो व्यक्तियों या देशों की आर्थिक स्थिति की तुलना द्रव्य द्वारा ही की जा सकती है।

मूल्य का संग्रह—द्रव्य ऐसी वस्तु है, जिसका संग्रह सुविधा-पूर्वक हो सकता है। यदि कोई आदमी अन्न का संग्रह करके रखना चाहे तो उसके लिए बहुत स्थान की आवश्यकता होगी। उसकी कीमत में भी बहुत घट-बढ़ हो सकती है। फिर यदि किसी समय उस आदमी की यह इच्छा हो जाय कि अन्न की जगह कपड़े का संग्रह करूं तो उसे अन्न का मूल्य साधारणतया कम ही मिलने की सम्भावना है। परन्तु उपर्युक्त व्यक्ति द्रव्य का संग्रह करे तो उसके लिए बहुत कम स्थान की जरूरत होगी, कालान्तर में द्रव्य के मूल्य में विशेष घट-बढ़ भी न होगी। साथ ही वह आदमी उस द्रव्य द्वारा भविष्य में जो वस्तु चाहे, ले सकेगा। इस प्रकार द्रव्य का संग्रह मूल्य का संग्रह करना है। इसीलिए आदमी जब कुछ जोड़कर रखना चाहते हैं तो अन्न, वस्त्रादि का इतना संग्रह नहीं करते, जितना द्रव्य का संग्रह करते हैं; कारण

कि द्रव्य का संग्रह मूल्य का संग्रह है, इसके द्वारा चाहे जो वस्तु खरीदी जा सकती है।

लेन देन का साधन—यों तो आदमी कभी कभी अन्नादि अन्य वस्तुएँ लेकर उन्हें उसी रूप में चुकाते भी हैं, पर इसमें लेने वाले तथा देने वाले दोनों को असुविधा होती है। कल्पना करो एक आदमी को पाच मन गेहूँ, एक मन चावल और तीन सेर गुड़, दस सेर तेल एवं पांच सेर घी लेना है। इसकी सम्भावना बहुत कम है कि ये सब चीजें उसे एक ही आदमी से मिल सकें। इस प्रकार उसे कई आदमियों से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ेगा। इसके विपरीत, यह कार्य बहुत सरलता-पूर्वक हो सकता है कि वह एक आदमी से द्रव्य उधार ले ले और इस द्रव्य से अपनी आवश्यकतानुसार विविध वस्तुएँ खरीद लें। फिर, वस्तुओं के रूप में ऋण चुकाना भी बहुत असुविधाजनक है। यदि वस्तुओं का मूल्य घट जाता है तो ऋणदाता को पूर्व परिमाण ने वस्तुएँ लेने से घाटा रहता है, और यदि मूल्य बढ़ जाता है तो ऋण चुकाने वाले का भार बढ़ जाता है। इसके विपरीत द्रव्य लेने और देने में ऐसी बात नहीं होती, कारण कि यद्यपि इसके मूल्य में कुछ परिवर्तन तो होता है, पर वह बहुत ही कम होने से ऋण देने, अथवा लेने वाले को विशेष अखरता नहीं।

ऊपर द्रव्य के चार कार्य बताये गये हैं, इनमें से प्रथम दो मुख्य हैं, और पिछले दो गौण हैं।

प्रामाणिक और सांकेतिक सिक्का—सिक्के, उनमें लगी हुई धातु के मूल्य के विचार से दो प्रकार के होते हैं, प्रामाणिक और

सांकेतिक। 'प्रामाणिक' (स्टेन्डर्ड) सिक्का उस सिक्के को कहते हैं, जिसकी बाज़ारू क़ीमत उस सिक्के में लगी हुई धातु की क़ीमत के लगभग हो। जिस देश में इस सिक्के का चलन होता है, वहाँ के आदमी अपनी आवश्यकता के समय धातु तथा ढलाई-खर्च आदि का साधारण शुल्क देकर नये सिक्के ढलवा सकते हैं, अथवा मोल ले सकते हैं। भारतवर्ष में सन् १८९३ ई० तक ऐसी ही व्यवस्था थी। ऐसे सिक्कों को गलाने में विशेष हानि नहीं होती।

'सांकेतिक' सिक्का उस सिक्के को कहते हैं जिसकी बाज़ारू क़ीमत उस सिक्के में लगी हुई धातु की क़ीमत से बहुत अधिक होती है। उदाहरणवत् भारतवर्ष में रुपया सांकेतिक मुद्रा है; इसमें जितनी चाँदी होती है, उसकी क़ीमत बाजार में प्रायः सात आने से नौ आने तक रही है; किन्तु सरकार ने उसकी क़ीमत सोलह आने ठहरा रक्खी है। इन सिक्को के प्रचलित मूल्य का आधार सरकारी क़ानून तथा सरकार की साख है। विदेशों में ऐसे सिक्कों का मूल्य बहुत कम—उनमें लगी हुई धातु की क़ीमत के लगभग—होता है। जब सरकार की साख जाती रहती है, अथवा सरकार बदल जाती है, तो स्वदेश में भी इन सिक्कों की क़ीमत बहुत गिर जाती है।

सांकेतिक रुपयों के चलन से जन-साधारण की प्रवृत्ति, चाँदी के सस्ते होने की हालत में, नक़ली रुपए बनाने की ओर, और चाँदी के मँहगे होने की सूरत में, रुपए गलाने की ओर, होती है। इस प्रकार सांकेतिक मुद्रा-प्रणाली, दोनों हालतों में, असुविधा-जनक है। इस

असुविधा को दूर करने का यही उपाय है कि लोगों को अपनी-अपनी धातु के सिक्के ढलवाने के लिए टकसाल खुली रहे।

परिमित और अपरिमित कानूनन ग्राह्य सिक्के—भारतवर्ष में पैसा ताँबे का, इकन्नी निकल की, दुअन्नी, और चवन्नी निकिल एवं चाँदी की हैं। ये सिक्के मनमानी संख्या में नहीं चल सकते; क्योंकि ये एक परिमित संख्या से अधिक क़ानूनन ग्राह्य नहीं हैं। इन सिक्कों को भारी ऋण में लेने के लिए कोई वाध्य नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत, रुपया (तथा नोट,) अपरिमित कानून ग्राह्य सिक्के हैं। किसी आदमी को दूसरे आदमी को चाहे जितनी रकम देनी हो, वह उस रकम को रुपयों (या नोटों) के रूप में दे सकता है। रुपया पानेवाला उसे स्वीकार करने से इनकार नहीं कर सकता। उदाहरणवत् वह यह नहीं कह सकता कि मुझको यह रकम गिन्नियों में दो।

यह भी कहा जा सकता है कि रुपया भारतवर्ष का मुख्य सिक्का है और अठन्नी, चवन्नी, दुवन्नी, इकन्नी और पैसा आदि सहायक सिक्के हैं।

मुद्रा ढलाई; स्वतंत्र और परिमित—प्रायः सभ्य देशों में सिक्का ढालने का अधिकार अधिकतर वहाँ की सरकार को ही होता है। सरकार के अतिरिक्त यह अधिकार जनसाधारण को, अथवा सरकार द्वारा नियुक्त किसी बैंक या संस्था को भी हो सकता है। सिक्का ढलने की जगह को टकसाल कहते हैं।

कुछ देशों में टकसाल जनता के लिए खुली रहती है, अर्थात् जनता को इस बात की स्वतंत्रता होती है कि वह धातु टकसाल में

ले जाय और उसके सिक्के ढलवाले । यदि सरकार जनता से बिना कुछ शुल्क लिए ही उसके वास्ते सिक्के ढाल देती है तो यह मुद्रा-ढलाई स्वतंत्र और निःशुल्क कहलाती है। सन् १६३१ तक इंगलैंड में पौंड ढालने के लिए ऐसी ही प्रथा थी। कुछ देशों में सरकार 'मुद्रा-ढलाई' नामक शुल्क लेती है, यह शुल्क इतना ही होता है, जितना सरकार को खर्च पड़ता है, उससे अधिक नहीं। यह प्रथा फ्रांस में है। इसके विपरीत यदि सरकार सिक्का ढलवानेवालों से इस शुल्क की अपेक्षा कुछ अधिक लेती है तो यह अधिक रकम 'मुद्रा-ढलाई-लाभ' कही जाती है। यह प्रायः इसलिए ली जाती है कि जनता को टकसाल में धातु लाकर सिक्के ढलवाने का उत्साह न हो। जिन देशों में टक-साल जनता के लिए खुली हुई नहीं होती, वहाँ सरकार धातु खरीदती है, उसके सिक्के ढालती है और उन्हें जनता में प्रचलित करती है। इसे परिमित मुद्रा-ढलाई कहते हैं। भारतवर्ष में ऐसा ही होता है।

द्रव्य की चलन-पद्धति; एक-धातु-चलन—भिन्न-भिन्न देशों में वहाँ की तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार किसी चलन-पद्धति का विकास हो जाता है; तथापि मुख्य सिद्धान्त सब जगह समान ही होते हैं। मुख्य-मुख्य चलन-पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं:—

१—एक-धातु-चलन

२—द्वि-धातु-चलन

३—स्वर्ण विनिमय चलन

एक-धातु-चलन-पद्धति में एक ही धातु के सिक्के प्रामाणिक तथा कानूनन ग्राह्य सिक्कों के रूप में चलते हैं, वह धातु सोना हो या चाँदी।

प्रायः एक-धातु-चलन-पद्धति में सोने के सिक्कों का ही चलन होता है। जिस देश में यह चलन पद्धति होती है, वहाँ यह आवश्यक नहीं है कि किसी दूसरी धातु के सिक्कों का बिल्कुल चलन ही न हो, और न यह ही जरूरी है कि वह सब मुद्रा धातु की ही हो अर्थात् कागजी मुद्रा (नोट आदि) का चलन न हो। आवश्यक बात इतनी ही है कि जहाँ एक धातु-चलन-पद्धति है, उदाहरणवत् सोने का सिक्का प्रामाणिक माना जाता है, अन्य सिक्के केवल सहायक सिक्कों के तौर से बर्ते जाते हैं, और उन सिक्कों वाला यदि चाहे तो अपने सब सिक्कों का मूल्य (वे धातु के हों या वे कागजी सिक्के हों), स्वर्ण-सिक्कों के रूप में ले सकता है। एक-धातु-चलन-पद्धति में टकसाल जनता के लिए खुली रहती है, उसमें आदमी आवश्यक धातु देकर स्वतंत्रता-पूर्वक अपने सिक्के ढलवा सकते हैं।

द्वि-धातु-चलन-पद्धति—इस चलन-पद्धति में, देश में दो धातुओं के सिक्कों का चलन साथ-साथ ही होता है। दोनों प्रकार के सिक्के प्रामाणिक तथा कानूनन-ग्राह्य होते हैं। कोई आदमी अपना ऋण उनमें से चाहे जिस सिक्के में चुका सकता है, अथवा यह भी कर सकता है कि वह कुछ ऋण एक प्रकार के सिक्कों में चुकावे, और शेष ऋण दूसरे प्रकार के सिक्कों में। टकसाल दोनों धातुओं के सिक्कों के लिए खुली होती है और दोनों धातुओं के विनिमय का अनुपात कानून द्वारा निर्धारित रहता है। जब तक यह अनुपात वही होता है जो इन धातुओं के विनिमय का बाजार में होता है, (उदाहरणवत सोने और चाँदी के मूल्य में कानूनी अनुपात २४: १ हो, और बाजार

में भी एक तोला सोने के बदले चौबीस तोले चान्दी मिलती हो), यह चलन-पद्धति सफलता-पूर्वक बनी रहती है। परन्तु कानूनी तथा बाजारी अनुपात में तनिक भी अन्तर हो जाने पर इस चलन-पद्धति पर आघात हो जाता है, जिस धातु का मूल्य बाजार में गिर जाता है उसके ही सिक्कों का चलन रह जाता है, दूसरी धातु का सिक्का बाजार से हट जाता है; आदमी दूसरी धातु के सिक्कों का अन्य उपयोग करने लगते हैं, उदाहरणवत वे उन सिक्कों को संग्रह करने लग जाते हैं, या उन्हें गला कर उनकी धातु बेचकर लाभ उठाने लगते हैं, या उनसे विदेशी व्यापारियों का भुगतान करते हैं।

ग्रेशम का नियम—ऊपर घटिया सिक्के द्वारा बढ़िया सिक्के को बाजार से हटा दिये जाने की बात कही गयी है। इसे ग्रेशम का नियम कहते हैं, कारण कि सर्व प्रथम सर टमस ग्रेशम ने ही इस बात की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया था। यह नियम इस प्रकार बताया जा सकता है कि 'प्रत्येक देश में, घटिया सिक्का बढ़िया सिक्के के चलन को हटा देता है।' द्विधातु-चलन-पद्धतिवाले देश में इस नियम के व्यवहृत होने का उल्लेख पहले किया जा चुका है। परन्तु एक-धातु-चलन-पद्धति में भी यह नियम लागू होता है। प्रायः देखने में आता है कि यदि किसी आदमी के पास बीस सिक्के हों और उनमें से दो ऐसे हों जो नये हों, और शेष में से कुछ पुराने और कुछ घिसे हुए हों तो वह आदमी पहले पुराने और घिसे हुए सिक्कों को ही चलाना चाहता है; जहाँ तक सम्भव होगा, वह अपने दो नये सिक्कों को अपने पास रखेगा। हाँ, यदि उसे बीस के बीस ही खर्च करने हों, तो उपर्युक्त

नियम का प्रश्न उपस्थित नहीं होता, वह दो नये सिक्कों को अपने पास रखने में असमर्थ है।

स्वर्ण-विनिमय-चलन—जब किसी देश में, आन्तरिक व्यवहार के लिए किसी कागज आदि सस्ती वस्तु के सिक्के का चलन हो और वाह्य व्यापार के लिए उस सिक्के को चलानेवाली सरकार (या बैंक आदि) उन सिक्कों के बदले में अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा अर्थात् सोना देने की जिम्मेवरी लेती है तो उसे स्वर्ण-विनिमय-चलन-पद्धति करते हैं। इस पद्धति का उद्देश्य यह होता है कि जनता को स्वर्ण-मुद्रा का सब लाभ भी मिल जाय और देश में सांकेतिक मुद्रा के चलन होने से स्वर्ण का उपयोग बहुत कम हो; सोने के सिक्कों के घिसने आदि की हानि न हो और सोना अन्य देशों को उधार देकर उस पर सूद प्राप्त किया जाय।

काग़ज़ी मुद्रा; नोट आदि—बड़े व्यापारों में सोने-चाँदी आदि के भारी सिक्कों को एक स्थान से दूसरे स्थान को लेजाने में बड़ी असुविधा होती है। इस असुविधा को दूर करने के लिए धातु का आधार छोड़कर लोग काग़ज़ी रुपयों से ही अपना काम निकाल लेना चाहते हैं। नोट या काग़ज़ी मुद्रा वास्तविक सिक्के नहीं ये केवल एवजी सिक्के ही हैं, जो चलानेवाले के विश्वास या साख पर चलते हैं। ये अपने ही देश (या प्रांत) में भुनाए जा सकते हैं, विदेशों में इनका कोई मूल्य नहीं होता। आवश्यकता से अधिक होने पर तो ये स्वदेश के लिए भी बहुत हानिकर होते हैं।

भारतवर्ष में नोटों का प्रारम्भ—यहाँ के व्यापारियों में हुँडी-पुर्जे का प्रचार चिर काल से रहा है। परन्तु वर्तमान नोटों का चलन

अँगरेजी शासन में ही हुआ। नोटों का प्रचार यहाँ पहले-पहल सन् १८३६ ई० में हुआ, जब कि बंगाल-बैंक को नोट निकालने की अनुमति मिली। सन् १८४० ई० में बम्बई के और सन् १८४३ ई० में मदरास के प्रेसिडेंसी बैंकों को भी नोट निकालने का अधिकार मिल गया। इन नोटों का प्रचार पहले अधिकतर उक्त नगरों में ही हुआ। मदरास बैंक को एक करोड़ और अन्य दोनों बैंकों को दो दो करोड़ तक के नोट निकालने का अधिकार दिया गया था।

सन् १८६१ ई० से इन बैंकों का यह अधिकार छिन गया और भारत-सरकार ने नोट निकालने का काम अपने हाथ में लेकर इसके लिए एक पृथक् विभाग खोला और नोट जारी करने के ६ केंद्र स्थापित किए। इन केन्द्रों से ५), १०), ५०), १००), ५००), १,०००) और १०,०००) के नोट जारी किए गए। उस समय, जो नोट जिस केन्द्र से जारी किए हुए होते थे, वे केवल उसी केन्द्र से अधिकारपूर्वक भुनाए जा सकते थे।

नोटों का प्रचार—सन् १६०३ ई० तक नोटों का प्रचार बहुत शीघ्रता से नहीं बढ़ा। किन्तु इस वर्ष से ५ रुपए के, सभी केन्द्रों से निकले नोट सभी सरकारी खजानों में भुनाए जा सकने लगे; अर्थात् उस समय से ५) के नोट सार्वदेशिक हो गए। सन् १६११ ई० में १००) के नोट का प्रचार भी सार्वदेशिक हो गया। सन् १६१३ ई० के कमीशन ने यह सम्मति दी कि सब नोट भुनाए जाने के लिए अधिक सुविधा कर दी जाय। ऐसा हो जाने पर लोग नोटों को अधिकाधिक पसन्द करने लगे और उनके प्रचार की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी।

योरपीय महायुद्ध के समय—सन् १६१७ ई० में, १) और २॥) के नोट भी चलाये गये थे। पर पीछे इनका चलन बन्द कर दिया गया। भारत में रिजर्व बैंक खुलने पर नोटों को निकालने का अधिकार अब उसे ही दे दिया गया है।

नोटों का प्रभाव—नोटों के बनने का परिणाम ऐसा ही होता है, जैसा सिक्के (रुपये आदि) बनने का। प्रत्येक नोट पर यह छपा रहता है कि सरकार इस नोट वाले के माँगने पर, इस पर अंकित रकम देने का वायदा करती है। लोगों को सरकार का विश्वास रहता है, अतः उनका कारोबार इन नोटों से सुगमता-पूर्वक होता रहता है। वे नोटों से उसी प्रकार माल खरीद सकते हैं, जिस प्रकार सिक्कों से। यदि ये नोट न हो तो इतनी कीमत के सिक्के अधिक बनाने पड़ें। और यदि अधिक सिक्के न बनाये जायँ तो बहुत सा कारोबार होना कठिन हो जाय; यहीं नहीं, कितना ही कारोबार बन्द हो जाय।

नोटों के बदले नकदी जमा रखने की आवश्यकता—सरकार यह प्रतिज्ञा अवश्य करती है, कि वह प्रत्येक नोट के स्वामी को उसके मांगने पर उस नोट पर अंकित रकम देगी। परन्तु क्या सरकार को, जितने रुपये के वह नोट निलाकती है, उतना रुपया नकद खजाने में रखना पड़ता है? नहीं, उसे नोटों के बदले में उनकी पूरी रकम के सिक्के जमा रखने नहीं पड़ते। बात यह है कि सब आदमी एक साथ अपने अपने नोटों का रुपया मांगने नहीं आते। नोट एक आदमी के पास से दूसरे के पास, दूसरे से तीसरे के पास चलता रहता है। बहुधा ऐसा भी होता है कि यदि एक आदमी को नोट भुनवाने अर्थात् उनके

मूल्य का रुपया लेने की आवश्यकता होती है, तो दूसरे को रुपयों के बदले नोट की जरूरत होती है। इस प्रकार नोट वाले को अपने नोट का रुपया दूसरे आदमी से ही मिल जाता है, उसे सरकारी खजाने से रुपया लेने की जरूरत नहीं होती। निदान, किसी एक समय में बहुत कम आदमियों को अपने नोटों का रुपया सरकारी खजाने से लेने की आवश्यकता होती है। अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि यदि लोगों की आवश्यकता का ध्यान रखकर नोट जारी किये जायँ तो जितनी रकम के नोट निकाले जायँ, उसकी एक-तिहाई रकम खजाने में नकद जमा रखने से काम बखूबी चल सकता है।

कागजी मुद्रा सम्बन्धी सरकारी व्यवस्था—रिजर्व बैंक स्थापित होने से पूर्व भारत-सरकार को ही नोट निकालने का अधिकार था। अब यह अधिकार रिजर्व बैंक को प्राप्त है। इस सम्बन्ध में मुख्य नियम ये हैं:—

१—जितने रुपये के नोट निकाले जायँ, उतने रुपये का सोना, स्वर्ण-मुद्रा, ब्रिटिश सरकार की सिक्यूरिटियाँ, रुपया, या भारत-सरकार की सिक्यूरिटियाँ कागजी-मुद्रा-कोष में जमा रहनी चाहिएँ।

२—सम्पूर्ण कागजी-मुद्रा-कोष का ४० फी सैकड़ा भाग स्वर्ण-मुद्रा, सोना या ब्रिटिश-सरकार की सिक्यूरिटियों में होना चाहिये, जिसमें कम से कम ४० करोड़ रुपया स्वर्ण-मुद्रा या स्वर्ण में हो, और इसका ८५ फी सैकड़ा भाग भारतवर्ष में रहे।

३—कोष का शेष भाग रुपए, भारत-सरकार की सिक्यूरिटियों और स्वीकृत हुँडियों में होना चाहिए, परन्तु भारत-सरकार की सिक्युरिटियाँ

सम्पूर्ण कोष के चतुर्थांश से, या पचास करोड़ रुपए से अधिक की न होनी चाहिए। गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृति से दस करोड़ रुपया, भारत-सरकार की सिक्युरिटियों में और रक्खा जा सकता है।

सन् १६०२ ई० के कानून से ऐसा नियम है कि भारत-सरकार इस कोष का वह भाग जिसे वह धातु के रूप में रखना आवश्यक समझती है, लन्दन या भारत में, सोने या चान्दी अथवा दोनों में, अपनी इच्छानुसार रख सके। परन्तु चान्दी के सिक्के केवल भारतवर्ष में ही रखे जाते हैं, लन्दन में नहीं। कोष पर जो व्याज मिलता है, उसमें से कागजी-मुद्रा-विभाग का व्यय निकालकर जो शेष रहता है, वह 'नोट-प्रचलन के लाभ', मद में डाल दिया जाता है।

अभ्यास के प्रश्न

(१) द्रव्य के कार्यों को समझाइए। क्या कारण है कि सोना चांदी आदि बहुमूल्य धातुएं अधिकतर द्रव्य के लिए चुनी जाती हैं? (१६३८, १६३३)

(२) आजकल भारत में कागजी मुद्रा प्रचार और प्रबन्ध की विवेचना कीजिए। पहले जो व्यवस्था होती थी उसकी अपेक्षा इसमें क्या गुण दोष हैं? (१६३८)

(३) ग्रेशम के नियम की परिभाषा दीजिए तथा उसे विस्तारपूर्वक समझाइए? (१६३७)

(४) द्रव्य की परिभाषा लिखिए तथा उसके मुख्य कार्यों को

समझाइए। भारत में कागजी मुद्रा को रुपए में बदलने का क्या प्रबन्ध है? (१९३६)

(५) प्रामाणिक सिक्कों से आप क्या समझते हैं? भारत में प्रमाणिक द्रव्य का क्या नाम है? इसका किस प्रकार प्रबन्ध होता है? (१९३४)

(६) आप को 'द्रव्य' से क्या बोध होता है? भारतीय करेंसी पद्धति के मुख्य गुणों को स्पष्ट समझाइए। (१९३२)

(७) द्विधातु चलन पद्धति के गुण-दोष लिखिये।

अठाईसवाँ अध्याय

—:*:—

साख-पत्र

पिछले अध्याय में, कागजी मुद्रा के प्रसंग में कहा गया था कि नोट आदि वास्तविक सिक्के नहीं, वरन् अपने चलाने वालों की साख की बदौलत ही सिक्कों की जगह काम आते हैं। इस अध्याय में हम साख-पत्रों* पर कुछ विशेष विचार करते हैं।

साख का महत्व—साख का क्या अर्थ है? किसी आदमी की साख का अर्थ यह नहीं है कि उसके पास धन या पूंजी है; उसका अर्थ केवल यह है कि उस आदमी में रुपया उधार लेने की योग्यता या सामर्थ्य है। जिस आदमी की साख अच्छी है, अर्थात् रुपया वादे पर दे देने का, जिसका विश्वास किया जाता है, उसी को ऋण आसानी से और कम सूद पर मिल सकता है। इसके विपरीत जिसकी साख नहीं, या है, परन्तु यथेष्ट नहीं, उसे ऋण नहीं मिलता, या बहुत ब्याज पर मिलता है; क्योंकि ऋण देनेवालों को, रुपया वापिस मिलने का भरोसा नहीं होता। कभी ऋण लेनेवाला अपने किसी मिलनेवाले विश्वासी आदमी की जमानत देता है और कभी वह जमीन, मकान

---

* Credit Instruments.

जेवर आदि चीजों को गिरवी रखता है। कहावत प्रसिद्ध है कि 'जाय लाख, रहे साख।' व्यवसाय में साख निस्सन्देह एक बड़ी पूँजी का काम देती है। व्यवसाई अपनी साख के बल पर माल खरीदकर उस पर उतना ही स्वत्व या अधिकार प्राप्त कर लेता है, जितना नकद रुपया देकर खरीदने से होता है। साख के प्रभाव से सोने-चाँदी के सिक्कों की जरूरत कम हो जाती है; उनका बहुत-सा काम नोट और हुँडी आदि से निकल जाता है।

देश में बहुत-से आदमी ऐसे होते हैं, जिनके पास भिन्न भिन्न परिमाण में थोड़ा थोड़ा रुपया होता है। किसी के पास दस, बारह रुपये हैं, किसी के पास पन्द्रह, बीस और किसी के पास पचीस, तीस। इतनी रकम से ये लोग कोई उद्योग धंधा नहीं करते। इनका यह रुपया बेकार रहता है। परन्तु जब ये किसी बैंक के संचालकों का विश्वास करके अपनी अपनी रकम किसी बैंक में जमा कर देते हैं तो इन्हें कुछ ब्याज मिलने लग जाता है। उधर बैंकवालों के पास थोड़ी थोड़ी करके खासी रकम इकट्ठी हो जाती है और वे उसे किसी बड़े उत्पादक कार्य में लगा देते हैं, अथवा किसी उद्योग धंधे के काम के लिए दूसरे साखवाले अर्थात् विश्वसनीय साहसियों को उधार दे देते हैं। इस प्रकार साख से बैंकिंग का काम चलता है और देश के उत्पादन-कार्य में सहायता मिलती है।

जैसे आदमियों की साख की बात है, वैसे ही देशों की साख की। जिस देश की साख अच्छी होती है, उसे आवश्यक पूंजी आसानी से और कम सूद पर मिल जाती है और वह अपने यहाँ खेती तथा उद्योग

धंधों आदि की उन्नति तथा बेकारी आदि की समस्या का हल अच्छी तरह कर सकता है। इसके विपरीत जिस देश की साख अच्छी नहीं होती, उसे यथेष्ट रुपया उधार मिलने तथा अपनी आर्थिक उन्नति करने की ऐसी सुविधा नहीं होती।

साख-पत्र—यदि दो आदमी एक दूसरे से क्रय विक्रय अर्थात् नकद व्यवहार करते हैं तो एक को दूसरे की साख की कोई आवश्यकता नहीं। राम ने गोविन्द से बीस रुपये की किताबें ली और उसी समय उनकी कीमत चुका दी, तो क्रय विक्रय का यह विनिमय कार्य समाप्त हो जाता है। परन्तु यदि राम उस समय रुपया नहीं दे सकता और कुछ समय बाद देने का वायदा करता है तो गोविन्द के लिए यह जानना जरूरी है कि राम की साख कैसी है, क्या वह विश्वसनीय है। यदि गोविन्द की दृष्टि में राम विश्वसनीय है, तो वह राम को उधार माल दे देगा। इस दशा में राम गोविन्द को निर्धारित समय पर उसका रुपया चुकाने के सम्बन्ध में एक लिखित प्रतिज्ञा पत्र दे देता है। ऐसे प्रतिज्ञा पत्र साख पत्र कहलाते हैं।

साख पत्रों के मुख्य भेद निम्नलिखित हैं:—

१—प्रामिसरी नोट

२—हुंडी

३—चेक

प्रामिसरी नोट—प्रामिसरी नोट वह होता है, जिसको लिखकर कोई व्यक्ति दूसरे आदमी को निर्धारित समय पर कोई रकम देने का

वायदा करता है, इसमें किसी प्रकार की शर्त नहीं होती। इसका साधारण नमूना नीचे दिया जाता है:—

प्रयाग

ता० २० जून १९३८

आज से दो महिने में मैं श्री गोविन्ददास जी, पुस्तक भडार, प्रयाग को या जिस किसी के लिए उनका आदेश होगा, उसको उनसे प्राप्त पुस्तकों के मूल्य के रूप में २०) बीस रुपये देने की प्रतिज्ञा करता हूँ।

रामचन्द्र वर्मा,
दारागंज (प्रयाग)।

प्रामिसरी नोट पर एक आने का टिकट लगाया जाता है। उस टिकट पर ही, प्रामिसरी नोट लिखनेवाला हस्ताक्षर करता है। यदि रुपये के लिए कुछ ब्याज (सूद) देने की बात ठहरी होती है, तो उसका प्रामिसरी नोट में उल्लेख कर दिया जाता है।

हुँडी—उस पत्र को कहते हैं, जिसका लिखने वाला किसी आदमी को यह आज्ञा देता है कि वह अमुक व्यक्ति को, या अमुक व्यक्ति द्वारा निर्दिष्ट किसी अन्य व्यक्ति को, अथवा जिसके पास वह हुंडी हो उसे, निर्धारित रकम का भुगतान कर दे। भारतवर्ष में आन्तरिक व्यवहार के लिए हुंडी का उपयोग चिर काल से होता रहा है। ये प्रायः महाजनी या सर्राफी नामक एक विशेष लिपि में लिखी जाती है, जिस में प्रत्येक प्रान्त में कुछ भिन्नता होती है। इसके दो भेद होते हैं:—दर्शनी हुँडी, और मुद्दती हुँडी।

दर्शनी हुँडी—इसका भुगतान तत्काल करना होता है; इसका नमूना नीचे दिया जाता है:—

सिद्ध श्री प्रयाग शुभ स्थान श्री पत्री भाई हरचरण लाल वासुदेव प्रसाद जोग लिखी मथुरा से मूलचन्द शिव नारायण की जय गोपाल बंचना। आगे हुंडी किता एक आप ऊपर किया ४००) रु० अच्चरे चार सौ रुपये के नीमे दो सौ के दूने पूरे देना। यहां रखा भाई इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया, मथुरा वाले के पास। पहुँचने के साथ धनी जोग रुपया बाजार चलन हुंडी की रीति ठीक लगाये दाम चौकस कर देना।

मिति ज्येष्ठ शुक्ल ५, संवत १९९६

हस्ताक्षर ———————

'रुपया बाजार चलन' लिखने की रीति अठारहवीं शताब्दी से प्रचलित हुई, जब कि देश में कई प्रकार के सिक्के प्रचलित थे। देय रकम का आधा लिखने का कारण यह है कि उसमें कोई जालसाजी न की जावे।

मुद्दती हुंडी—इसका भुगतान तुरन्त नहीं होता; भविष्य में, अर्थात् कुछ निर्धारित समय पश्चात् करना होता है। इसका नमूना नीचे दिया जाता है।

सिद्ध श्री कानपुर शुभ स्थान श्री पत्री भाई गुलाबचन्द मनोहरलाल जोग लिखी वृन्दाबन से रामलाल प्रेमचन्द की जय श्री कृष्ण बंचना। अपरंच आपके ऊपर करी हुँडी एक, ८००) रु० अच्चरे, रुपया आठ

सौ, जिसके आधे चार सौ के दूने पूरे यहां रखे, श्री मूलचन्द देवीदास के पास। मिति कार्तिक सुदि ५ से दिन साठ पीछे नामे साह जोग हुंडी चलन कलदार दीजो।

मिति कार्तिक शुक्ल ५, सं० १९९६

हस्ताक्षर————————

चेक—यह किसी बैंक के नाम होता है, और इसका भुगतान उसी समय करना होता है, जब वह व्यक्ति जिसके नाम यह चेक होता है, रुपया मांगता है। बैंकों का काम अधिकतर अंगरेजी में होता है। उनकी चेक-बुक छपी हुई रहती है। चेक के नमूने का हिन्दी रूपान्तर अगले पृष्ठ में दिया जाता है—

जिसके नाम का चेक होता है, उसके हस्ताक्षर करने पर उसे बैंक रुपया दे देता है। यदि चेक में बेयरर शब्द हो अर्थात् उसके ऊपर आर्डर न लिखा हो तो चेक का रुपया, बैंक में चेक ले जाने वाले को दे दिया जायगा। इसके विपरीत यदि चेक पर आर्डर शब्द ही हो तो जिस व्यक्ति के नाम का चेक हो, वह जिसे आदेश करे, उसे ही रुपया मिल सकता है। यदि चेक के बाँये कोने पर दो तिरछी रेखाएं खींच दी जायँ तो उसे "क्रास-चेक" कहते हैं। क्रास-चेक का रुपया चेक वाले को नकद नहीं दिया जाता है, बैंक उसके हिसाब में जमा कर देता है, और यदि उसका बैंक में हिसाब न हो तो वह उस चेक को किसी अन्य ऐसे व्यक्ति को बेच देता है, जिसका बैंक में हिसाब है।

नम्बर.......

इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया

श्री०..............................

....

रु०..............................

....

रु०..... हस्ताक्षर..........

नम्बर.......

इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया

इलाहाबाद

ता०... ......

श्री०.............................. या आर्डर को

रुपया.............................. दे दो

रु० (अंक में)............ (हस्ताक्षर) ....

यदि तिरछी लकीरों के बीच किसी बैंक विशेष का नाम लिख दिया जाय तो रुपया उसी बैंक के जरिए मिल सकता है। उदाहरणार्थ आपने श्रीहरेशचन्द के नाम चेक काट कर तिरछी लकीरों के मध्य "इलाहाबाद बैंक" लिख दिया। ऐसी हालत में आम तौर पर श्री हरेशचन्द इस चेक को भुनाने के लिए इलाहाबाद बैंक में हिसाब खोलकर जमा कर देंगे। इलाहाबाद बैंक उक्त चेक का भुगतान आपकी बैंक से ले लेगी। संक्षेप में यह सब तरीके बेइमानी और जाल साजी से बचने के लिए किए जाते हैं।

नोटों के विषय में पहले लिखा जा चुका है। वे सरकार की साख पर चलते हैं। प्रामिसरी नोट, हुण्डी और चेक आदि का जनता के कारोबार पर वैसा ही प्रभाव पड़ता है, जैसा नोटों का। यदि साख-पत्र का व्यवहार न हो तो मानों इतने सिक्कों की कमी हो जाय, उनका मूल्य बढ़ जाय, अर्थात् पदार्थों की कीमत बहुत कम हो जाय। लोगों के कारोबार में कमी हो जाय, और इसे रोकने के लिए सोने चांदी के सिक्के अधिक बनाने पड़ें। इससे साख-पत्रों की उपयोगिता स्पष्ट है।

अभ्यास के प्रश्न

(१) साख-पत्र की परिभाषा दीजिए। करेंसी नोट, हुंडी और चेक में क्या अन्तर है? किस प्रकार देश में चेक का प्रचार बढ़ाया जा सकता है? (१९३५)

(२) द्रव्य तथा साख-पत्रों में क्या अन्तर है ? आधुनिक व्यापार तथा उद्योग-धन्धों को साख से क्या लाभ है ? (१६३३)

(३) निम्नलिखित पर नोट लिखिए:—

दर्शनी हुंडी, प्रामिसरी नोट, क्रास चेक, मुद्दती हुण्डी।

(४) बैंक द्वारा किन दशाओं में चेक अस्वीकृत कर दिया जाता है ?

(५) किसी व्यक्ति या देश की साख किन कारणों से कम हो जाती है ? साख कम होने से क्या हानि होती है ?

उन्तीसवाँ अध्याय

—:०:—

बैंक

इस अध्याय में भारतवर्ष के विविध बैंकों के सम्बन्ध में विचार करते हैं। पहले महाजनी और सर्राफी का विषय लेते हैं।

महाजनी—जिसे वास्तव में बैंकिंग कहा जाता है, वह तो आधुनिक काल की ही सृष्टि है। पहले यहाँ विशेषतया महाजनी का चलन था। बैंकिंग और महाजनी में अन्तर केवल यही है कि बैंक औरों से सूद पर रुपया कर्ज लेकर भी सूद पर उठाता है; पर महाजन कर्ज नहीं लेते थे, वे अपने ही अथवा औरों के (व्याज पर न रक्खे हुए) रुपए को सूद पर उठाते थे। इस प्रकार महाजन सूद लेते थे, पर देते नहीं थे। अब तो वे सूद देने भी लगे हैं। यहाँ भिन्न-भिन्न जातियों के आदमी—विशेषतया मारवाड़ी, भाटिए, पारसी या दक्षिण-भारत के चेटी—लेन-देन करते हैं। महाजन लोग औरों का रुपया जमा करते हैं, हुँडी पुर्जे का व्यवहार करते हैं, जेवर गिरवी रखकर रुपया उधार देते हैं, और सोना-चाँदी, या इन्हीं धातुओं की चीजें खरीदते हैं। हुँडियों का यहाँ प्राचीन काल से ही खूब चलन है। शहरों में बैंकों के कारण महाजनी का काम यद्यपि कम हो गया है,

किन्तु छोटे कस्बों और देहातों में अब भी बहुत होता है। छोटे व्यापारियों या उत्पादकों की पहुँच बड़े-बड़े बैंकों तक नहीं होती, उन्हें महाजनों द्वारा देश के आंतरिक कारोबार में अच्छी सहायता मिलती है।

देहातों में बनिए या महाजन कृषि के लिए पूँजी उधार देते हैं। कभी कभी अनुत्पादक कार्य या फिजूलखर्ची के वास्ते भी उनसे ऋण लिया जाता है। महाजन के विरुद्ध में बहुत-सी बातें कही जाती है; इसमें सन्देह नहीं कि उसकी कार्य-प्रणाली में कई दोष हैं, पर वह सर्वथा गुण-हीन भी नहीं है। अन्य अनेक संस्थाओं की भाँति महाजन में गुण-दोष दोनों का मिश्रण है। विशेषतया प्राचीन काल में महाजन ने ग्रामों के आर्थिक जीवन में महत्व-पूर्ण कार्य किया है। कृषि के धंधे को समय-समय पर पूँजी की आवश्यकता होती है, और महाजन ने इसकी विविध प्रकार से पूर्ति की है। वह निरा निर्दयी भी नहीं होता था। वह किसान की सुख-स्मृद्धि में ही अपने हित को समझता था। पर क्रमशः स्थिति में परिवर्तन हो गया। सरकारी लगान जिसकी जगह नक़दी में लिया जाने लगा। विगत शताब्दी की राजनैतिक उथल-पुथल में उसका परिमाण बढ़ गया, और उसे वसूल करने में सहृदयता का भाव कम रह गया। अन्य सरकारी कर भी बढ़ गए। उद्योग-धंधे नष्ट हो गए। आर्थिक आवश्यकताओं और पूँजीवाद के भावों ने महाजनों को लोभी बना दिया। इसके अतिरिक्त मालगुजारी और लगान अग्रदेय माने जाने, और सरकारी ऋण के बाद सहकारी समितियों के ऋण को मुख्य स्थान दिए जाने के कारण महाजन को अपना रुपया डूबने का भय बना रहता है, इसलिए भी वह सूद अधिक लेने लगा,

तथा हिसाब गढ़ने और झूठा जमा-खर्च करने, आदि के और भी बुरे-भले उपायों से अपनी आय बढ़ाने लगा।

शहरों में सेठ-साहूकार जायदाद रहन करके अथवा जेवर गिरवी रखकर ऋण देते हैं। ये लोग बहुधा अपने पास रहन रक्खी हुई जमीन को मोल लेकर जमींदार बन गए हैं। ये कभी-कभी व्यापारियों और दस्तकारों को भी रुपया उधार देते हैं। बहुत-से जमींदार, महंत आदि भी सूद से आमदनी पैदा करते हैं।

ऋण-दाताओं में काबुली पठान का एक विशेष परन्तु चिन्तनीय स्थान है। यह सौदागरी के साथ सूदखोरी करता है। उसके शिकार अधिकतर शहरों के मजदूर तथा हरिजन आदि होते हैं। वह इन्हें एक आने, दो आने, या इससे भी अधिक फी-रुपया प्रति मास सूद पर ऋण देता है। उसका लोगों पर इतना आतंक रहता है कि वे उसका रुपया जैसे-भी-बने चुकाते रहते हैं। फिर, पठान को कानूनी कार्रवाई से अधिक अपने डंडे का भरोसा रहता है, मार-पीट आदि क्रूर उपायों का अवलम्बन करने में उसे कुछ संकोच नहीं होता। काबुली पठानों का संगठन भी बहुत व्यापक है और ये जनता के दीन-हीन लोगों का भयंकर शोषण करते हैं। इनका नियंत्रण किए जाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

सरकार अकाल के समय बहुधा किसानों को भूमि की उन्नति करने और पशु, बीज तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ खरीदने के लिए, सन् १८८३ ई० के ऐक्ट के अनुसार, 'तकावी' देती है, और इस रुपए को

अच्छी फसल के अवसर पर वसूल कर लेती है। किन्तु राज-कर्मचारियों का समुचित व्यवहार न होने के कारण इस तरीके से विशेष सफलता नहीं हो रही है। फिर रकम भी, कृषकों की संख्या और आवश्यकता को देखते हुए, बहुत कम दी जाती है।

सर्राफी—कसबों में लोगों के लेन-देन के व्यवहार में सर्राफ बहुत सहायक होता है। इसे दक्षिण भारत में चेटी कहते हैं। साधारण कसबों के आदमी प्रायः बैंकों के सम्पर्क में नहीं आते; सर्राफ जन-साधारण और बैंकों के बीच में मध्यस्थ का काम करते हैं। उनका मुख्य कार्य यह होता है कि व्यापारियों से हुँडी खरीद लेते हैं और उनका रुपया जब स्वय नहीं चुका सकते तो बैंकों से दिलवा देते हैं। इसमें बैंकों को जो कुछ देना होता है, उसके अतिरिक्त सर्राफ हुँडीवालों से डेढ़ दो फीसदी अपने लिए वसूल करते हैं। जबतक कि मिश्रित पूँजी के बैंकों का यथेष्ट विस्तार और प्रचार नहीं होता, सर्राफों के कार्य का महत्व स्पष्ट है।

उपर्युक्त कार्य के अतिरिक्त सर्राफ नोट, सोने चाँदी के सिक्के, रेजगारी, और जेवर तैयार रखते हैं। सोने चाँदी के जेवर तथा बर्तन ये लोगों की आवश्यकतानुसार तैयार भी करा देते हैं। इसमें, कुछ दशाओं में ये काफी लाभ उठाते हैं। समय समय पर लोगों को नोटों के बदले रुपयों की, रुपयों के बदले नोटों की, अथवा रुपये की रेजगारी आदि की आवश्यकता होती है। उसकी पूर्ति सर्राफ करते हैं। सर्राफों को इसमें 'बट्टे' की आमदनी होती है।

बैंकों का कार्य—बैंको का काम रुपया जमा करना, व्याज पर उधार लेना, व्याज पर उधार देना तथा हुँडी-पुर्जे, चेक या नोट आदि खरीदना और बेचना है। जो लोग अपनी बचत का कोई अन्य उपयोग नहीं कर सकते, या नहीं करना चाहते, उनसे बैंक अपेक्षाकृत कम सूद पर रुपया उधार ले लेते हैं, और ऐसे आदमियों को कुछ अधिक सूद पर उधार दे देते हैं, जो उस धन से कोई लाभप्रद व्यवसाय चलाना चाहते हो। बैंक में जितने अधिक समय के लिए रुपया जमा किया जाता है, सूद उतना ही अधिक मिलता है; क्योंकि बैंकवाले उस रुपए से उतना ही अधिक लाभ उठा सकते हैं। जमा करनेवाले सब लोग अपना रुपया प्रायः एक-ही साथ वापिस नहीं लेते; कुछ आदमी वापिस लेते हैं, तो कुछ जमा भी करते हैं। अतएव बैंकवाले अपने अनुभव से यह जान लेते हैं कि उन्हें जमा करनेवालों का भुगतान करने के लिए कितना रुपया हर वक्त तैयार रखने का प्रबन्ध करना चाहिए। शेष रुपया वे अपने उत्पादक कार्यों में लगाते हैं।

बैंकों के भेद—भारतवर्ष में बैंक का कार्य करनेवाली संस्थाओं के निम्नलिखित भेद हैं:—

१—सहकारी बैंक।

(क) सहकारी साख-समितियाँ।

(ख) सेंट्रल सहकारी बैंक।

(ग) प्रांतीय सहकारी बैंक।

(घ) भूमि-बंधक बैंक।

२—पोस्ट-आफिस सेविंग बैंक।

३—मिश्रित पूँजी के बैंक।

४—इंपीरियल बैंक।

५—रिजर्व बैंक।

६—एक्सचेंज बैंक।

७—बीमा-कंपनियाँ।

सहकारिता—अब इनका क्रमशः परिचय दिया जाता है; पहले सहकारी बैंकों का विषय लेते हैं। इनके विविध भेदों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व सहकारिता की उपयोगिता जान लेनी चाहिए। भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार सहकारिता के कई भेद हो सकते हैं। अर्थ-शास्त्र में इसके मुख्य तीन भेद हैं—उत्पादकों की सहकारिता, उपभोक्ताओं की सहकारिता और साख की सहकारिता। भारतवर्ष में साख की ही सहकारिता अधिक प्रचलित है, और इस परिच्छेद का विषय बैंक होने के कारण हमें यहाँ इसी का विचार करना है। अस्तु, जो पूँजी किसी व्यक्ति को, अकेले उसकी साख पर, कभी-कभी बहुत कष्ट तथा प्रयत्न करने पर भी, नहीं मिल सकती, वही, कई मनुष्यों के मिलजाने पर, उन सब की साख के बल पर कम ब्याज पर, आसानी से और यथेष्ठ मात्रा में मिल सकती है। इस प्रकार साख के सम्बन्ध में सहकारिता का बड़ा महत्व है। भारतीय किसान-जैसे निर्धन लोगों के लिए तो साख की सहकारिता बहुत ही उपयोगी है।

सहकारी साख-समितियाँ—यहाँ सहकारी साख-समितयों की, सर्व-प्रथम संयुक्त प्रांत में, सन् १९०१ ई० में स्थापना हुई। इनके

संबन्ध में, भारत-सरकार ने पहला कानून सन् १६०४ ई० में बनाया इसका संशोधन १६१२ में किया गया। हरएक प्रांत के लिए एक-एक रजिस्ट्रार, सहकारी समितियों के स्थापन-कार्य में उत्तेजना देने के लिए, नियत है। ऐसा नियम बनाया गया है कि किसी गाँव या शहर में अगर एक ही जाति या पेशे के कम-से-कम दस आदमी मिलें, तो उनकी एक सहकारी समिति बन सकती है। उसके सदस्य वे ही हों, जों एक दूसरे को अच्छी तरह जानते हों। किसानों के लिए जो समितियाँ खोली जायँ, उनका प्रत्येक सदस्य अपनी समिति का कुल कर्ज चुकाने के लिए जिम्मेदार हो, अर्थात् वे समितयाँ अपरिमित देनदारी के सिद्धांत पर चलाई जायँ।

सरकार मुनाफे के बटवारे का नियंत्रण और निरीक्षण अपने हाथ में रखती है। बचत-कोष में काफी रकम जमा हो जाने पर मुनाफे का कुछ हिस्सा सभासदों को बाँटे जाने और उसकी दस फी-सदी तक रकम दान-धर्म में दी जाने की व्यवस्था है।

सन् १६१६ ई० के शासन विधान के अनुसार सहकारिता का विषय प्रांतीय सरकारों को हस्तांतरित कर दिया गया। प्रांतीय सरकारों ने सहकारिता के सन् १६१२ ई० के कानून को अपनी आवश्यकताओं तथा परिस्थिति के अनुसार समय समय पर संशोधित किया।

सेंट्रल और प्रांतीय सहकारी बैंक—सहकारी साख-समितियों की केन्द्रीय संस्था 'सेंट्रल बैंक' कहलाती है। ये बैंक एक जिले या उसके किसी हिस्से की सहकारी समितियों की सहायता करते हैं। ये ब्रिटिश भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में हैं। कुछ सेंट्रल बैंक देशी

रियासतों में भी हैं। इनका प्रधान कार्यालय बहुधा-जिले के सदर-मुकाम में होता है। ये प्रायः परिमित देनदारी का व्यवहार रखते हैं, और इनकी पूँजी हिस्सों (शेयरों) द्वारा प्राप्त होती है। इनके सदस्य, सहकारी समितियों के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति भी हो सकते हैं। ये सर्व-साधारण की अमानतें, मामूली सूद पर जमा करते हैं। ये अपने जिले की ग्राम-सहकारी-समितियों को, कुछ अधिक व्याज पर, रुपया उधार देते हैं। इन्हें जो लाभ रहता है, उसे निर्धारित नियमों के अनुसार अपने हिस्सेदारों में बाँट देते हैं।

कुछ प्रांतों में प्रांतीय सहकारी बैंक हैं। ये सेंट्रल बैंकों की सहायता तथा नियंत्रण करते हैं। प्रांतीय बैंकों में आदमी अपनी अमानतें मामूली व्याज पर जमा कर देते हैं; ये बैंक इंपीरियल बैंक तथा मिश्रित पूंजी के बैंकों से रुपया उधार भी लेते हैं। सेंट्रल बैंकों को रुपया उधार देने के अतिरिक्त ये बैंक अन्य बैंकिंग व्यवसाय भी करते हैं, यथा लोगों की, अन्न आभूषण आदि, संपत्ति गिरवी रखकर रुपया उधार देना, तथा चेक और हुंडी का भुगतान करना आदि।

सहकारी बैंकों का प्रबन्ध प्रायः स्थानीय आदमी ही करते हैं। वे अपनी सेवाओं के लिए कुछ नहीं लेते। इन बैंकों की आय पर सरकार कोई टैक्स आदि नहीं लेती। यदि कोई किसान किसी सहकारी बैंक का ऋण अदा न कर सके, तो सरकारी लगान दे चुकने पर बैंक का अधिकार किसान की जायदाद पर अन्य सब लेनदारों से पहले होता है।

इन बैंकों से निम्न-लिखित कई लाभ हैं—(१) ये गरीब किसानों

को कम सूद पर आवश्यक पूँजी दे सकते हैं। (२) ये बैंक केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही उधार देते हैं, इसलिए इनसे धन लेकर किसान लोग फिजूल-खर्ची नहीं कर सकते। (३) नालिश और दीवानी मुकदमों में खर्च किए जानेवाले देश के लाखों रुपयों की प्रतिवर्ष बचत हो सकती है। (४) सरकारी नौकरों, शिल्पकारों, किसानों और मजदूरों की बचत इन बैंकों में रक्खी जा सकती है। इनमें व्याज अधिक मिलता है, और धन के खो जाने का भय कम होता है। (५) इन बैंको से जन-साधारण में पारस्परिक विश्वास और सहायता के भावों की वृद्धि के साथ-ही-साथ दूरदर्शिता और मितव्ययिता आदि गुणों का भी विकास होता है। (६) इन बैंकों से कृषि, शिल्प, पुस्तकालयों, पाठशालाओं, सफाई, अच्छे मकानों और सुन्दर पशुओं की उन्नति और वृद्धि हो सकती है।

सहकारी समितियों और बैंकों का प्रधान उद्देश्य है, भारतीय किसानों की कर्जदारी दूर करना और उन्हें आर्थिक सहायता देना। यद्यपि इनके क्षेत्र में वृद्धि हो रही है, तथापि ये भारतवर्ष-भर की आवश्यकताओं की पूर्ति बहुत कम कर पाये हैं। इनकी, तथा इनके सदस्यों की संख्या क्रमशः लगभग एक लाख और ४५ लाख थी। समिति की सहायता, सभासद के अतिरिक्त, कुछ अंश में उसके कुटुम्ब को भी मिलती है, अब यदि एक कुटुम्ब में पाँच आदमियों का औसत माना जाय तो कुल सहकारी समितियों द्वारा ढाई करोड़ से भी कम आदमियों का थोड़ा-बहुत हित-साधन होता है। अतः भारतीय किसानों की संख्या देखते हुए भी इन समितियों और बैंकों की संख्या बहुत कम है।

भूमि-बंधक बैंक—अब हम सहकारी बैंकों के एक और भेद का—भूमि-बन्धक बैङ्क का—वर्णन करते हैं। सहकारी साख-समितियाँ किसानों को अधिक समय के लिए ऋण नहीं दे सकतीं। इस कार्य के वास्ते भूमि-बन्धक बैंक अधिक उपयुक्त हैं, जो कृषि-योग्य भूमि को रहन रखकर बीस-तीस वर्ष या इससे भी अधिक अवधि के लिए रुपया उधार दें, और पीछे उस रकम को, बहुत साधारण ब्याज सहित, छोटी-छोटी किश्तों में वसूल करें।

ये बैङ्क ऐसी छोटी-छोटी रकमों के डिबेंचरों (ऋण-पत्रों) द्वारा पूँजी संग्रह करते हैं; जिन्हें साधारण स्थिति के आदमी खरीद सकें। ये बैंक तीन प्रकार के होते हैं—(१) सहकारी, (२) अर्द्ध सहकारी, और (३) गैर-सरकारी। ब्रिटिश भारत के सब प्रांतों में अभी कुल भूमि-बन्धक बैङ्क केवल ६४ हैं, इनमें से भी ४२ अकेले मदरास प्रांत में हैं। इनको पूर्णतः सहकारी नहीं कहा जा सकता, ये अर्द्ध-सहकारी हैं, कारण, यद्यपि इनके अधिकतर सदस्य इनसे ऋण लेनेवाले व्यक्ति ही होते हैं, तथापि कुछ सदस्य ऐसे भी होते हैं—जो ऋण लेनेवाले नहीं होते। इन सदस्यों को बैङ्क के प्रबन्ध में सहायता पहुँचाना तथा पूंजी आकर्षित करने के लिए, बड़े व्यापारियों आदि में से लिया जाता है। ये बैङ्क परिमित देनदारी के होते हैं, ये लाभ का लक्ष्य रखकर, काम नहीं करते, वरन् सूद की दर घटाने का प्रयत्न करते हैं।

पोस्ट-आफिस सेविंग बैंक—यद्यपि जनता की बचत का रुपया जमा करने का खाता कुछ अन्य बैंकों ने भी खोल रक्खा है, तथापि बचत जमा करने का कार्य विशेषतया डाकखानों के सेविंग बैंक ही करने

हैं। ये बैंक सन् १८८२ ई० में, भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों में, खोले गए। इन बैंकों का काम क्रमशः बढ़ रहा है। शहर और कस्बे की तो बात ही क्या बहुत से बड़े-बड़े गावों के डाकखानों में भी सेविंग बैंक का काम होता है। इनमें छोटी-छोटी रकमें अधिक जमा होती हैं। ३१ मार्च १९३७ ई० को इन बैंकों में लगभग चालीस लाख आदमियों का हिसाब था, और उनमें कुल मिलाकर ७४ करोड़ से अधिक रुपया जमा था। यह ठीक है कि अधिकांश जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने से उनकी बचत जमा करने की विशेष सामर्थ नहीं, तथापि इन बैंकों में जमा की रकम बढ़ने की गुंजायश है।

मिश्रित पूँजीवाले बैंक—मिश्रित पूँजी की कम्पनियों के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। भारतवर्ष में मिश्रित पूँजी के बैंक ('जॉइंट स्टाक-बैंक') विशेषतया पिछले तीस वर्षों ही में अधिक हुए हैं। सन् १९०५ ई० से यहाँ औद्योगिक कार्यों की ओर विशेष ध्यान दिए जाने के कारण, इनकी अच्छी उन्नति होने लगी है। यद्यपि सन् १९१३ और १९२३ ई० में कुछ बैंकों का दिवाला निकलने से इनके कार्य को कुछ धक्का पहुँचा, परन्तु वह अस्थायीरूप से था। साधारणतया इनकी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। सन् १९३५ ई० में इन बैंकों की कुल पूँजी ८१७ लाख, रक्षित धन (रिजर्व) ५०२ लाख, और जमा (डिपाजिट) ८४,४४ लाख रुपये थी।

इंपीरियल बैंक—ता० २७ जनवरी, सन् १९२१ ई० को बङ्गाल, बम्बई और मदरास के प्रेसीडेंसी बैंकों के एकीकरण से भारतवर्ष में इम्पीरियल बैंक की स्थापना हुई। इसके काम-काज का नियंत्रण

करने के लिए डायरेक्टरों का एक सेन्ट्रल बोर्ड है, तथा बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में लोकल बोर्ड है। सेन्ट्रल बोर्ड के दो डायरेक्टरों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा होती है। इसके अतिरिक्त भी, सरकार इस बैंक के कार्य पर नियंत्रण रखती है। इस बैंक की, देश के भिन्न-भिन्न भागों में लगभग पौने दो सौ शाखाएँ हैं। सन् १९३४ ई० तक यही भारतवर्ष का सबसे बड़ा बैंक था। यह बैंक सरकार के बैंकिंग सम्बन्धी कार्य का एकमात्र अधिकारी था। यह तमाम सरकारी अमानतों को बिना ब्याज जमा करता था, जहाँ-जहाँ इसकी शाखाएँ थीं, वहाँ-वहाँ सरकारी कोषाध्यक्ष का कार्य सम्पादन करता था और सरकार के खाते जमा होनेवाली रकमें सर्वसाधारण से वसूल करता था। यह भारत-सरकार के सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध करता था। नीचे बैंक के साप्ताहिक ब्यौरे का एक नमूना दिया गया है।

इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया

(९ जून, १९३९ का साप्ताहिक ब्यौरा)

(लाख रुपयों में)

देनी		लेनी	
बिकी हुई हिस्सा-पूंजी	११,२५	गवर्मेन्ट सिक्युरिटी	४०,५७
प्राप्त हिस्सा-पूंजी	५,६३	अन्य निर्धारित लगाई पूंजी	६४
सुरक्षित कोष	५,५५	कर्ज	८,६०
मुद्दती जमा, सेविंग बैंक, चालू व अन्य हिसाब	८३,७८	नकद साख	२३२,२७

सिक्युरिटी पर कर्ज (दूसरी ओर)	...	खरीदी हुँडियाँ	४,६९
ग्राहकों की ओर से सकारी हुँडियाँ	७	सकारी हुँडियों के लिए ग्राहकों की देनी (दूसरी ओर)	७
अन्य	१,२२	जाकड़ माल	१,८८
		अन्य	८१
		अमुद्रित स्वर्ण	...
		अन्य बैंको के पास जमा	७,६३
		नक़द (हाथ में व रिजर्व बैंक के पास)	७,४९
कुल	९६,२५	कुल	९६,२५

बैंक के जितने शेयर बिके हैं उसका मूल्य ११२५ लाख रुपए है। इसमें बैंक को ५६३ लाख रुपए मिले हैं। बाकी ५६२ लाख बैङ्क किसी समय भी हिस्सेदारों से मांग सकती है। इसके अतिरिक्त बैंक के पास ५५५ लाख रुपए सुरक्षित कोष के रूप में ऐसे हैं कि उन्हें वह वक्त जरूरत तुरंत काम में ला सकती है। आमतौर पर ऐसे रुपए को गवर्मेन्ट सिक्यूरिटी में बैङ्क लगाता है। इम्पीरियल बैंक के भिन्न भिन्न प्रकार के एकाउन्ट में पब्लिक का ८३,७८ लाख रुपया हैं तथा ७ लाख रुपए की हुंडियों को चुकाने का जिम्मा बैङ्क ने अपने ग्राहकों की ओर से स्वयं उठा लिया है। १२२ लाख की अन्य फुटकर हिसाबो की रकम को लेकर इम्पीरियल बैंक को तारीख ९ जून को कुल ९६,२५ लाख रुपए का हिसाब चुकाना था। आप पूछ सकते हैं कि

सुरक्षित कोष आदि का रुपया बैंक किसको चुकावेगी। बात यह है कि पब्लिक ने जो रुपया जमा किया है वह पब्लिक लेगी और बाकी रकम शेयर होल्डरों की है।

इसी प्रकार दूसरी ओर ४०,५७ लाख रुपए की गवर्नमेन्ट सिक्युरिटी बैङ्क के पास हैं। इसके अलावा इम्पीरियल बैङ्क आफ इंडिया एक्ट के मुताबिक बैंक कुछ अन्य हिसाबों में भी अपना रुपया लगा सकती है। ऐसी रकम १४ लाख है। बैंक ने ८६० लाख रुपया कर्ज दे रक्खा है तथा २३,२७ लाख नकद साख में है जो आसानी से मिल सकता है। बैंक ने ४६६ लाख की हुंडियां खरीद रक्खी हैं। जैसे जैसे इन हुंडियों की तारीख आवेगी, बैङ्क उनसे रुपए वसूल कर लेगी। ग्राहकों की ओर से बैङ्क जब कुछ हुंडियों को चुकता करने का जिम्मा लेती है, तब किसी को कुछ देती लेती तो है नहीं, इसलिए इन हुंडियों की रकम खाते पर नहीं चढ़ाई जाती। परन्तु ब्यौरा बनाते समय बैंक की कुल देनी निकालने के लिए इस रकम को हिसाब में लेना जरूरी है। परन्तु हिसाब रखने की जिस पद्धति को काम में लाया जाता है उसके कारण "लेनी" में भी उतनी रकम दिखाए बिना दोनों ओर का जोड़ नहीं मिलेगा। अतएव ७ लाख की रकम इस ओर भी दिखाई गई है। बैङ्क के पास १८८ लाख रुपए का माल जाकड़ पड़ा है। अन्य बैङ्कों के पास इम्पीरियल बैङ्क का ७६३ लाख रुपया जमा है। चूंकि रिजर्व बैङ्क के पास जमा रुपया किसी समय भी मिल सकता है अतएव यह रकम नकद के बराबर है और नकद में जोड़ कर दिखाई गई है। बैंक के पास अमुद्रित स्वर्ण नहीं है।

सन् १६३४ ई० में, यहाँ भारतवर्ष के सर्वोच्च केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैङ्क स्थापित हुआ; इसके सम्बन्ध में आगे लिखा जायगा। अब इम्पीरियल बैङ्क ब्रिटिश भारत के उन स्थानों में रिजर्व बैङ्क का एक-मात्र एजंट होगा, जहाँ रिजर्व बैङ्क की कोई शाखा न हो और इम्पीरियल बैङ्क की शाखा हो। इस कार्य के लिए रिजर्व बैङ्क इम्पीरियल बैङ्क को दस वर्ष तक प्रथम २५० करोड़ रुपए के लेनदेन पर $\frac{१}{१६००}$ भाग और उसके उपरान्त शेष लेन देन पर $\frac{१}{३२००}$ भाग, पारिश्रमिक के रूप में दिया करेगा। दस वर्ष के बाद इसके सम्बन्ध में जाँच होकर, पाँच पाँच वर्ष के लिए पारिश्रमिक निर्धारित हुआ करेगा। रिजर्व बैंक की स्थापना के समय इम्पीरियल बैक की जितनी शाखाएँ थीं, उतनी शाखाएँ इसे जारी रखनी होंगी। इस कार्य के लिए रिजर्व बैङ्क इम्पीरियल बैङ्क को प्रथम पाँच वर्ष तक प्रति वर्ष ६ लाख रुपए, पश्चात् पाँच वर्ष तक प्रति वर्ष ६ लाख रुपए और बाद में पाँच वर्ष तक प्रति वर्ष ४ लाख रुपए देगा। यदि इम्पीरियल बैङ्क अपनी किसी शाखा के बदले दूसरी शाखा स्थापित करेगा तो उसे रिजर्व बैङ्क की अनुमति लेनी होगी।

रिजर्व बैंक—इस बैंक की स्थापना का विचार कई वर्ष से था, अन्ततः इसका कानून सन् १६३४ ई० में बनाया गया। यह शेयर-होल्डरों का बैङ्क है। भारतीय जनता के प्रतिनिधि चाहते थे कि इसे 'स्टेट बैंक' (राजकीय बैंक) बनाया जाय, (क्योंकि हिस्सेदारों का बैङ्क होने से उस पर अधिकांश में विदेशी पूँजीपतियों और कुछ भारतीय पूँजीपतियों का नियन्त्रण रहेगा), पर उनकी इच्छा पूरी न

हुई। इस बैंक की हिस्सा-पूँजी पाँच करोड़ रुपया है। एक एक हिस्सा सौ सौ रुपए का है, पाँच हिस्से लेनेवाले को एक मत का अधिकार होता है और एक हिस्सेदार के अधिक से अधिक दस मत हो सकते हैं। हिस्सेदारों के लिए भारतवर्ष और बर्मा को पाँच क्षेत्रों में विभक्त किया गया है, जिनके केन्द्रीय स्थान बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मदरास और रंगून हैं। इन पाँच स्थानों में इस बैंक के कार्यालय हैं। प्रत्येक कार्यालय में उसके क्षेत्र के हिस्सेदारों का रजिस्टर रहता है। उक्त स्थानों के अतिरिक्त बैङ्क की एक शाखा लन्दन में खोली गई है। विदेशों में, किसी अन्य स्थान में इस बैङ्क की शाखा या एजंसी गवर्नर-जनरल की स्वीकृति से ही खोली जा सकती है।

बैङ्क का निरीक्षण और संचालन 'सेंट्रल बोर्ड,' नामक कमेटी द्वारा होता है। इसमें निम्नलिखित संचालक 'डायरेक्टर' होते हैं:—(क) एक गवर्नर और दो डिप्टी गवर्नर; इनकी नियुक्ति बोर्ड की सिफारिश पर गवर्नर-जनरल करता है; ये अधिक से अधिक पाँच वर्ष के लिए अपने पद पर रहते हैं। (ख) चार संचालक, जिन्हें गवर्नर-जनरल नामजद करता है और, (ग) आठ संचालक जो भिन्न भिन्न क्षेत्रों के हिस्सेदारों द्वारा चुने जाते हैं। बोर्ड के गवर्नर और डिप्टी-गवर्नर के वेतन, भत्ते और कार्यकाल का निश्चय गवर्नर-जनरल करता है।

बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मदरास और रंगून में एक एक स्थानीय बोर्ड, स्थानीय कार्य के लिए रहता है। स्थानीय बोर्ड के सदस्यों में से पाँच उस क्षेत्र के हिस्सेदारों में से, उनके द्वारा ही निर्वाचित होते हैं और तीन सदस्य सेंट्रल बोर्ड द्वारा नामजद होते हैं।

इस बैंक के विशेषतया निम्नलिखित कार्य हैं:—(१) आवश्यकतानुसार नोट जारी करना (अब सरकार का मुद्रा-विभाग पृथक् नहीं है)। (२) भारत-सरकार, प्रान्तीय-सरकारों और देशी राज्यों तथा किसी व्यक्ति के रुपए बिना व्याज जमा करना। (३) निर्धारित नियमों के अनुसार, अधिक से अधिक तीन मास की हुँडी सकारना। (४) देशी राज्यों और स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं को तथा अन्य बैंकों की सिक्यूरिटियों, हुँडियों, या सोना चाँदी की जमानत पर भारत-सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों को बिना जमानत, तीन मास तक के लिए, रुपया उधार देना। (५) भारत सरकार, प्रांतीय सरकारों, देशी राज्यों, तथा स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं के लिए सोना-चाँदी खरीदना और बेचना। (६) सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध करना। (७) सरकार का लेन-देन सम्बन्धी कार्य करते हुए ब्रिटिश भारत की आर्थिक स्थिरता और साख बनाए रखना, लोगों को निर्धारित दर पर रुपए के बदले स्टर्लिङ्ग, (कागजी पौंड) और स्टर्लिङ्ग के बदले रुपए देना। (८) निर्धारित नियमों के अनुसार देश के बैङ्कों का रक्षित धन (रिजर्व) जमा रखना। (यह बैङ्कों का बैङ्क है, इसमें अन्य बैङ्कों का रुपया जमा रहता है, जिससे आवश्यकता उपस्थित होने पर यह उनकी सहायता कर सके, और उन्हें आर्थिक संकट से बचाए)। (९) सहकारी बैङ्कों को निर्धारित नियमों के अनुसार, तीन मास तक के लिए रुपया उधार देना, और कृषि-साख विभाग रखना जो कृषि-सहकारी-बैङ्कों के अधिकारियों और महाजनी सम्बन्धी अन्य संस्थाओं को परामर्श और सहायता दे।

यह बैङ्क अपना रुपया व्यापार या उद्योग धंधे में नहीं लगा सकता, अपने या किसी अन्य बैङ्क के शेयर नहीं खरीद सकता, न उन शेयरों की जमानत पर, अथवा अचल संपत्ति (भूमि, मकान आदि) की जमानत पर, रुपया उधार दे सकता है। यह बैङ्क मुद्दती हुँडी जारी नहीं कर सकता, और न उन्हें स्वीकार कर सकता है। नीचे बैङ्क के साप्ताहिक व्यौरे का नमूना दिया जाता है।

रिजर्व बैंक आफ इंडिया

(९ जून १९३९ का साप्ताहिक व्यौरा)

(लाख रुपयों में)

नोट-विभाग

देनी		लेनी	
बैङ्क विभाग में रखे हुए नोट	१७,९३	(क) स्वर्ण सिक्का व अमुद्रित स्वर्ण	
		(अ) भारत में	४१,५५
चालू नोट		(ब) भारत के बाहर	२,८७
भारत में कानूनन ग्राह्य	१,७९,७१	स्टर्लिंग सिक्यूरिटी	५९,५०
		(क) का जोड़	१,०३,९२
बर्मा में कानूनन ग्राह्य	१०,२१	(ख) रुपया (सिक्का)	६६,६५
जारी किए कुल नोट	२,०७,९१	गवर्नमेंट आफ इंडिया की रौप्य सिक्यूरिटी	३७,३४
		देशी हुंडियां व अन्य व्यवसायिक कागज	....
कुल देनी	२,०७,९१	कुल लेनी	२,०७,९१

(क) के जोड़ व देनी का अनुपात ४९·९८१%

बैंक-विभाग

देनी		लेनी	
प्राप्त हिस्सा पूँजी	५.००	नोट	
		भारत में कानूनन ग्राह्य	१७,६१
सुरक्षित कोष	५.००	बर्मा में ” ”	२
डिपाजिट		रुपया (सिक्का)	४
(अ) गवर्नमेन्ट		अन्य सिक्के	४
(क) भारतीय केन्द्रीय सरकार	५,३७	खरीदी हुण्डियाँ	
(ख) बर्मा सरकार	२,२७	(अ) देशी	......
(ग) गवर्नमेन्ट के अन्य एकाउन्ट	३,१७	(ब) विदेशी	.....
		(स) गवर्नमेन्ट आफ इंडिया ट्रेजरी बिल	२२
(ब) बैङ्क	१४,७३	विदेशों में जमा*	६,४८
(स) अन्य	८२	सरकार को कर्ज व एडवांस	१,८२
भुगतान देने योग्य हुण्डी	८	रोजगार में लगाई पूंजी	७,११
अन्य	१,२०	अन्य	१,००
कुल	३७,६४	कुल	३७,६४

जैसा कि स्पष्ट है रिजर्व बैङ्क का ब्यौरा दो हिस्सों में निकलता है एक नोट विभाग से और दूसरा बैंक विभाग से। नोट विभाग से

---

* इसमें नकद व अल्प कालीन सिक्यूरिटी मिली हैं।

भारत तथा बर्मा* में चालू नोटों का विवरण दिया रहता है। बैंक जितने नोट बनाती है उतने की वह देनदार है। इनमें से १७६३ लाख रुपए के नोट बैङ्क विभाग के पास हैं तथा १७६,७१ व १०२१ लाख रुपए के नोट क्रमशः भारत व बर्मा में चालू हैं। रिजर्व बैंक एक्ट के अनुसार जारी किए नोटों का ४०% स्वर्ण तथा स्टर्लिंग सिक्यूरिटी (अर्थात् इग्लैंड सरकार की सिक्यूरिटी) में रहना आवश्यक है)। इस ४०% में कम से कम ४० करोड़ का स्वर्ण होना चाहिए। रिजर्व बैंक के पास इस समय कुल मिला कर ४४,४२ लाख का सोना तथा ४६-६८१% सोना और स्टर्लिंग है। बैंक के पास ६६,६५ लाख के रुपए रक्खे हैं और ३७३४ लाख गवर्नमेन्ट आफ इंडिया की सिक्यूरिटी में जमा है।

बैंक विभाग के व्यौरा से जाहिर है कि बैंक ने जितने रुपए के हिस्से बेचे हैं उतने रुपए (अर्थात् ५ करोड़) उसे पूरे पूरे मिल चुके हैं। इम्पीरियल बैंक की भाँति इसने हिस्सों के रुपये बाकी नहीं छोड़ रक्खे हैं। बैंक के पास ५ करोड़ रुपये का सुरक्षित कोष भी तैयार है। भारत तथा बर्मा सरकार ने इस बैंक में कुल मिलाकर १०,८१ लाख रुपए जमा कर रक्खे हैं। केन्द्रीय बैंक होने के कारण देश की अन्य बैंकों को भी रिजर्व बैंक में कुछ रुपया रखना पड़ता है। इम्पीरियल बैङ्क आदि अन्य बैङ्कों के भांति रिजर्व बैङ्क डिपाजिट पर सूद नहीं देती तिसपर अन्य आदमियों ने ८२ लाख रुपया रिजर्व

---

* अभी तक रिजर्व बैंक आफ इंडिया ही बर्मा का भी हिसाब रखती है।

बैंक में जमा किया है। बैंक को ८ लाख की हुँडियों का भुगतान देना था। अन्य मदों के अन्तर्गत १२० लाख रुपए की देनी निकलती है।

नोट विभाग के ब्योरे से स्पष्ट था कि १७,६३ लाख के नोट बैंक-विभाग के पास हैं अर्थात् इन नोटों के बदले बैंक विभाग नोट विभाग से स्वर्णादि मांग सकती है। इस रकम में २ लाख के नोट ऐसे हैं कि जो बर्मा में चलते हैं। बैंक-विभाग के पास ४ लाख के रुपए तथा इतने ही के छोटे सिक्के हैं। खेद की बात है कि रिजर्व बैंक ने केवल २२ लाख रुपए गवर्नमेन्ट ट्रेजरी* को कर्ज दिया है और देशी हुँडियां आदि तनिक भी नहीं खरीदी हैं। भारत के बाहर बैंक का ६४८ लाख रुपया है, इसमें विदेशों में खरीदी सिक्यूरिटी आदि शामिल हैं। कर्ज व एडवान्स के रूप में भारत सरकार ने रिजर्व बैंक से १८२ लाख रुपया ले रक्खा है। ७११ लाख रुपए की छोटी सी रकम बैंक ने रोजगार में लगा रक्खी है। अन्य मदों के अन्तर्गत १ करोड़ रुपया है।

एक्सचेंज बैंक—एक्सचेंज या विनिमय बैंकों की स्थापना पचहत्तर वर्ष से हुई है। इनका मुख्य कार्य विदेशी व्यापार के लेने—पावने का भुगतान करना है। अब इनकी कुल संख्या १६ है। विदेशी बैंकों में से कई एक का प्रधान कार्यालय लंदन में है और शेष का

---

*गवर्नमेन्ट को जब कुछ महीनों के लिए रुपए की जरूरत होती है तो ट्रेजरी बिल नामक कागजों को बेच कर कर्ज उगाहती है।

जापान, फ्रांस, जर्मनी, अमरीका आदि देशों में है। पांच बैङ्क तो अपना अधिकाँश कारोबार भारतवर्ष में ही करते हैं और ग्यारह उन बड़ी बड़ी विदेशी बैंकिंग संस्थाओं की शाखाएँ और एजंसियां मात्र हैं, जो अपना कारोबार भिन्न भिन्न देशों में करते हैं। इन बैङ्कों में से प्रत्येक की कुछ शाखाएँ भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थापित हैं।

भारत के विदेशी एक्सचेंज़ बैङ्क विदेशी व्यापार की सहायता पहुँचाते हैं, भारतवर्ष के निर्यात-कर्त्ताओं से हुण्डियां खरीदते हैं, और ब्याज काटकर उनका रुपया विलायती बैङ्कों से, अथवा समय पूरा होने पर स्वयं उन व्यापारियों से, ले लेते हैं। ये अपने लंदन के कार्यालयों द्वारा इङ्गलैंड के निर्यात-कर्त्ताओं की हुण्डियाँ भी मोल लेते हैं। इस प्रकार ये भारतवर्ष के आयात-व्यापार में भी भाग लेते हैं। निर्यात-व्यापार पर तो इनका अधिपत्य-सा है। इन बैङ्कों द्वारा यहाँ खरीदी गई हुण्डियों का रुपया इङ्गलैंड में, और इङ्गलैंड में खरीदी हुई हुण्डियों का रुपया यहाँ, मिल जाता है।

विदेशी एक्सचेंज बैङ्क विदेशी व्यापार को सहायता पहुँचाने के अतिरिक्त अन्य प्रकार का वैकिंग कार्य भी करते हैं। इनमें भारतवासियों की अमानत की रकम क्रमशः बढ़ती जा रही है। सन् १६३५ ई० में इनमें यहाँ के ७६ करोड़ रुपए जमा थे। इस रकम का बहुत थोड़ा भाग ये यहाँ रखते हैं, अधिकांश भाग को विदेश भेज कर, स्वयं लाभ उठाने के अतिरिक्त, विदेशी व्यापारियों और कल-कारखाने वालों को लाभ पहुँचाते हैं।

कुछ समय से बम्बई में एक विनिमय बैङ्क स्थापित हुआ है। यह भारतीय है। इसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि इसकी शाखाएँ भिन्न-भिन्न देशों में हों। इसमें उसकी यहाँ के विदेशी बैङ्कों से प्रतियोगिता होती है। सरकार द्वारा उसे समुचित सुविधाएँ मिलनी चाहिए।

बीमा-कंपनियाँ—बैङ्कों के प्रसंग में बीमा-कंपनियों का भी विचार किया जाना आवश्यक है, कारण, ये लोगों को न केवल सेविंग-बैङ्कों की तरह, वरन् उनसे भी अधिक, बचत करने के लिए उत्साहित करती हों; इसके अतिरिक्त ये जमा की हुई उस बचत के द्वारा उद्योग-धंधा करने वालों के डिबेंचर (ऋण-पत्र) खरीद कर उनके काम में भी सहायक होती हैं। इन कम्पनियों के सम्बन्ध में अन्य बातों का परिचय प्राप्त करने से पूर्व यह जान लेना चाहिये कि बीमा क्या होता है, और यह कितने प्रकार का होता है। बीमा किसी वस्तु की सुरक्षा के लिए होता है। उदाहरणार्थ जहाज एक देश से दूसरे देश में माल ले जाता है, तो यह शंका रहती है कि वह माल कहीं समुद्र में डूब न जाय। बीमाकम्पनी मालियत के अनुसार निर्धारित दर से अपनी फीस लेकर माल का बीमा कर देती है। अब यदि माल डूब जाय तो जितनी कीमतके माल का बीमा किया हुआ होगा, उतनी हानि की पूर्ति कम्पनी करेगी। इसी प्रकार, मकान या कारखाने आदि का बीमा कराया जाता है, उसमें आग लगने आदि से जितनी रकम का नुकसान होता है, उतनी रकम देने का दायित्व बीमा करने वाली कम्पनी पर रहता है।

जिन्दगी का भी बीमा होता है। जो आदमी अपनी जिन्दगी का

जितने वर्ष का तथा जितने रुपए का बीमा कराना चाहता है, वह उसके नियमों के अनुसार निर्धारित किश्तों में किसी कम्पनी में रुपया जमा करता रहता है। बीमे की मियाद पूरी होने पर उसे बीमे की पूरी रकम तथा निर्धारित सूद या मुनाफा मिल जाता है। बैङ्क में रुपया जमा करने, और बीमा कराने में अन्तर है। बैङ्क में तो जमा करना न करना, जमा करनेवाले की इच्छा पर निर्भर है, पर बीमा करानेवाले को तो निश्चित समय पर किश्त का रुपया जमा करना ही पड़ता है, अन्यथा जमा किए हुए रुपए की हानि की आशंका होती है। फिर बैङ्क का रुपया तो चाहे जब उठाया जा सकता है, पर बीमे की रकम तो मियाद पूरी होने पर, पूरी ही मिलती है। इसके अतिरिक्त बैङ्क में तो जितना रुपया जमा होगा, उतना ही मिलता है।

भारतवर्ष की बैंक संबंधी आवश्यकताएँ—भारतवर्ष में बैंकों का आवश्यकता दिन दिन बढ़ती जा रही है। अपनी बचत का रुपया महाजनों के पास अथवा मिश्रित पूंजीवाले एवं अन्य बैंकों में जमा करने की रुचि लोगों में बढ़ रही है। तथापि यहाँ की आवश्यकताओं को देखते हुए बैंकों की बहुत कमी है। उदाहरणवत् एक खेती का ही विषय लीजिए। भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है और यहाँ के किसानों को पूँजी की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। यह होते हुए भी कृषि की सहायता के लिए यहाँ बैंकिंग की क्या व्यवस्था है? एक्सचेंज बैंकों का तो एक मात्र लक्ष्य विदेशी व्यापार की सहायता करना है। इम्पीरियल बैंक कृषकों से प्राप्त धन से बिना ब्याज लाभ उठाता है, तो भी कृषि की उन्नति की ओर उदासीन है। रिजर्व बैंक

भी केवल तीन मास के वास्ते रुपया उधार देने के नियम से, अपनी इस ओर असमर्थता की घोषणा कर रहा है, क्योंकि कृषि के लिए बहुत-सा ऋण बड़ी मियाद के लिए चाहिए। मिश्रित पूँजी के बैंकों का क्षेत्र देशी व्यापार है। सहकारी बैंक ही कृषि के लिए कुछ करते-धरते हैं, पर उन की शक्ति कितनी अल्प है, यह पहले बताया जा चुका है।

यही बात उद्योग-धंधों के सम्बन्ध में है। यहाँ अधिकतर बड़े-बड़े बैंक विदेशी पूँजी के, और विदेशी प्रबन्ध वाले हैं। उनका इस ओर ध्यान ही नहीं होता तथा उनसे यह आशा भी नहीं की जा सकती कि वे यहाँ की परिस्थिति से पूर्णतया परिचित हों, और यहाँ की औद्योगिक उन्नति से यथेष्ट क्रियात्मक सहानुभूति रक्खें। अस्तु, यह स्पष्ट है कि देश के आर्थिक उत्थान के वास्ते, विशेषतया कृषि और उद्योग-धंधों के लिये, विशेष प्रकार के बैंकों की अत्यन्त आवश्यकता है।

अभ्यास के प्रश्न

(१) मिश्रित पूंजी वाले बैंकों तथा महाजनों के विविध कार्यों की विवेचना कीजिए। (१९३८)

(२) भारत के ग्रामीण ऋणग्रस्तता के क्या कारण हैं? सहकारी साख-समितियां इस प्रश्न को हल करने में कहां तक सफल हुई हैं? (१९३७)

(३) रिजर्व बैंक आफ इंडिया के कार्यों को विस्तार पूर्वक समझाइए। (१९३७)

(४) भारत में कितने प्रकार की बैंक पाई जाती हैं? उनके कार्यों की संक्षेप में विवेचना कीजिए। (१६३६, १६३४)

(५) सहकारी साख के उद्देश्यों को समझाइए। इससे किसानों तथा दस्तकारों को क्या लाभ होता है ? यू० पी० में क्यों इसकी वृद्धि तीव्र गति से नहीं होती ? सकारण लिखिए। (१६३६)

(६) आप की ओर कौन कौन सी संस्थाएं किसानों, दस्तकारों, तथा उद्योग-धंधों व व्यापार वालों को आर्थिक सहायता देती हैं ? उनकी कार्य-प्रणाली में आप क्या रद्दोबदल करना चाहेंगे ? (१६३)

(७) बैंक के कार्यों का विश्लेषण कीजिए। भारत के बैंक सम्बन्धी व्यवस्था में महाजनों, जाइंट स्टाक बैंकों, व इम्पीरियल बैंक के महत्व की तुलनात्मक विवेचना कीजिए। (१६३२)

(८) 'एक्सचेन्ज बैंकों द्वारा भारत को बहुत लाभ पहुँचता है।' 'अन्य व्यापारी की अपेक्षा बैंक वाला अधिक जिम्मेदारी उठाता है।' उक्त कथनों की विवेचना कीजिए। (१६२६)

पञ्चम खंड

वितरण

तीसवाँ अध्याय

—:*०*:—

लगान

वितरण—यदि रामअवतार स्वयं सब वस्तुएँ इकट्ठा करके मिट्टी के बर्त्तन बनाता है और फिर उन्हें स्वयं बाजार में बेचता है, तो जो पैसे मिलेंगे, उनका वही हकदार होगा। परन्तु यदि मिट्टी तो कल्लू जमा करे, रामअवतार बर्तन बनावे और बेचने के लिए रामानंद बाजार जावे, तो बर्तनों को बेचने से मिलने वाले पैसों में तीनों का हिस्सा होगा।

दरअसल प्रत्येक आधुनिक कार्य में भूमि, श्रम, धन, व्यवस्था और साहस की आवश्यकता है। किसी मिल का उदाहरण ले लीजिए। किसी जमीन पर एक करोड़पति सब सामान एकत्र करके मिल खड़ी करता है और मज़दूर श्रम करते हैं। मैनेजर मिल की व्यवस्था तथा देखभाल करता है। अन्त में यह भी मानना पड़ता है कि मिल, मिल-मालिक के साहस के कारण चली। इसलिए मिल-मालिक को इस साहस का भी फल मिलना चाहिए। 'वितरण' में यह विचार किया जाता है कि उत्पत्ति के साधनों के मालिकों अर्थात जमीदार, श्रमी, पूंजीपति, व्यवस्थापक और साहसी को अपना अपना हिस्सा कितना और किस प्रकार

मिलता है। यह तो हम सब जानते हैं कि मज़दूरों को हर सप्ताह, पक्ष या महीने तनख्वाह देना पड़ेगा, अन्यथा वे गरीब किस प्रकार अपना खर्च चलावेंगे। इसी प्रकार पूंजीपति को भी तीसरे, छठें या बारहवें मास सूद मिलना चाहिए। पर मिल का हिसाब तो अधिकतर साल के अन्त में लगता है। तभी यह पता चल सकता है कि कितने का माल बिका अथवा तैयार हुआ। तब यह किस प्रकार निश्चय होवे कि मज़दूरों और पूंजीपति को किस दर से मज़दूरी व सूद दी जाए। इसी प्रकार भूमि के उपयोग के लिए लगान, मैनेजर का तनख्वाह और साहस के लिए मुनाफा चाहिए। ये सब किस प्रकार से निश्चित होते हैं यह 'वितरण' में ही बताया जाता है।

आर्थिक लगान—हम पहले लगान पर विचार करते हैं। भूमि के उपयोग के लिये जमींदार को जो रकम दी जाती है उसे साधारण बोलचाल में लगान कहते हैं। प्राचीनकाल में जब भूमि मनुष्यों की अपेक्षा बहुत अधिक थी, तब प्रत्येक आदमी अपनी इच्छानुसार उसका उपयोग कर सकता था। जनसंख्या-वृद्धि के कारण भूमि की मांग बढ़ गई। जो भूमि जिसके अधिकार में थी वही उसका मालिक बन गया। अब अगर किसी के पास आवश्यकता से अधिक भूमि हुई तो उसने उसके उपयोग का अधिकार दूसरे को देकर उसके बदले में उत्पत्ति का कुछ हिस्सा, जिसे लगान कहते हैं, लेना आरम्भ किया।

प्रत्येक भूमि की उत्पादकता एक सी नहीं होती। किसी भूमि में अधिक पैदावार होती है तो किसी में कम। इसके अलावा भूमि की स्थिति के कारण भी खर्च विभिन्न होने से उसकी उत्पादकता में फर्क

होता है। यदि संसार में स्थिति और पैदावार के लिहाज से उत्तम प्रकार की भूमि ही होवे तो मनुष्य कम उत्पादक जमीन में कभी खेती-बारी न करे। मान लीजिए दो समान खेतों में क्रमशः बीस और पंद्रह मन गेहूँ होता है। अतएव पहले खेत का लगान पांच मन गेहूँ के बराबर होगा। इसी प्रकार नीचे की सारिणी में एक खेत में लगाए गए श्रम और पूंजी की एकाई व उपज दिखाई गई है—

श्रम व पूंजी	उपज (मन में)	सीमान्त उपज (मन में)
१	१०	१०
२	२५	१५
३	३८	१३
४	४८	१०
५	५६	८

स्पष्ट है कि क्रमागत-ह्रास-नियम के कारण श्रम व पूंजी की तीसरी एकाई से सीमान्त उपज कम होती जाती है। और उक्त खेत में श्रम और पूंजी तभी तक लगाई जाएगी, जब तक उसे लगाने का खर्च सीमान्त उपज के बराबर न हो जाएगा। यदि श्रम और पूंजी की एकाई का मूल्य आठ मन गेहूँ हो तो उपर्युक्त उदाहरण में श्रम और पूंजी की केवल ५ एकाईयाँ ही लगाई जायँगी और उपज का परिमाण ५६ मन होगा।

खेत का आर्थिक लगान (१०–८), (१५–८), (१३–८), (१०–८) का जोड़ होगा। अर्थात उक्त भूमि का मालिक १६ मन गेहूँ आर्थिक

लगान के रूप में मांग सकता है। साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि किसी खेत का आर्थिक लगान कुल उपज की कीमत और उत्पादन-व्यय के अंतर के बराबर होता है; तथा खेतों की विभिन्न उत्पादकता व क्रमागत-ह्रास-नियम ही के कारण लगान मिलता है। सब खेतों की उत्पादकता बराबर हो तथा क्रमागत-ह्रास-नियम न लागू होवे तो लगान नहीं पाया जाएगा। खेती से प्राप्त वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि, याता-यात के साधनों की सुविधा, जनसंख्या की वृद्धि तथा उपज के तरीकों के सुधार से आर्थिक लगान में वृद्धि होती है।

लगान के भेद—परन्तु हम ऊपर जिस लगान की बात कर रहे थे, वह उस लगान से भिन्न है जो रामू किसान जमींदार को देता है। रामू जमींदार को जो लगान देता है उसे "कुल लगान" कहा जाता है। कुल लगान में आर्थिक लगान के अतिरिक्त जमीन में लगे हुए मूल धन का सूद और जमीन के मालिक का विशेष लाभ भी सम्मिलित रहता है।

लगान का नियम—किसी भूमि का आर्थिक लगान उस पर होने वाली आर्थिक बचत के बराबर होता है। इस आर्थिक बचत को निकालने के लिए कुल उपज से उत्पादन-व्यय घटाना पड़ता है। यह तरीका ऊपर बताया जा चुका है। दूसरा ढंग यह है कि खेत की उपज से सीमान्त खेत की उपज घटा दी जाय। सीमान्त खेत वह खेत है, जिस पर जितना उत्पादन व्यय होता है, उतनी ही उपज होती है। अर्थात् यदि पचास रुपए खर्च किए गए हैं, तो पचास ही

रुपए की उपज पैदा होती है। सीमान्त खेत निम्नतम खेत होता है। अन्य खेतों में जितना व्यय किया जाता है उससे अधिक की उपज मिलती है। अतएव यह मान कर कि प्रत्येक खेत में एक समान श्रम व पूंजी लगाई जाती है, किसी खेत का लगान उसकी और सीमान्त खेत की उपज के अंतर के बराबर होता है।

लगान पर दस्तूर, आबादी, स्पर्द्धा का प्रभावः—भूमि के पास पास के दो टुकड़ों में भिन्न भिन्न गुण होते हैं। अतः गुणों के अनुसार दोनों समान क्षेत्र वाले टुकड़ों का लगान भिन्न भिन्न होता है। जब आबादी या कारखानों की वृद्धि या रेल के खुलने के कारण जमीन की मांग बढ़ती है, तो लगान भी बढ़ता है और जब कारखाने टूटने लगते हैं, आबादी कम होने लगती है, तो लगान कम हो जाता है। पहले यहां जब तक कोई कृषक दस्तूर के माफिक लगान देता रहता था, तब तक वह अपनी इच्छा के विरुद्ध बेदखल नहीं कराया जा सकता था। पीछे समय समय पर युद्ध, महँगी और बीमारियों के कारण भारतवर्ष के उपजाऊ भागों की आबादी कम हो गई और जमींदारों को दूर दूर के कृषकों को अपनी अपनी भूमि की ओर आकर्षित करने के लिए आपस में स्पर्द्धा और कृषकों के साथ रियायत करनी पड़ी। इस प्रकार लगान सम्बन्धी दस्तूर टूटने लगा। किन्तु आज कल एक दूसरे कारण से भी दस्तूर टूट रहा है। जनता की वृद्धि होने और उपज के बाजार का क्षेत्र बढ़ने से भूमि की मांग बढ़ गई है।

लगान का नियम और भारतवर्ष—लगान का उपर्युक्त नियम भारतवर्ष में बराबर लागू नहीं होता। लगान के नियम के लागू होने

के लिए यह अनिवार्य है कि किसान और भूमि के मालिक के बीच अबाधित प्रतियोगिता होवे। परन्तु कुछ तो दस्तूर के कारण और कुछ सरकारी कानून के कारण भारत में यह बात नहीं है। घरेलू उद्योग धंधों की अवनति तथा जन-संख्या में वृद्धि होने के कारण लोग खेतों की ओर झुकते हैं। पर भूमि तो परिमित है, अस्तु; प्रतियोगिता के कारण भूमि का लगान बहुत बढ़ जाता है। अतएव किसानों की भलाई के लिए यह आवश्यक है कि सरकार बीच में पड़े और कानून द्वारा किसानों को अत्यधिक लगान देने से बचावे।

भारतवर्ष में प्रचलित मालगुजारी-प्रथा:—भारतवर्ष में दो प्रकार की मालगुजारी-प्रथा पाई जातीं हैं—जमींदारी और रैयतवारी।

जमीदारी-प्रथा के अंतर्गत किसी गांव या गांवों के समूह की मालगुजारी* सरकार को अदा करने का जिम्मेवार जमीदार होता है।

रैयतवारी-प्रथा में हर एक किसान स्वयं सरकार को लगान अदा करता है। जमीदारी की तरह इसमें किसान और सरकार के बीच में कोई व्यक्ति नहीं होता मद्रास प्रांत के कुछ भाग और बंबई प्रांत में रैयतवारी प्रथा प्रचलित है। जमीदार या किसान सरकार को कितनी मालगुजारी देगा यह बन्दोवस्त† के समय निश्चित किया जाता है। भारत में दो प्रकार के बन्दोबस्त हैं स्थायी और अस्थायी।

स्थाई बन्दोबस्त—ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय बंगाल के जमींदार किसानों पर बहुत ज्यादती करने लगे और उनसे मनमाना

---

* Land Revenue

† Settlement

लगान वसूल करने लगे। फलस्वरूप जमीन परती पड़ी रहने लगी और किसान भूखों मरने लगे। इन बुराइयों को देख कर लार्ड कार्नवालिस ने जमींदारों से स्थाई बन्दोबस्त किया अर्थात् यह तय हुआ कि किसानों से मिलनेवाले लगान का करीब ६०°/₀ भाग सरकार में जमा किया जाएगा। सोचा गया था कि पहले होनेवाले हरसाल के खर्च और तरद्दुद तो दूर हो ही जाएँगे, जमीदार स्वयं सार्वजनिक शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की उन्नति करेंगे। परन्तु यह आशा पूर्ण नहीं हुई। बंगाल, बिहार, और युक्तप्रान्त की बनारस कमिश्नरी में स्थायी बन्दोबस्त है।

अस्थाई बन्दोबस्त—अस्थाई बन्दोबस्त में सरकार को दी जानेवाली मालगुजारी अधिकतर हर तीसवें या बीसवें साल सरकारी अफसरों द्वारा निश्चित की जाती है। युक्तप्रान्त, पंजाब, मध्यप्रान्त और देश के रैयतवारी भागों में अस्थायी बन्दोबस्त है।

संयुक्तप्रान्त के काश्तकार—संयुक्तप्रान्त में लगान सम्बन्धी जो कानून बना है, उसके अनुसार निम्नलिखित भाँति के किसानों के अधिकार नीचे दिये जाते हैं—

स्थायी-दर से लगान देनेवाले काश्तकार*—इनका लगान स्थायी रूप से निश्चित हो चुका है। जब तक ये अपना लगान बराबर चुकाते जाते हैं, ये बेदखल नहीं किये जा सकते। इनको अपनी जमीन बेचने का पूर्ण अधिकार है। ये स्थायी बंदोबस्त वाले भाग में पाये जाते हैं।

---

* Fixed-rate Tenant

मौरूसी काश्तकार *—इन किसानों को अपनी जमीन पर पूर्ण अधिकार है। वे अपनी जमीन को बेच सकते और गिरवी रख सकते हैं। इनका लगान बन्दोबस्त के समय निश्चित किया जाता है और जब तक ये अपना लगान जमीदार को बराबर देते जाते हैं, अपनी जमीन से साधारणतः बेदखल नहीं किये जा सकते। बन्दोबस्त के समय या सरकारी अफसरों की आज्ञानुसार ही इनका लगान घटाया बढ़ाया जा सकता है।

कानूनी काश्तकार†—संयुक्त प्रांत के आगरा प्रांत में इन किसानों को अपने जीवन भर बेदखल न किये जाने का अधिकार है, यदि वे सरकार द्वारा निश्चित लगान जमीदार को बराबर देते जावें। किसान के मरने के बाद उसका उत्तराधिकारी भी पांच वर्ष तक बेदखल नहीं किया जा सकता। अवधप्रांत में ऐसे किसानों को कम से कम दस वर्ष तक बेदखल न किये जाने का अधिकार प्राप्त है। अब इस प्रांत में जो नया कानून लगान बन रहा है उसके अनुसार कानूनी काश्तकारों को मौरूसी काश्तकारों के सब अधिकार मिल जावेंगे।

ग़ैर मौरूसी काश्तकार‡—इन किसानों को खेतों पर कोई विशेष अधिकार प्राप्त नहीं रहते। ये साधरणतः जमींदारों की सीर या खुद-काश्त जमीन जोतते हैं। इनका लगान जमीदार की सुविधानुसार घटाया बढ़ाया जा सकता है और ये आसानी से बेदखल किये जा सकते हैं। इनकी आर्थिक दशा अच्छी नहीं है।

* Occupancy Tenant † Statutory Tenant

‡ Non-Occupancy Tenant

शिकमी दर शिकमी काश्तकार*—इन किसानों के पास निज की जमीन नहीं रहती है। ये अन्य काश्तकारों की जमीन बटाई पर या निश्चित लगान पर जोतते हैं। यह लगान प्रायः प्रति वर्ष काश्तकारों की सुविधानुसार घटाया बढ़ाया जाता है और ये खेतों से आसानी से बेदखल किये जा सकते हैं।

संयुक्त प्रांत का नया (१९३९ का) कानून लगान—इस प्रांत का कानून लगान दोष पूर्ण है। उसके कुछ दोषों को दूर करने के लिये इस प्रांत की काँग्रेस सरकार ने प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं के सामने नए कानून लगान का मस्विदा पेश किया है। उसकी प्रधान विशेषताएँ नीचे लिखे अनुसार हैः—

(१) जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कानूनी काश्तकारों को मौरूसी हक प्राप्त हो जायेंगे।

(२) मौरूसी काश्तकार लगान न देने पर भी आसानी से बेदखल न किये जा सकेंगे। उनको दो तीन वर्ष का समय दिया जाया करेगा और अधिक से अधिक ये अपनी आधी जमीन से ही बेदखल हो सकेंगे।

(३) किसान अपने खेतों में बिना जमीदार की इजाजत के पेड़ लगा सकेंगे और सुधार कर सकेंगे।

(४) यदि किसी कारण कोई किसान अपने खेत से सरकारी अफ-सरों की आज्ञा से बेदखल किया गया तो उसने उस खेत में जो सुधार किये हैं, उसका मुआवजा उसे मिलेगा।

---

* Sub-tenant

(५) बन्दोबस्त के समय काश्तकारों के लगान इस प्रकार से निश्चित किये जावेंगे, जिससे उनका भार गरीब किसानों पर कम पड़ेगा।

आदर्श बन्दोबस्त—आदर्श बन्दोबस्त-प्रथा के लिए दो बातें आवश्यक हैं। एक तो यह कि किसान को यह अधिकार हो कि जब तक वह लगान चुकाता जाता है, तब तक कोई उसे बेदखल न कर सके। दूसरी बात यह है कि उन्हें जो लगान देना पड़ता है वह उचित हो। खेत जोतने का हक मौरूसी हो जाने के कारण किसान अपने खेत की उन्नति कर सकता है। इसके विपरीत अगर उसे आए दिन बेदखली का डर बना रहेगा तो वह कुछ उन्नति न करेगा। इसी प्रकार उचित लगान के बिना भी किसान को खेती और खेत की वृद्धि करने में दिलचस्पी नहीं होती। यों तो कहा जा सकता है कि लगान "आर्थिक लगान" के बराबर होना चाहिए। युक्त प्रांत में लाखों किसान ऐसे हैं, जिनके पास बहुत थोड़ी जमीन है जिससे खेती का लागत खर्च ही नहीं निकलता। फिर भी ऐसे किसानों से लगान लिया जाता है। गरीब किसानों को लाचार होकर यह लगान अपना पेट काटकर देना होता है। इससे उनकी आर्थिक दशा और भी खराब हो जाती है। युक्तप्रांत की सरकार को कानून लगान में ऐसा परिवर्तन कर देना चाहिये जिससे किसी किसान से लगान आर्थिक लगान से अधिक न लिया जाया करे।

अभ्यास के प्रश्न

(१) आधुनिक काल की वितरण समस्या का संक्षेप में विवेचन कीजिए। (१९३२)

(२) वितरण के अन्तर्गत हम क्या अध्ययन करते हैं ? हम किस वस्तु का वितरण करते हैं और कैसे ? (१६२६)

(३) वितरण से आप क्या समझते हैं ? चीनी की एक मिल में एक लाख मन चीनी जाड़े में तैयार होती है। बेचने पर दस लाख रुपया वसूल हुआ। इस रकम का किस प्रकार वितरण होगा ? (१६३५)

(४) लगान का नियम लिखिए व समझाइए। आपकी राय में यह भारतवर्ष में कहाँ तक लागू होता है ? (१६३७)

(५) किन अवस्थाओं में जमीन की मिलकियत आदर्श होती है ? व्यवहार तथा कानून के द्वारा यू० पी० की जमीन की मिल-कियत पर क्या प्रभाव पड़ा है ? (१६३५)

(६) आर्थिक लगान तथा इकरार द्वारा निश्चित लगान में क्या अन्तर है ? लगान के नियम की परिभाषा लिखिए तथा बताइए कि वह कहाँ तक भारत-भूमि पर लागू होता है ? (१६३४)

(७) 'किसानों के प्रति सरकार का यह कर्त्तव्य है कि मिलकियत स्थिर कर देवे और उचित लगान लगावे।'' यू० पी० सरकार इस सम्बन्ध में कहाँ तक सफल हुई है। (१६३३)

(८) लगान का नियम बताइए। लगान किस प्रकार बढ़ता है ? यह किस प्रकार नापा जाता है ? किन दशाओं में लगान बढ़ जाता है ? उदाहरण सहित समझाइए। (१६३२)

(९) यू० पी० में प्रचलित भूमि के बन्दोबस्त का वर्णन कीजिए (१९३९)

(१०) क्या निम्न दशाओं में आर्थिक लगान पाया जायगा ? :—

(अ) यदि क्रमागत-ह्रास नियम-न लागू हो।

(ब) यदि सारी भूमि सरकार की हो।

(स) यदि जमीन के मालिक ही खेती करें।

(द) यदि उत्तम भूमि अपरिमित हो। (१९२९)

इकत्तीसवाँ अध्याय

—:०*०:—

मज़दूरी

प्राक्कथन—श्रम करनेवाले को उसके श्रम के बदले में जो धन दिया जाता है, उसे 'मज़दूरी' कहते हैं। मासिक मजदूरी प्रायः वेतन कहलाती है। सर्व-साधारण में 'वेतन'-शब्द अधिक आदर-सूचक है; परन्तु अर्थ-शास्त्र में ऐसा कोई भेद नहीं। अपनी भूमि पर, अपने ही औजारों से काम करनेवाले बढ़ई, लुहार आदि को जो मजदूरी दी जाती है, वह सब वास्तव में केवल मजदूरी ही नहीं होती, उसमें उनकी भूमि का लगान तथा उस मूलधन का सूद भी मिला होता है, जो इन कारीगरों का अपने औजार खरीदने में लगा है।

नकद और असली मजदूरी—पहले बताया जा चुका है कि उत्पादकों को आज-कल प्रायः उत्पन्न पदार्थ का कोई हिस्सा न देकर ऐसी रकम दी जाती है, जो उनके हिस्से के पदार्थ की कीमत हो। इस प्रकार श्रमजीवियों के श्रम से जो वस्तु पैदा होती है, वही वस्तु उन्हें नहीं दी जाती; यदि दी जाय, तो बड़ी असुविधा हो। मान लो, कोई श्रमजीवी लोहे या कोयले की खान में काम करता है। यदि उसे उसके श्रम के बदले लोहा या कोयला ही दिया जाय, तो वह उसका क्या

करेगा ? उसे इनके बदले अपनी आवश्यकता के पदार्थ—अन्न-वस्त्र आदि—प्राप्त करने होंगे। और, यह काम हर समय और हर स्थान में सहज ही नहीं हो सकता। इसलिए आजकल श्रमजीवियों को उनके श्रम का प्रतिफल प्रायः रुपए-पैसे में चुकाया जाता है। इसे नकद मजदूरी कहते हैं। यदि मजदूरी अन्न-वस्त्र आदि पदार्थों में दी जाय, तो इन पदार्थों के परिमाण को मजदूरों की असली मजदूरी कहा जाता है। इसमें मकान, शिक्षा, या मनोरंजन आदि वे विशेष सुविधाएँ भी सम्मिलित होती हैं, जो मजदूरों को उनके मालिकों की ओर से प्राप्त होती हैं।

नकद मजदूरी से श्रमजीवियों की दशा का ठीक अनुमान नहीं होता। उदाहरणार्थ अगर मोहन को रोजाना ॥) मिलते हैं, और उसके नगर में गेहूं का भाव दस सेर का है, तथा सोहन को रोजाना ॥=) आने मिलते हैं, और उसके नगर में गेहूँ का भाव छः सेर का है, तो सोहन की नकद मजदूरी अधिक होने पर भी, असली मजदूरी मोहन को ही अधिक मिलती है। इसी प्रकार अगर दोनों को अपनी विविध आवश्यकताओं का सामान बराबर ही मिले, परन्तु मोहन को रहने का मकान आदि मुफ़्त मिलता है, अथवा कार्य करने के घंटों के बीच में अवकाश या मनोरंजन का ऐसा अवसर मिलता है, जो सोहन को नहीं दिया जाता, तो भी मोहन की ही असली मजदूरी अधिक मानी जायगी। यह स्पष्ट है कि दो श्रमजीवियों में, जिसे असली मजदूरी अधिक मिलती है, उसकी दशा दूसरे की अपेक्षा अच्छी होगी।

भारतवर्ष में पहले अधिकतर मजदूरी अन्न में चुकाई जाती थी।

इस दशा में पदार्थों के मूल्य के घटने-बढ़ने का श्रमजीवियों की आय पर बहुत कम प्रभाव पड़ता था। बहुत-से देहातों में अब भी यही दशा है। कृषि-श्रमजीवी अपनी मजदूरी अन्न के रूप में ही पाते हैं। परंतु आधुनिक सभ्यता के विकास से, नगरों या औद्योगिक गाँवों में, मजदूरी नकद या रुपए-पैसे के रूप में ही दी जाती है। इससे श्रमजीवियों पर जीवन-रक्षक पदार्थों की तेजी-मन्दी का प्रभाव पड़ता है।

नकद वेतन में प्रायः न तो इस बात का विचार किया जाता है कि वह श्रमजीवी के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त है या नहीं, और न इसी बात का कुछ नियंत्रण रहता है कि श्रमजीवी अपने वेतन के द्रव्य का किस प्रकार उपयोग करते हैं। वह उससे भोजन-वस्त्र खरीदता है या विलासिता की वस्तुएँ। अनेक मजदूर सबेरे से शाम तक मजदूरी करके अपने मालिक से कुछ गिने-गिनाए पैसे पाते हैं, जो प्रथम तो उनके निर्वाह के लिए पर्याप्त नहीं होते, फिर उनमें से भी काफी पैसे मदिरा आदि के अर्पण कर दिए जाते हैं।

मजदूरी की दर; मांग और पूर्ति—हम पहले कह आए हैं कि पदार्थों का मूल्य मांग और पूर्ति के नियम के अनुसार निश्चित होता है। यह नियम मजदूरी के संबन्ध में भी लागू होता है।

श्रम की मांग तभी होती है, जब कोई आदमी श्रमियों से कुछ काम कराना चाहता है। किसी काम के करने में उत्पत्ति के अन्य साधनों का भी उपयोग होता है। कल्पना करो कि श्रम सहित सब साधनों द्वारा इतने

पदार्थ की उत्पत्ति होती है, जिसकी कीमत १००) है। अब इस उत्पत्ति में श्रम का भाग कितना है, यह मालूम करने के लिए सौ रुपये में अन्य सब साधनो का प्रतिफल निकाल देना चाहिए—कच्चे पदार्थ की कीमत, भूमि का लगान, पूंजी की सूद, औजारो की घिसाई, व्यवस्थापक का प्रबन्ध और निरीक्षण व्यय, तथा बीमा आदि का व्यय। यदि यह सब व्यय ८०) है, तो श्रम का प्रतिफल १००—८०=२० रु० हुआ। काम कराने वाला अधिक से अधिक २०) श्रमियों को दे सकता है। यदि उसे इस से अधिक देने की संभावना प्रतीत हो तो वह काम ही न कराये। इस प्रकार वेतन की चरम सीमा २०) हुई।

अब यह विचार करें कि साधारण श्रमी कम से कम कितना वेतन लेना स्वीकार करेगा। श्रमी को मिलने वाला वेतन कम से कम इतना होना चाहिए, जिसमें उसका तथा उसके परिवार का भरण-पोषण हो जाय, इसमें उसके बालकों को शिक्षा आदि का व्यय भी सम्मिलित है। यदि श्रमी को इतनी प्राप्ति नहीं होती तो या तो वह स्वयं अपनी आवश्यकता से कम पदार्थों का उपयोग करेगा, जिससे उसका स्वास्थ और शक्ति कम होगी, अथवा उसके बालकों को यथेष्ट पुष्टिकर और निपुणतादायक पदार्थ न मिलेंगे, जिससे भावी श्रम की पूर्ति में तथा उसकी कुशलता में कमी रहेगी। अस्तु, साधारणतः श्रमी यह विचार करता है कि उसे कम से कम इतना वेतन मिले जिसमें उसका तथा उसके परिवार का निर्वाह हो जाय, यदि इतना वेतन न मिले तो वह काम न करे। उदाहरणवत यदि निर्वाह व्यय १५) रु० हो, तो कम से कम वेतन १५) होगा।

इससे स्पष्ट हुआ कि उपर्युक्त उदाहरण में मजदूरी की ऊँची से ऊँची दर २०) और न्यूनतम दर १५) है। इन दोनों सीमाओं के बीच में ही मजदूरी ठहरेगी। काम करानेवाले का स्वार्थ इस बात में है कि वह कम से कम मजदूरी दे; इस के विपरीत मजदूर चाहता है कि अधिक से अधिक मजदूरी मिले।

मजदूरी की न्यूनतम और अधिकतम सीमा पहले बतायी गयी है। इन दोनों सीमाओं के भीतर रहती हुई, जब मजदूरी की दर बढ़ जाती है तो उसकी मांग कम हो जाती है और जब दर घट जाती है तो मांग बढ़ जाती है। काम करानेवालों में बहुत से आदमी ऐसे रहते हैं, जो इस सोच-विचार में रहते हैं कि काम अभी करायें, या कुछ समय बाद करायें। यदि मजदूरी की दर बढ़ी हुई है तो हम काम अभी न करा कर पीछे करा लेंगे, जब सम्भव है, मजदूरी की दर कम हो जाय। ये आदमी मजदूरी की॰ दर कम होने पर काम करायेंगे। इससे स्पष्ट है कि मजदूरी की दर बढ़ने की दशा में काम की मांग कम हो जायगी और मजदूरी की दर घटने पर मांग बढ़ जायगी।

मांग और पूर्ति के नियम में व्यवहार की दृष्टि से मजदूरी और अन्य पदार्थों में कुछ अनिवार्य अन्तर है। प्रथम तो यही स्पष्ट है कि अनेक पदार्थों की तुलना में मजदूरी बहुत ही शीघ्र क्षय होनेवाली वस्तु है। श्रमजीवी का जो समय व्यर्थ चला जाता है, वह हमेशा के लिये चला जाता है। इसलिए निर्धन श्रमजीवी अपने श्रम को जिस कीमत पर बने, बेच देना चाहता है। उसकी यह उत्सुकता मजदूरी की दर घटाने में सहायक होती है।

पुनः अन्य पदार्थों की पूर्ति की तरह मजदूरी की पूर्ति में जल्द परिवर्तन नहीं होता। माँग होने पर अन्य पदार्थ प्रायः शीघ्र ही बाजार में पहुँचाए जा सकते हैं। उनकी दर बहुत समय तक चढ़ी हुई नहीं रहती, परन्तु श्रमजीवियों को अपना घर और गाँव (या नगर) तुरन्त छोड़ने की इच्छा नहीं होती। इनकी पूर्ति होने में बहुधा विलम्ब भी लग जाता है। इसलिए नए कल कारखाने खुलने के समय, आरम्भ में कभी कभी बहुत समय तक मजदूरी की दर, अन्य स्थानों की अपेक्षा, चढ़ी रहती है। इसी के साथ यह भी बात है कि जो श्रमजीवी एक बार वहाँ आकर रहने लग जायँगे, वे सहसा वहाँ से जायँगे भी नहीं। अतः यदि बाद में, किसी घटना-वश, श्रमजीवियो की माँग कम रह जाय, तो वहाँ पूर्ति जल्दी न घटने से मजदूरी की दर का, अन्य स्थानों की अपेक्षा, बहुत समय तक कम रहना सम्भव है।

अनुभव-शून्य और अशिक्षित श्रमजीवियों के सम्बन्ध में तो यह बात और भी अधिक लागू होती है। उन बेचारों को बहुधा यह मालूम ही नहीं होता कि किस जगह उनके श्रम की मांग अधिक है, उन्हें अपने श्रम के बदले कितनी अधिक मजदूरी कहाँ मिल सकती है। जब ठेकेदार आदि के द्वारा श्रमजीवियों को उनके श्रम की माँग का समाचार मालूम भी होता है, तो उन्हें उसके (ठेकेदार आदि के) स्वार्थ के कारण परिस्थिति का यथेष्ट परिचय नहीं मिलता। इसलिए कुछ हद तक सभी देशों में—भारतवर्ष में तो विशेषकर—बहुत से मजदूरों को, क्षमता के लिहाज से प्रायः कम मजदूरी मिलती है (और ठेकेदार आदि प्रायः इस परिस्थिति से लाभ उठाते हैं)। बहुधा

ऐसा हो सकता है कि एक मजदूर किसी कार्य के लिए एक स्थान में जो मजदूरी पाता है, उससे कही अधिक मजदूरी दूसरे पास के स्थान में, वैसे ही कार्य के लिए, मिल रही हो। मजदूरनियो के सम्बन्ध मे यह बात और भी अधिक ठीक है। अज्ञान और स्थानांतर-गमन की कठिनाइयाँ उनके मार्ग मे, मजदूरों की अपेक्षा, बहुत अधिक होती हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि यदि सब श्रमजीवियों मे स्वतत्र रूप से प्रतियोगिता हो सके—अज्ञान और स्थानांतर-गमन आदि की बाधाएँ न हो—तो भिन्न भिन्न स्थानो में एक ही काम के लिए असली मजदूरी में ऐसा भेदभाव न रहे। वह सब स्थानों में समान, या लगभग समान हो।

भिन्न-भिन्न व्यवसायों में वेतन न्यूनाधिक होने के कारण— किसी व्यवसाय में, दूसरे व्यवसाय की अपेक्षा मजदूरी की दर कम या अधिक होने के कई कारण हो सकते हैं:—

(१) व्यवसाय की प्रियता, (२) व्यवसाय की शिक्षा, (३) व्यवसाय की स्थिरता, (४) व्यवसाय में विश्वसनीयता आदि विशेष गुण की आवश्यकता, (५) निश्चित वेतन के अतिरिक्त कुछ और प्राप्ति की आशा, (६) व्यवसाय मे सफलता का निश्चय, (७) मजदूरो की संख्या। स्मरण रहे, कभी कभी ऐसा भी होता है कि इन कारणों में दो या अधिक का प्रभाव एक साथ इकट्ठा भी पड़ जाता है।

रहन-सहन का दर्जा और वेतन—पहले कहा गया है कि श्रमजीवियों का न्यूनतम वेतन साधारणतया उनके निर्वाह के खर्च पर

निर्भर होता है। यदि श्रमजीवियों के रहन-सहन का दर्जा नीचा है तो वे अपेक्षाकृत कम वेतन पर श्रम करने को तैयार हो जायँगे। इसके विपरीत यदि उनके रहन-सहन का दर्जा ऊँचा है तो वे अपेक्षाकृत अधिक वेतन पर ही कार्य करेंगे।

रहन-सहन के दर्जे के विषय में, उपभोग के खण्ड में, विशेष विचार किया जा चुका है। जब रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता है, तो श्रमी अपने भरण-पोषण तथा निपुणता-प्राप्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति अधिक कर सकता है, इसलिए इस दशा में उसका स्वास्थ्य तथा योग्यता भी अधिक होती है। फलस्वरूप उसे भविष्य में वेतन भी अधिक मिलने की सम्भावना है। हाँ, यह नहीं कहा जा सकता कि यदि कोई श्रमजीवी एकदम अपने रहन-सहन का दर्जा ऊँचा कर दे तो उसी समय उसको वेतन अधिक मिलने लग जायगा। कारण योग्यता बढ़ने की बात तत्काल नहीं हो जाती; इसमें समय लगता है। कल्पना करो कि कोई श्रमी अपना रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करके, अधिक वेतन चाहने लगे, और दूसरा श्रमजीवी, जिसका रहन-सहन का दर्जा इतना ऊँचा नहीं है, कम वेतन पर काम करने को तैयार रहे। क्योंकि प्रथम श्रमी का रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होने पर भी उसकी योग्यता एकदम नहीं बढ़ गयी है, इस लिये काम कराने वाला उसे अधिक वेतन न देगा।

श्रम की गतिशीलता—श्रम गतिशील है—वह एक स्थान से दूसरे स्थान तथा एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में जा आ सकता है। इसका प्रभाव भी मजदूरी पर पड़ता है। श्रम की गतिशीलता अधिक

होने में कुछ बाधाएँ हैं। प्रथम तो लोगों का अपने घर-परिवार-नगर आदि का मोह छोड़ना कठिन है। फिर, दूसरी जगह जाने में खर्च पड़ता है। सम्भव है वहाँ चीजें कुछ महँगी हों। भिन्न-भिन्न स्थानों का रहन-सहन, भाषा, आचार-विचार, जलवायु आदि भिन्न होता ही है। बहुधा दूसरे स्थान में आदमियों को यथेष्ट सहानुभूति की जगह कुछ विद्वेष भाव मिलता है। भारतवर्ष आदि देशों में कुछ सामाजिक या धार्मिक बाधाएँ भी हैं। तथापि जीवन-संग्राम का संघर्ष बढ़ने के कारण उपर्युक्त बाधाओं पर क्रमशः विजय प्राप्त की जा रही है। इस में आमोदरफ्त के साधनों की वृद्धि से बहुत सहायता मिलती है।

साधारणतया आदमी जो धन्धा करता है, उसी के लिये उसकी सन्तान भी तैयार हो जाती है, कारण, उस व्यवसाय की शिक्षा आदि उसे सहज ही, बहुधा घर पर ही मिल जाती है। अपनी विशेष रुचि के कारण कुछ युवक अपने पैत्रिक कार्य को छोड़ते हैं, तो इससे जैसे एक काम के करने वालों में कमी होती है; वैसे कुछ अन्य कार्य करने वाले युवक इस कार्य के करने वालों में शामिल हो जाते हैं। इस प्रकार कुल मिला कर प्रायः एक व्यवसाय वालों की संख्या, उस व्यवसाय में पूर्व पीढ़ी में लगे हुए लोगों की संख्या पर निर्भर होती है, और कुल जन-संख्या के लगभग उसी अनुपात में रहती है।

भारतवर्ष में श्रमियों के स्थान तथा व्यवसाय परिवर्तन में एक बड़ी बाधा यहाँ की जाति-प्रथा है। अनेक आदमी विशेषतया ऊँची जातियों के ऐसे हैं, कि वे अपने स्थान में बहुत कम वेतन पर काम करते हैं, अथवा बेकार भी रहते हैं, पर अत्यन्त लाचारी की दशा के अतिरिक्त

अन्य स्थानों पर जाकर काम करना स्वीकार नहीं करते। अपना पुश्तैनी पेशा छोड़ना तो उनके लिए और भी अधिक कठिन है। निम्न जातियों में यह बात नहीं होती। यही कारण है कि प्रत्येक प्रान्त में बाहर से आकर बसे हुए और साधारण वेतन पर काम करने वाले अधिकांश मे निम्न जातियों के ही आदमी होते हैं। प्रायः दफ़्तरों में चपरासी आदि के काम के लिए ऐसे आदमी की जरूरत होती है, जो वहाँ के कर्मचारियों को पानी पिलाने के अतिरिक्त जूठे बर्तन भी माँज दे। बहुत से आदमी व्यक्तिगत रूप से झूठे बर्तन माँजने में कोई आपत्ति नहीं समझते, पर उन्हें भय होता है कि ऐसा करने से वे कहीं जातिच्युत न कर दिये जायँ। इसलिए वे ऐसी नौकरी करना स्वीकार नहीं करते।

कभी कभी ऐसा होता है कि किसी वस्तु की माँग कम रह जाने, या बाहर से उस वस्तु के बनाने वाले कुछ आदमियों के आ जाने या अन्य किसी कारण से, उस वस्तु के व्यवसाय में श्रमियों की संख्या का अनुपात इतना अधिक हो जाता है कि उसमें प्रति व्यक्ति धनोत्पत्ति का परिमाण कम होने लगता है। ऐसी दशा में यह आवश्यक हो जाता है कि कुछ श्रमी उसे छोड़ कर दूसरे अधिक उत्पादक व्यवसाय में लगें। अब यदि पहला व्यवसाय ऐसा है कि साधारण श्रम से होता है, तो उन श्रमियों को उसे छोड़ कर दूसरा साधारण श्रम वाला व्यवसाय करने में कुछ असुविधा नहीं होती। परन्तु यदि पहले व्यवसाय में कुशल श्रमी लगे हुए हैं, तो इनके लिये उसे छोड़ कर दूसरा कुशल श्रम करने वाला व्यवसाय करने में बहुत बाधा उपस्थित होती है, कारण, इस नये व्यवसाय के लिये उन्हें कुछ विशेष

शिक्षा और योग्यता आदि की आवश्यकता होगी, जिसे प्राप्त करने में कुछ समय तथा व्यय लगेगा। यदि यह जान पड़े कि इस नवीन व्यवसाय में सुदीर्घ काल तक श्रमियों की माँग रहेगी, और उसमें उनके पुराने कार्य की अपेक्षा अधिक धनोत्पत्ति होगी, तो सम्भव है, कुछ आदमी इस नये व्यवसाय का अवलंबन करने के लिये प्रोत्साहित हों। हाँ, वे अपने बालकों को नये व्यवसाय के लिये तैयार करने का सहज ही विचार करने लगेंगे।

स्थान-परिवर्तन और व्यवसाय-परिवर्तन से होने वाली श्रम की गतिशीलता एक साथ अर्थात् इकट्ठी भी हो सकती है, और पृथक् पृथक् भी। उदाहरणवत् एक श्रमी को अपने व्यवसाय-परिवर्तन के लिये अन्य स्थान में जाने की भी आवश्यकता हो सकती है, एवं उसी स्थान में भी उसका अवसर मिल सकता है।

एक दूसरे प्रकार की गतिशीलता यह है कि श्रमी अपने ही व्यवसाय में उत्तरोत्तर उन्नति करे। उदाहरणार्थ जो व्यक्ति पहले सब-ओवरसियर हो, वह पीछे ओवरसियर हो जाय, और पश्चात् क्रमशः उन्नति करते हुए इंजीनियर बन जाय। शिक्षित व्यक्ति ही ऐसी उन्नति करने में समर्थ हो सकते हैं, उन्हे एक व्यवसाय में उन्नति करने की सुविधा अधिक होती है।

वेतन पर सामाजिक बातों का प्रभाव—वेतन की दर सामाजिक रिवाजों से भी प्रभावित होती है; भारतवर्ष में तो पुरानी प्रथाओं तथा रीति-रस्मो का प्रभाव और भी अधिक होता है। गावो में

किसान प्रायः अपने व्यवहार में सामयिक स्थिति का इतना विचार नहीं करते, जितना इस बात का कि वर्षों से क्या होता आरहा है। इस प्रकार प्रायः खेत पर काम करनेवाले मजदूर, और कुछ दशाओं में बढ़ई और लुहार आदि को मिलनेवाला वेतन चिरकाल से एक-सा ही चला आता है। यह बात कुछ अंशो में शहरो में भी है। जिन घरों में कोई खास पुश्तैनी धोबी या नाई आदि लगा हुआ है, वहाँ उसकी मजदूरी रिवाज के अनुसार बँधी हुई है, उसमें सहसा परिवर्तन नहीं होता। अनेक स्थानो में मेहतरो को माहवारी उतने ही पैसे मिलते हैं, जितने बीस तीस वर्ष पहले मिलते थे, यद्यपि इस बीच में पदार्थों की दरों में भारी उतार-चढ़ाव हो चुका है।

यह तो रिवाज की बात हुई। अन्य सामाजिक बातों में जनसंख्या का प्रभाव उल्लेखनीय है। ऊपर कहा जा चुका है कि मजदूरी की दर का देश की आबादी से घनिष्ट संबंध है। साधारणतया मनुष्यों की संख्या जितनी अधिक होती है, मजदूरी की दर उतनी ही कम हो जाती है। इसलिए विविध देशों में समय-समय पर, जन-संख्या कम करने के उपाय किए जाते हैं। अविवाहित रहकर, बड़ी उमर में विवाह करके, जान-बूझकर संतान कम पैदा करके, अथवा कुछ आदमी विदेशों में भेजकर जन-संख्या की वृद्धि रोकी जाती है। शिक्षा, सभ्यता और सुख की वृद्धि से संतानोत्पत्ति कम होती है। भारतवर्ष की जन-संख्या पर्याप्त है। यद्यपि प्रकृति महँगी और रोगों द्वारा यहां संहार का कार्य खूब करती है, तथापि संतानोत्पत्ति भी अधिक होने के कारण यहाँ की जन-संख्या घटती नहीं है। जीविका-प्राप्ति के मार्ग कम और जन-संख्या

अधिक होने के कारण, यहां मजदूरी की दर, अन्य देशों की अपेक्षा, बहुत कम है। इसलिए मजदूरों की दशा सुधारने के वास्ते यह बहुत ही आवश्यक है कि उनकी योग्यता बढ़ाने और उद्योग-धंधों की वृद्धि करने के अतिरिक्त, यहां की जन-सख्या यथा-संभव कम रहे।

वेतन का आदर्श—भिन्न भिन्न श्रमियों के वेतन का आधार क्या हो ? आर्थिक जगत में माँग और पूर्ति का नियम चल रहा है। क्या यह नीतियुक्त है ? हमारी आदत ऐसी पड़ गई है कि जिस बात को नित्य होते देखते हैं, उसमें हमें कोई अनौचित्य नहीं जान पड़ता। हम कह देते हैं कि श्रमी को काम करने की स्वतन्त्रता है, यदि उसे अपना वेतन कम जँचता है तो वह काम छोड़ सकता है। इस कथन में सत्यता है, पर निष्ठुरता भी कम नहीं। उपर्युक्त श्रमी अवश्य ही उस कार्य को छोड़ने में कानून से स्वतन्त्र है, पर अपनी उदरपूर्ति की बात से, अपनी भौतिक आवश्यकताओं की थोड़ी बहुत पूर्ति से किस प्रकार मुक्त हो सकता है ? अगर एक बेकार और भूखे आदमी को कोई पैसेवाला यह कहता है कि तू दिन भर काम कर, तुझे चार पैसे दिए जायँगे, तो श्रमी यह जानते हुए भी कि यह वेतन उसके निर्वाह के लिए नितांत कम है, उससे कैसे इनकार कर सकता है ? वह सोचता है कि कुछ न मिलने की अपेक्षा तो जो कुछ मिल जाय, वही अच्छा है। इस प्रकार यदि वह लाचारी से चार पैसे स्वीकार करता है तो क्या उसका उचित वेतन है ? क्या वेतन-सम्बन्धी वर्तमान विषमता ही आधुनिक अशान्ति, असन्तोष और समाजवाद-आन्दोलन का एक मुख्य कारण नहीं है ?

पाठकों के विचारार्थ वेतन सम्बन्धी आदर्श के विषय में हम कुछ बातें नीचे देते हैं।* ये बातें तुरन्त ही पूर्ण रूप से कार्य में परिणत की जानी कठिन हैं, तथापि इन्हें आदर्श मान कर इस दिशा में क्रमशः कदम बढ़ाया जाना, हम उचित और आवश्यक समझते हैं।

१—जो व्यक्ति दिन भर में अधिक से अधिक आठ घंटे† और सप्ताह में छः दिन ईमानदारी से परिश्रम-पूर्वक कोई कार्य करे, उसे इतना वेतन दिया जाना चाहिए जिससे उसका तथा उसके आश्रित (काम न कर सकने वाले) व्यक्तियों का साधारणतया निर्वाह हो सके।

२—कार्य करने के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को उसकी क्षमता के अनुसार काम दिए जाने की व्यवस्था होनी चाहिए, जिसे काम न मिल सके, उसके निर्वाह की व्यवस्था राज्य की ओर से रहनी चाहिए।

३—समाज में जिस-जिस प्रकार के श्रम की आवश्यकता होती है, उनके कम से कम वर्ग बना दिए जाने चाहिए। प्रत्येक वर्ग में

---

* अखिल भारत चर्खा-संघ और उद्योग-संघ में यथा-सम्भव इस आदर्श के अनुसार व्यवहार किया जाता है।

† अनेक स्थानों में श्रमियों के काम करने के घंटों की औसत इससे बहुत कम है, अथवा बहुत कम करने का आन्दोलन चल रहा है, हम भारतवर्ष में अभी अधिकांश जनता के विचार से इसे ही उचित समझते हैं।

निर्धारित समय काम करनेवाले का वेतन समान होना चाहिए। निम्नस्थ और सर्वोच्च वर्ग के पदाधिकारी के वेतन में यथा-सम्भव साम्य रखने का प्रयत्न किया जाय। किसी भी दशा में उनके वेतन में एक और दस से अधिक का अनुपात न हो।

४—शिक्षा-प्राप्ति-काल में बालक बालिकाओं का भरण-पोषण उनके संरक्षकों के वेतन से होना चाहिए; जिनके-संरक्षक समर्थ या जीवित न हों उनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था राज्य द्वारा होनी चाहिए।

५—देश में कोई भी पद किसी रंग, जाति या धर्मविशेष के व्यक्तियों के लिए सुरक्षित न होना चाहिए। प्रत्येक पद प्राप्त करने का मार्ग प्रत्येक नागरिक के लिए प्रशस्त रहे।

६—निम्न श्रेणी के श्रमियों को, विशेषतया जिनके विषय में यह आशंका हो कि वे अपने जीवन-निर्वाह-सम्बन्धी वस्तुओं को खरीदने में कमी करके भी वेतन का काफी भाग मादक द्रव्य आदि विलासिता की वस्तुओं में खर्च कर देंगे, उन्हें वेतन का निर्धारित भाग उन वस्तुओं में दिया जाय, जो उनके जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक हों।

अभ्यास के प्रश्न

(१) "रहन-सहन का दर्जा" से आप क्या समझते हैं? मजदूरों के रहन-सहन का दर्जा बढ़ जाने से उनकी मजदूरी पर क्या असर पड़ता है? (१६३८)

(२) मजदूरी-निर्णय करने में भारतीय सामाजिक बातों का कहाँ तक प्रभाव पड़ता है ? (१९३७, १९२९)

(३) नकद मजदूरी और असली मजदूरी में क्या अन्तर है ? भारतीय उदाहरण सहित समझाइए कि रहन-सहन के दर्जे का मजदूरी पर क्या प्रभाव पड़ता है ? (१९३६)

(४) "उत्पादक यह समझने लगे हैं कि महँगी मजदूरी का काम सस्ता और सस्ती मजदूरी का काम महँगा पड़ता है।" उक्त कथन को भली प्रकार समझाइए। (१९३५)

(५) "श्रम की गतिशीलता" समझाइए। भारतीय किसान, मजदूर और कारीगर की गतिशीलता का सकारण आभास कराइए। (१९३४)

(६) आपकी राय में भारत में प्रचलित व्यवहार के कारण मजदूरी और उसकी कार्य-क्षमता में कहाँ तक विषमता रहती है ? (१९३३)

(७) "श्रम की गतिशीलता" किन बातों पर निर्भर है ? भारत में मजदूरी की गतिशीलता के मार्ग में कौन से रोड़े अटकते हैं ? समझाइए।

(८) "वेतन सम्बन्धी विषमता ही आधुनिक अशांति और आंदोलन का कारण है।" उक्त कथन की विवेचना करिए तथा बताइए कि वेतन का आदर्श क्या होना चाहिए।

(९) "मजदूरी उसी प्रकार निश्चित होती है जैसे किसी वस्तु की कीमत।" आपकी क्या राय है ? (१६२९)

(१०) "श्रम नश्वर पदार्थ है।" उक्त कथन को समझाइए। मजदूरी निश्चित करने में इसका क्या असर पड़ता है ? (१६२६)

(११) कारीगर, घरेलू नौकर तथा पुलिस के सिपाही की मजदूरी को दृष्टि में रखते हुए असली मजदूरी को विस्तार पूर्वक समझाइए। (१६२८)

बत्तीसवाँ अध्याय

—:✻:—

सूद

प्राक्कथन—पूँजी का व्यवहार करने-देने के बदले में पूँजीवाले को जो द्रव्य आदि दिया जाता है, उसे सूद या ब्याज कहते हैं। कुछ आदमी अपने उत्पन्न धन में से सब खर्च न कर, यथा-शक्ति कुछ जमा करते जाते हैं। इस संचित धन से वे धनोत्पादन का कार्य अथवा भावी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध करते हैं। असमर्थता, अज्ञान या अराजकता आदि की दशा में बहुधा आदमी अपना धन जमीन में गाड़-कर रखते हैं। परन्तु जब कोई ऐसी अवस्था न हो, और साथ ही पूंजी-वाला व्यापार-व्यवसाय की जोखिम भी न उठाना चाहे, तो वह अपनी पूंजी दूसरे लोगों को व्यवहार करने के लिए दे सकता है। ऐसा करने में उसे अपनी आवश्यकताओं की तत्कालीन पूर्ति से मिलनेवाले संतोष का त्याग करना पड़ता है। इसके प्रतिफल-स्वरूप उसे पूँजी का सूद मिलता है।

सूद पर रुपया उधार देना साधारणतः उतना लाभदायक नहीं होता जितना उसे व्यापार-व्यवसाय में लगाना। परन्तु यह इससे तो अच्छा ही है कि वह व्यर्थ पड़ा रहने दिया जाय। सूद पर रुपया देने-

वाला औरों की धन-संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इससे उसका धन (सूद द्वारा) बढ़ता है, और जिन्हें वह उधार देता है, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

सूद के दो भेद—अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से ब्याज के दो भेद हैं—कुल सूद, और वास्तविक सूद। कुल सूद में असली ब्याज के अतिरिक्त (क) पूँजीवाले के जोखिम उठाने का प्रतिफल, (ख) ऋण की व्यवस्था करने का खर्च और (ग) पूँजीपति की विशेष सुविधाओं का प्रतिफल मिला होता है। 'कुल सूद' को व्यावहारिक भाषा में प्रायः 'सूद' ही कहते हैं। इसकी दर उद्योग-धंधों के भेद के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है।

सूद की दर—सूद की दर माँग और पूर्ति के नियमानुसार निश्चित होती है। किसी स्थान में एक व्यवसाय के लिए आवश्यक पूँजी की दर वही होगी, जिस पर पूँजीपति उतना रुपया उधार दे सकें, जितने की माँग है। किसी खास समय में भिन्न-भिन्न व्यवसायों की पूंजियों के कुल सूद की दर, ज़मानत आदि विविध कारणों पर निर्भर रहती है। बहुत-से लोग जमीन, मकान या जेवर आदि गिरवी रखकर रुपया उधार देते हैं। इसमें रुपया डूबने का डर नहीं रहता, इसलिए अपेक्षाकृत कम सूद पर ही संतोष कर लिया जाता है। दस्ती दस्तावेज लिखाकर दिए हुए ऋण का रुपया वसूल होने में खतरा जान पड़ता है। खतरा जितना अधिक होगा, उतना ही सूद अधिक लिया जायगा। सुरक्षा के विचार से कुछ आदमी अपना रुपया सरकारी अथवा सार्वजनिक संस्थाओं को उधार दे देते हैं, अथवा डाक-

खाने के सेविंग बैङ्कों में जमा कर देते हैं। इनमें सूद अपेक्षाकृत कम मिलता है।

देश में पूँजी अधिक होने पर सूद की दर घटती है, और कम होने पर दर बढ़ती है। अमरीका में इतना धन है कि वहाँ विविध व्यवसायों में खर्च होने पर भी वह बच रहता है, और दूसरे देशवाले ऐसे व्यवसाई उसे सूद पर ले लेते हैं, जिन्हें अपने यहाँ अधिक सूद देना पड़ता है। इँगलैंड में भी, पूँजी अधिक होने के कारण सूद की दर कम है। इसके विपरीत भारतवर्ष में सूद की दर, पूँजी बहुत कम होने के कारण, अधिक है। साधारण उत्पादक के पास अपनी निजी पूँजी नहीं होती। उसे सूद की भयंकर दर पर रुपया उधार लेना पड़ता है। अनेक स्थानों में अधन्नी रुपए का साधारण नियम है। यह सूद ३७॥) सैकड़ा सालाना पड़ता है। बहुत से महाजन दस के बारह करते हैं। वे दस रुपए उधार देकर प्रतिमास एक-एक रुपये की किस्त तय करते हैं जिसे वे साल भर तक लेते रहते हैं। यदि किसी महीने में किस्त न चुकाई जाय, तो उसका सूद अलग पड़ता है। यह सूद भी बहुत अधिक बैठता है। सूद-दर सूद (अर्थात् चक्र-वृद्धि व्याज) से तो कभी कभी, दो चार साल में ही सूद की रकम असल के बराबर होकर मूलधन को दुगना कर देती है। इस दशा में किसी ऋणी का ऋण-मुक्त होना कभी कभी असम्भव ही हो जाता है। जान माल की रक्षा, शिक्षा-प्रचार, और महाजनी तथा बैङ्कों के विस्तार आदि के कारण यहां कुछ वर्षों से सूद की दर गिरने लगी है, तथापि अन्य औद्योगिक देशों की अपेक्षा यहां यह अधिक है। देश के भिन्न भिन्न भागों में,

तथा पृथक पृथक परिस्थितियों में यहाँ किसानों और मजदूरों से प्रायः ६०% से लेकर ३००% तक वार्षिक सूद लिया जाता है।

पूंजी की गतिशीलता—पिछले अध्याय में, श्रम की गतिशीलता के सम्बन्ध मे लिखा जा चुका है, उससे स्पष्ट है कि श्रम घटाया बढ़ाया और स्थानान्तर किया तो जा सकता है, परन्तु प्रायः बहुत मन्द गति से। पूंजी में भी कुछ ऐसी ही बात है। परन्तु श्रम और पूंजी में एक खास अन्तर है; श्रम देने में तो श्रमजीवी को निर्धारित समय के लिए अपने आपको दूसरे के सुपुर्द कर देना होता है। अतः उसे यह सोचना पड़ता है कि जहाँ उसे काम करना होगा, वहाँ की जलवायु तथा अन्य वातावरण वहाँ कैसा है; पर, पूंजीवाला पूंजी दूसरे व्यक्ति को दे देता है, और स्वयं स्वतंत्र रहता है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि जब कि श्रम और श्रमजीवी एक-दूसरे से पृथक नहीं हो सकते, पूंजी और पूंजीवाला दो सर्वथा पृथक वस्तु हैं। पूंजी वाला मज़े से अपने घर बैठा रहता है, या अपनी इच्छानुसार सैर सपाटा करता रहता है और वह अपनी पूंजी भिन्न-भिन्न व्यवसायों में लगा देता है। बहुधा ऐसा भी होता है कि एक पूंजीवाले की पूंजी भिन्न-भिन्न और दूर-दूर के स्थानों में काम करती रह सकती है।

इन कारणों से श्रम की अपेक्षा पूँजी अधिक गतिशील है, जहाँ इसकी सुरक्षा का आश्वासन होता है, अर्थात्, इसके डूबने का डर नहीं होता, और जहाँ लाभ अर्थात् सूद की आशा अधिक होती है, वहाँ पूँजी, श्रम की अपेक्षा कहीं अधिक शीघ्रता-पूर्वक जा सकती है। यातायात आदि के साधनों की उन्नति के साथ, पूंजी के स्थानान्तर

होने का खर्च भी बहुत कम हो गया है। मनिआर्डर, पोस्टल आर्डर, टेलिग्राफिक मनिआर्डर, बीमा, हुँडी, चेक, नोट आदि के रूप में पूंजी सहज ही, सैकड़ों, हजारों मील की दूरी पर, विलक्षण गति से जा आ सकती है। हाँ, यह बात नकद अथवा चल पूंजी के सम्बन्ध में ही है। अचल या स्थायी पूंजी की बात और है। मशीनों, नहरों, रेलों या इमारतों आदि में लगी हुई पूंजी को दूसरे कार्यों में तभी लगाया जा सकता है, जब इन चीजों का पूर्ण उपयोग हो चुके। अथवा इन चीजों को बेच कर इनकी कीमत उठायी जाय और बेच कर अच्छी कीमतें उठाना प्रत्येक दशा में सहज नहीं होता, कितनी ही दशाओं में तो नुकसान ही उठाना पड़ता है। इस प्रकार इसमें समय लगने पर भी कभी कभी अभीष्ट सिद्धि नहीं होती। इससे अचल पूंजी की गति की कठिनाइयां स्पष्ट हैं। भारतवर्ष में तो नकद अथवा चल पूंजी भी यथेष्ट गतिशील नहीं है। ग्रामों में तो पूंजी की कमी बनी ही रहती है।

भारत के काम में न आनेवाला धन—भारतवर्ष में कुछ धन ऐसा है, जो काम में नहीं आता, आदमी उसे ज़मीन में गाड़ कर रखते हैं, अथवा आभूषणों आदि में लगा देते हैं, उद्योग-धंधो आदि उत्पादक कार्यों में नहीं लगाते। रुपए को ज़मीन में गाड़ कर रखने से वह अधिक उत्पत्ति नहीं करता, उतना का उतना ही बना रहता है और ज़ेवरों में लगाने से तो वह क्रमशः कम होता जाता है। विगत वर्षों में अनेक स्थानों में ऐसा दृष्टि-गोचर हुआ है कि जमीन में गड़ी हुई संपत्ति का पता घर के केवल बड़े-बूढ़े को था, उसकी कहीं कुछ स्पष्ट सूचना न थी; संयोग से घर का बड़ा-बूढ़ा ऐसी अवस्था में मर गया

कि वह अपने उत्तराधिकारियो को उसके विषय में कुछ न बता सका। इसका परिणाम यह हुआ कि घर में सम्पत्ति गड़ी रहने पर भी उस परिवार के व्यक्ति बहुधा बड़े आर्थिक सङ्कट में ग्रस्त रहे। इस समय भी किसी-किसी देशी राज्य में पूर्वजों के समय का सञ्चित ऐसा द्रव्य मौजूद है, जिसका स्वयं शासक को ठोक-ठीक पता नहीं। राज्य पर ऋण हो जाता है, उसका सूद देना पड़ता है, परन्तु सञ्चित द्रव्य का उपयोग नहीं किया जाता, अथवा यों कहें कि उपयोग किया नहीं जा सकता। इसी प्रकार कुछ मन्दिरों में भी आरती आदि की और मठों में धर्मादे की, कुछ सम्पत्ति ऐसी रहती है, जो किसी उपयोग में नहीं आती। यह सम्पत्ति क्रमशः बढ़ती रहती है। ऐसी सम्पत्ति ने प्राचीन काल में कभी कभी विदेशी आक्रमणकारियों को आकर्षित किया है, आजकल भी उसके कारण कभी कभी मन्दिरो या मठों में चोरी होने के उदाहरण सामने आते हैं।

अस्तु, सञ्चित धन को यथासम्भव किसी उपयोगी अर्थात् उत्पादक काम में लगाते रहना चाहिए। भारतवर्ष में, उसे वृथा पड़े रखने का दोष विशेष रूप से यहाँ की अशान्ति और अनिश्चित राजनैतिक परिस्थिति के समय से बढ़ा हुआ है; अब इसमें क्रमशः शिक्षा, बैंकों और उद्योग-धंधो की वृद्धि से सुधार हो रहा है; साथ ही जनता की आर्थिक कठिनाइयों ने भी इसे दूर करने में सहायता दो है।

भारतीय पूँजी की वृद्धि के उपाय—पूँजी बचत का फल है। आदमी जितना धन पैदा करते हैं, यदि उस सब को खर्च कर

डालें, भविष्य में धनोत्पादन करने के लिए, उसमें से कुछ बचा कर न रखें, तो पूँजी कहाँ से आए! अतः खर्च करने में मितव्ययिता का विचार रहना आवश्यक है; फजूलखर्ची रोकी जानी चाहिए। असभ्यता या अराजकता की दशा में मनुष्य अपनी भावी आवश्यकताओं के वास्ते अथवा भविष्य में धनोत्पादन करने के लिए, अपनी उपार्जित सम्पत्ति का कुछ भाग बचा कर रखना नहीं चाहते। जहाँ आदमी अधिकतर पारलौकिक विषयों का चिन्तन करते और यही सोचते रहते हैं कि न मालूम कब मर जायँ, वहाँ भी धन का विशेष सञ्चय नहीं होने पाता। भारतवर्ष में पूँजी की वृद्धि के लिए जनता में शिक्षा के अतिरिक्त, मितव्ययिता और दूरदर्शिता के भावों का प्रचार होना चाहिए, व्याह-शादी, नाच-रंग और जन्म-मरण आदि सम्बन्धी फिजूल-खर्ची की विविध रीति-रस्में हटानी चाहिए तथा खेती, उद्योग-धंधों और बणिज-व्यापार के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के बैंकों के खोलने की आवश्यकता है, इनके विषय में विशेष पहले लिखा जा चुका है।

अभ्यास के प्रश्न

(१) "कुल सूद" और "वास्तविक सूद" का अन्तर बताइए। क्या कारण है कि भारतीय ग्रामों में सूद की दर बहुत ऊंची होती है? इन्हें दूर करने का उपाय बताइए। (१६३७, १६३३)

(२) "पूंजी की गतिशीलता" किसे कहते हैं? भारत में पूंजी की गतिशीलता के रास्ते में कौन से रोड़े अटके हुए हैं? उन्हें दूर करने के उपाय बताइए। (१६३६)

(३) "भारत में प्राकृतिक धन, मजदूरों तथा बहुत से बेकार धन की बाहुल्यता है।" भली प्रकार समझाइए कि इस देश के प्राकृतिक धन का उपयोग करने के लिए कौन कौन से मार्ग खुले हैं। (१६३५)

(४) "श्रम की अपेक्षा पूंजी अधिक गतिशील है।" उक्त कथन की विवेचना कीजिए।

(५) पूंजी के विकास तथा सूद की दर में क्या सम्बन्ध है? विवेचना-पूर्वक समझाइए। (१६२४)

(६) धन को गाड़ रखने से क्या हानियें हैं?

(७) संचित धन से चांदी सोने के आभूषण बनवा लेने से क्या हानि लाभ होते हैं?

तेतीसवाँ अध्याय

—:*०*:—

मुनाफा

मुनाफा—साहस का फल—उत्पन्न पदार्थ से उसके उत्पादन का सब व्यय, कच्चे माल का मूल्य, संचालन शक्ति का व्यय, यंत्रों की घिसाई, विज्ञापन तथा बीमा-खर्च, लगान, मजदूरी और सूद निकाल देने पर जो शेष रहता है, वह मुनाफा है। यह व्यवस्था का प्रतिफल है, व्यवस्था में प्रबन्ध और साहस, दोनों सम्मिलित हैं, यह पहले बताया जा चुका है। कुछ महाशय 'प्रबन्धक की कमाई' * का विचार स्वतंत्र रूप से करते हैं। इस दशा में मुनाफा केवल साहस करने या जोखिम उठाने का प्रतिफल रह जाता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, बहुधा कारखानेवाले उत्पादक श्रम (एवं उत्पत्ति के अन्य साधनों) का प्रतिफल कम-से-कम देकर बहुत लाभ उठाते हैं। इससे धन-वितरण

---

* प्रबन्धक या मैनेजर का कार्य धनोत्पादन में एक आवश्यक अंग है। वह अन्य श्रमजीवियों के काम की देख-भाल करता है। उसकी आय को जो बहुधा निश्चित होती, और प्रति मास मिलती है, वास्तव में मजदूरी नहीं कह सकते। अर्थ शास्त्र में उसे एक पृथक् संज्ञा दी जाती है, इसे प्रबन्धक की कमाई कहते हैं।

में धन का बड़ा भाग मुनाफे के रूप में रहता है। कुछ कामों में मुनाफे का सहसा हिसाब नहीं लग सकता। कभी-कभी तो दस-दस, पंद्रह-पंद्रह वर्ष या इससे भी अधिक समय के आय-व्यय का हिसाब लगाने पर मुनाफे की मात्रा मालूम होती है। पुनः यह भी आवश्यक नहीं कि हर एक काम में मुनाफा होवे ही। बहुतेरे कामों में हानि भी होती है। परन्तु जब हानि होती है, तो उस काम की पद्धति में परिवर्तन किया जाता है, अथवा वह बिलकुल बन्द कर दिया जाता है। निस्सन्देह ऐसा करने में समय लगता है।

मुनाफे के दो भेद—अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से मुनाफे के दो भेद हैं—वास्तविक मुनाफा, और कुल मुनाफा। कुल मुनाफे में बहुधा वास्तविक मुनाफे के अतिरिक्त (क) साहसी की निजी पूँजी का सूद, (ख) उसका अपनी जमीन का किराया, (ग) बीमे आदि का खर्च और (घ) साहसी की विशेष सुविधाओं से होनेवाला लाभ सम्मिलित है। साधारण बोलचाल में कुल मुनाफे या उसके कुछ अंशों को ही प्रायः मुनाफा कहते हैं।

मुनाफे के न्यूनाधिक्य के कारण—कुल मुनाफे का कम-ज्यादा होना कई बातों पर निर्भर है—

(१) उत्पादन-व्यय जितना कम होगा, उतना ही मुनाफा अधिक रहेगा। उत्पादन-व्यय के सम्बन्ध में उत्पत्ति के खंड में विचार किया जा चुका है।

(२) मुनाफे का समय से भी गहरा सम्बन्ध है। माल बिक कर

मुनाफा मिलने में जितना ही कम समय लगेगा मुनाफे की दर उतनी ही अधिक होगी।

(३) एक-समान श्रम के लिए मजदूरी की दर कम होने से मुनाफा अधिक होता है; और मजदूरी बढ़ने से मुनाफा कम रह जाता है।

(४) कारखानेवालों की बुद्धिमानी दूरंदेशी और प्रबन्ध करने की योग्यता पर भी मुनाफे की कमी-बेशी बहुत-कुछ निर्भर है। देश में अयोग्य कारखानेवालों की संख्या अधिक होने से चतुर कारखाने के मालिकों के मुनाफे की दर बढ़ जाती है। शिक्षा और कला-कौशल की वृद्धि के साथ-साथ अयोग्य कारखानेवालो की संख्या कम होती है, और चतुर कारखानेवालों की संख्या बढ़ती जाती है। इससे मुनाफे की दर दिनों-दिन घटती जाती है।

(५) मुनाफे की दर कुछ विशेष सुविधाओं पर भी निर्भर रहती है—जैसे, भूमि का अच्छा होना, पूँजी का सस्ता मिल जाना, आबपाशी का समय पर तथा अच्छा हो जाना, नजदीक ही मंडी बन जाना या रेल की लाइन निकल जाना आदि।

(६) मुनाफे में प्रतियोगिता का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। आजकल बहुत से व्यवसायों में चढ़ा-ऊपरी है। जिस व्यवसाय में अधिक मुनाफा होता है, उसे दूसरे व्यवसाई भी करने लगते हैं। वे उसमें अधिक पूँजी लगाकर माल कम खर्च में तैयार करने और सस्ता बेचने का प्रयत्न करते हैं। इससे पहले व्यवसाई को भी कीमत की दर घटानी पड़ती है। फलतः मुनाफे की मात्रा कम हो जाती है।

भारतवर्ष में साहसी के लिए क्षेत्र—प्रायः प्रत्येक देश में थोड़ा बहुत धन ऐसा रहता है, जिसे उसके स्वामी किसी उत्पादक कार्य में नहीं लगाते। उन्हें डर रहता है कि ऐसा न हो कि वे धन को जिस कार्य में लगाएँ वह अच्छी तरह न चले, उसमें हानि हो जाय। इस विचार से वे अपने धन की उसी मात्रा को बनाये रखने में सन्तोष मानते हैं। वे रुपये को गाड़ कर रखते हैं। कुछ आदमी तो अपने धन को ज़ेवरों में लगा देते हैं। यद्यपि वे जानते हैं ऐसा करने से जेवरों की घड़ाई आदि के रूप में, उन्हें कुछ हानि होगी, पर वे सोचते हैं कि यह हानि, उस हानि की अपेक्षा कम ही है, जो उस रुपये को किसी ऐसे काम में लगा देने से हो सकती है, जो पीछे बिगड़ जाय। यह सब धन बेकार पड़े रहने का कारण यह होता है कि देश में ऐसे व्यक्ति यथेष्ट संख्या में नहीं होते जो साहसी हों, जो हानि लाभ की जोखम उठा कर नये नये व्यवसाय खोलनेवाले हों। जिन देशों में साहसी आदमी अधिक होते हैं, वहाँ धन बेकार नहीं पड़ा रहता, वह और अधिक धनोत्पादन में लगता है, पूँजी की वृद्धि करता है और व्यवसायों को बढ़ाता है। व्यवसायों की वृद्धि से जनता को शिक्षा, सभ्यता, संस्कृति, स्वास्थ्य आदि सम्बन्धी नाना प्रकार के लाभ होते हैं। इन लाभों की प्राप्ति के लिये, जनता की इस दृष्टि से उन्नति होने के लिये, साहस की आवश्यकता स्पष्ट है।

भारतवर्ष आधुनिक औद्योगिक देशों से कई बातों में बहुत पीछे है, इसका एक कारण यह है कि यहाँ ऐसे व्यक्तियों की बहुत कमी है, जिनमें साहस की यथेष्ट मात्रा हो, जो हानि-लाभ की जोखम उठा कर

विविध व्यवसायों का सुयोग्यतापूर्वक सञ्चालन करें। इस बात का अनुभव बात बात में होता है कि भारतवर्ष में साहस के लिए कितना क्षेत्र पड़ा है।

कृषि में—खेती की ही बात लीजिये। संसार के अनेक देश भारतवर्ष की अपेक्षा कृषि-कार्य में आगे बढ़े हुए है और, यहां कितनी ही भूमि बंजर, या दलदल आदि ऐसी पड़ी है, जिसका उपयोग नहीं हो रहा है। यह ठीक है, कि कृषकों की संख्या अधिक होने और उनके निर्धन होने तथा प्रत्येक कृषक के पास भूमि का परिमाण कम होने के कारण विस्तृत खेती के लिए यहाँ अधिक क्षेत्र नहीं हैं, पर जिन लोगों को विस्तृत खेती करने के साधन प्राप्त हैं, वे भी तो इस दिशा में आगे नहीं बढ़ रहे हैं। फिर गहरी खेती के लिए तो यहां अनन्त क्षेत्र पड़ा है। अच्छे बीज, बढ़िया वैज्ञानिक खाद, उत्तम पशु और औजारों आदि के उपयोग से खेती की पैदावार का परिमाण एवं गुण बढ़ाने की बहुत आवश्यकता है। यह काम आरम्भ में जोखम उठा कर साहस करनेवालों का है।

उद्योग धन्धों में—विदेशी व्यापार के प्रसङ्ग में यह बताया जा चुका है कि भारतवर्ष अनेक प्रकार के कच्चे पदार्थों की निर्यात करता है और उन्हीं पदार्थों से तैयार होनेवाले माल को विदेशों से मंगाता है। यदि हमारे यहां साहसी आदमी यथेष्ट हों तो इस व्यापार में महत्वपूर्ण अन्तर हो जाय, हम कच्चे पदार्थों की आयात कम कर दें और उन पदार्थों का उपयोग इस देश की आवश्यकताओं के लिए तैयार माल बनाने में करने लग जायँ। यह अत्यन्त खेद का विषय है कि

कपड़े जैसी रोजमर्रा की आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी हम पर्याप्त अंश में परमुखापेक्षी है। जब कि हमारे यहां कपास काफी पैदा होती है, तो रुई का निर्यात और विदेशी वस्त्र का आयात हमारे साहस की न्यूनता का अपमानजनक प्रमाण है। जूते, साबुन, चित्र, कागज, ऊनी और रेशमी वस्त्र, स्टेशनरी, बिस्कुट, छतरी, औषधियों आदि में प्रतिवर्ष हम करोड़ों रुपये विदेशों को भेजते हैं। हम अपने बालकों के लिए खिलौने तथा अन्य खेलों का सामान, इमारतों के लिए लकड़ी, लोहे तथा चीनी मिट्टी का सामान विदेशों से कब तक मँगाते रहेंगे? आवश्यकता है कि साहसी व्यक्ति एक एक वस्तु की आवश्यकता की पूर्ति का बीड़ा उठावें और जनसाधारण उन्हें भरसक सहायता दें। निस्सन्देह अनेक कार्यों में सफलता तभी हो सकती है, जब सरकार का समुचित एवं क्रियात्मक सहयोग प्राप्त हो।

व्यापार-कार्यों में—बैंकों के सम्बन्ध में लिखते हुए यह कहा जा चुका है कि देश की आवश्यकताओं को देखते हुए यहाँ उनकी बहुत कमी है। किसानों, कारीगरों, तथा छोटे व्यापारियों आदि को उनकी परिस्थिति के अनुसार बैंकिंग की सुविधाएँ मिलनी चाहिए। यह बात वर्तमान स्थिति में बहुत ही अल्प परिमाण में हो रही है। इस कार्य के लिए भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में, एक एक काम के लिए जिले में बहुत क्षेत्र विद्यमान है।

हमारा विदेशी व्यापार तो प्रायः पूर्णतया विदेशी बैंकों, या विदेशियों द्वारा सञ्चालित भारतीय बैंकों के हाथों में हैं। विदेशी बैंकों के विशाल कारोबार के सामने भारतवासियों द्वारा सञ्चालित बैंक नगण्य

से प्रतीत होते हैं। यदि भारतीय साहसी क्षेत्र में आवें और दृढ़तापूर्वक कार्य करें तो कोई कारण नहीं कि वे कम से कम अपने देश की आयात और निर्यात सम्बन्धी बैंकिंग आवश्यकताओं की पूर्ति न कर सके।

यातायात के साधनों में—भारतवर्ष में रेलों का निर्माण तथा संचालन सरकार तथा विदेशी कम्पनियों के अधिकार में है। यदि सरकार की अनुकूल नीति हो तो इसमें भी भारतीय साहसियों के लिए महान क्षेत्र है। हवाई जहाजों और विशेषतया मोटरों के काम में उत्त-रोत्तर वृद्धि होनेवाली है, यदि भारतीय साहसी सतर्क रहें तो वे इस क्षेत्र को अपने अधिकार में कर सकते हैं।

जहाजों के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। यदि भारतीय साहसी इस देश के आयात-निर्यात का काम अपने जहाजों द्वारा करें, तो उन्हें प्रतिवर्ष करोड़ों रुपए (जो अब विदेशों को जाते हैं) किराए के बचते रहें, और भिन्न-भिन्न श्रेणियों के हजारों आदमियों को रोजगार मिल जाय। परन्तु यहाँ भारत-सरकार इस ओर से उदासीन है। व्यापा-रिक जहाज-निर्माण करना या इस उद्योग को प्रोत्साहित करने के लिए आर्थिक सहायता देना तो दूर रहा, वह स्वयं अपने लिए जो सामान मँगाती है या अपनी ओर से सामान बाहर भेजती है, उसके भी लाने-लेजाने का अवसर देशी कम्पनियों को नहीं देती। इसमें सन्देह नहीं कि सरकार की बाधाओं और उदासीनता की वर्तमान नीति अत्यन्त हानिकारक है। इसका परित्याग होना चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि भारतवर्ष में साहस के लिए अनन्त क्षेत्र विद्यमान है, उसका समुचित उपयोग किया जाना चाहिए।

मुनाफा और आदर्श—आज-कल आदमी जितने व्यापार-व्यवसाय आदि करते हैं, सब में उनका उद्देश्य कुछ मुनाफा कमाना रहता है। क्या किसी कार्य की उपयोगिता की कसौटी उसके द्वारा मिलनेवाला द्रव्य है, और उपयोगिता का माप मुनाफे के परिमाण के अनुसार समझा जाना उचित है? क्या मानव-जीवन की उपयोगिता केवल यह है कि किसी भी प्रकार मुनाफे के रूप में द्रव्य संग्रह किया जाय?

यह सर्व-मान्य है कि मनुष्य का उद्देश्य सुख-शांति प्राप्त करना है, और यद्यपि मनुष्य को अपने जीवन-निर्वाह के भोजन-वस्त्र आदि विविध पदार्थों की जरूरत होती है, और जहाँ तक द्रव्य में ये चीजें खरीदने की क्षमता है, वहाँ तक वह अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु क्या द्रव्य ही मनुष्य को सुख-शान्ति प्रदान करता है, अर्थात् क्या अपना निर्वाह करनेवाले सौ आदमियों में सबसे अधिक सुखी वह व्यक्ति है, जिसके पास सबसे अधिक द्रव्य है? ऐसा तो देखने में नहीं आता है। इसके विपरीत, बहुधा वे आदमी कहीं अधिक सुख और शान्ति प्राप्त करते हैं, जिनका जीवन अपने ही सुख-दुख की चिन्ता में न व्यतीत होकर दूसरों की सेवा और परोपकार में लगा रहता है; अथवा यों कह लें कि जिनका विचार-क्षेत्र अधिक विस्तृत है, अपने ही शरीर की अथवा अपने परिवार की परिधि से आगे बढ़कर जो अपने ग्राम या नगर, अथवा राष्ट्र के व्यक्तियों में अपनेपन का अनुभव करते हैं, जो "वसुधैव कुटुम्बकम" का

आदर्श रखते हैं। इसलिए विचारशीलों की दृष्टि में, व्यवसाय में मुनाफे की अपेक्षा सेवा का हेतु रखना श्रेयस्कर समझा जाता है।

अभ्यास के प्रश्न

(१) मुनाफा क्या है? आप किस प्रकार से मुनाफा लेना जायज सिद्ध करते हैं? (१९३७)

(२) मुनाफा साहस का फल है। इस उक्त कथन को समझाइए। क्या कारण है कि मजदूरी और सूद की अपेक्षा मुनाफे में अधिक विषमता पाई जाती है? (१९३६)

(३) मुनाफे का उसके विविध भागों में विभाजन कीजिए तथा बताइए कि, किसी उद्योग धंधे में यह क्या महत्व रखता है? (१९३४)

(४) आधुनिक आर्थिक पद्धति के अन्तर्गत मुनाफा लेना कहां तक आवश्यक है?

(५) "भारत में साहस के लिए अनन्त क्षेत्र पड़ा है परन्तु साहसी बहुत धीरे धीरे आगे आते हैं।" इसका सकारण उपाय बताइए। (१९३२)

(६) "न केवल विचारशीलों बल्कि अर्थशास्त्रियों की दृष्टि से भी व्यवसाय में मुनाफे की अपेक्षा सेवा का हेतु रखना श्रेयस्कर है।" उक्त कथन की विवेचना कीजिए।

(७) मुनाफे से आप क्या समझते हैं? आप अन्वेषक की आय को मजदूरी में गिनिएगा या मुनाफे में? (१९२९)

चौंतीसवां अध्याय

—:*:—

असमानता

असमानता-वृद्धिः—पूर्वकाल में समानता का युग था, गरीब और अमीर में उतना अंतर नहीं था जितना आजकल है। सभ्यता की वृद्धि के कारण स्वामित्व भाव की भी वृद्धि हुई। पहले दस्तकार अपने हाथों से वस्तुएं बना कर बाजार में बिक्री करने ले जाते थे। कल पुरजों के आविष्कार के साथ दस्तकारों की रोजी मारी गई। पूंजीपतियों ने हजारों रुपयों लगा कर कारखाने खोल दिए। और जहां पहले सौ मज़दूर काम करते थे वहां केवल पांच को (मशीनों की देखरेख के लिए) रक्खा। मशीन से बनी वस्तु में अधिक सफाई होने के कारण लोग उसे अधिक पसन्द करते हैं। इसके अलावा अधिक मात्रा में बनने के कारण ये वस्तुएं सस्ते में तैयार होती हैं। अतः इनकी कीमत भी कम होती है। फलतः मांग बहुत अधिक हो जाती है।

अब मज़दूरों को केवल मज़दूरी मिलती है। मज़दूरी उनके रहन-सहन के दर्जे और उनकी संख्या पर निर्भर रहती है। मांग की अपेक्षा मज़दूरों की संख्या अधिक होने के कारण मांग और पूर्ति के नियमानुसार मज़दूरी कम मिलती है। पूंजीपति का मुख्य अभिप्राय है अधिक

से अधिक धन संग्रह करना। अतएव वे उन्हें कम से कम मजदूरी देना चाहते हैं। मज़दूरों के रहनसहन का दर्जा भी नीचा होता है। फिर उनका कारखानों पर कोई अधिकार नहीं रहता है। वे किसी समय भी काम से रोके जा सकते हैं। अतएव, उन्हें कम मज़दूरी पर ही सन्तोष करना पड़ता है।

इसी प्रकार भूमि पर कई किसानों का कोई अधिकार नहीं रहता। उन्हें अधिक लगान तो देना ही पड़ता है, खेत से होने वाली उपज का भी तो उचित मूल्य नहीं मिलता। कुछ तो बाजारभाव की अज्ञानता के कारण और कुछ दलालों, गौशाला, पियाऊ, ढुलाई आदिमदों के कारण किसान को मिलने वाली कीमत का काफी हिस्सा साफ हो जाता है।

फलतः एक ओर तो मुट्ठी भर आदमी पूंजीपति हो गए हैं जिन्हें रात दिन यही चिन्ता लगी रहती है कि इस धन का क्या करें। दूसरी ओर उनके असंख्य देशवासी भाई घोर परिश्रम करने पर भी पेट भर भोजन तथा शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक वस्त्र तक नहीं पाते। प्रायः उन सब देशों में जहां पूंजीवाद का बोलबाला है, असमानता की वृद्धि हो गई है। धनवान अधिक धनवान और गरीब अधिक गरीब होते जा रहे हैं।

असमानता दूर करने की आवश्यकताः—यह ठीक है कि मज़दूरों को मज़दूरी चुकाने के बाद ही पूंजीपति को मुनाफा मिलता है। यह भी सत्य है कि राज्य की ओर से जब तब मज़दूरों के काम के घंटे कम किए और मज़दूरी बढ़ा दी गई है। परन्तु मज़दूर न हों तो पूंजीपतियों

को मुनाफा कहां से मिलेगा ? उनका रुपया, उनका कारखाना, उनके वैज्ञानिक सब बेकार हो जाएंगे। श्रमजीवी वर्ग अपने जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओं के अभाव से होने वाले दुख का अनुभव करता है और अपनी आहों से पूंजीपतियों का और पूंजीवाद के युग का अन्त करना चाहता है। ऐसी दशा में पूंजीपतियों को स्वयं भी अपार हानि होती है। उन्हें चैन या शान्ति नहीं मिलती।

पूंजीपति भले ही अपने लिए स्वास्थ्यप्रद भवन बनवा लें। परन्तु गन्दी कोठरियों में मैले तथा बीमार मज़दूरों के कारण उत्पन्न विभिन्न रोगों के कीटाणुओं से पूंजीपति कब तक बचेंगे ? यह असंभव है कि सर्वत्र नरक बना रहे और केवल मुट्ठी भर लोगों के लिए स्वर्गीय सुख प्राप्त हों।

अस्तु, ऐसा अनर्थ न होना चाहिए कि श्रमिकों को तो बहुत थोड़ा भाग मिले और शेष सब धन पूंजीपति एवं साहसी ले बैठें। वर्तमान असमानता दूर होने पर ही आधुनिक दासता दूर होगी। पूंजीपतियों को तभी सुख मिलेगा जब कि वे त्याग और उदारतापूर्वक दूसरों के लिए सुख की सृष्टि करेंगे।

असमानता दूर करने के उपाय—असमानता दूर करने के लिए सर्वप्रथम तो मज़दूरों की वर्तमान मजदूरी बढ़ानी चाहिए। और वह भी इस हिसाब से कि श्रमजीवी को जीवनोपयोगी वस्तुएँ तो मिल जायँ। इसके अतिरिक्त उसे अपने आश्रितों को भी पालने-पोसने की सुविधा होनी चाहिए।

कतिपय सज्जनों का विचार है कि सरकार को अपनी कर-नीति द्वारा असमानता कम करना चाहिए। सरकार अमीरों के ऊपर अथवा अमीरों द्वारा व्यवहार में लाई जानेवाली वस्तुओं (उदाहरणार्थ, रेडियो, मोटर, रेशम, सिगरेट आदि) पर अधिक कर लगा कर अधिक धन उगाह सकती है। इस धन को वह ग़रीबों की भलाई के लिए खर्च कर देवे। यह कहना व्यर्थ है कि सरकार के लिए टैक्स बढ़ाना अथवा नया टैक्स लगाना मुश्किल है। भारत में अभी कृषि-आय पर टैक्स नहीं लगाया जाता। और कोई कारण नहीं है कि जब अन्य पूंजीपति आय-कर देते हैं तो जमींदारों से कृषि-आय-कर न लिया जाय। इसी प्रकार यू० पी० सरकार का वेतन-कर एक नई सूझ है जो कि आदमियों की तनख्वाह पर लगाया जायगा।

यह भी कहा जाता है कि विरासत या पैतृक सम्पत्ति मिलने का नियम उठा दिया जाय। प्रत्येक आदमी के मरने पर उसकी जायदाद का मालिक सरकार हो और वह उसके उत्तराधिकारियों के निर्वाह की समुचित व्यवस्था करे। परन्तु सरकार के लिए यह बहुत बड़ा झंझट होगा। इससे तो बेहतर होगा कि मृत्यु-कर लगा दिया जाय अर्थात् प्रत्येक मनुष्य के मरने पर उसकी जायदाद पर एक निश्चित दर से टैक्स लिया जाय, इसके अलावा यदि सरकार विरासत का और अधिक हिस्सा हड़प करना चाहे तो उत्तराधिकार टैक्स भी लगा दे जिससे कि प्रत्येक पैतृक सम्पत्ति पानेवाले मनुष्य को वह सम्पत्ति पाने से पहले ही अपने हिस्से पर उत्तराधिकार टैक्स देना पड़े। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार लगभग आधी सम्पत्ति सरकार हड़प लेती है।

उपरोक्त मृत्युकर व उत्तराधिकार-टैक्स द्वारा वसूल धन को सरकार गरीबों की भलाई में व्यय करे। यही नहीं, इसका यह प्रभाव होगा कि लोगों में ज्यादा धन-संग्रह करने और बड़े बड़े पूंजीपति बनने की अभिलाषा कम हो जाएगी। यदि धन संग्रह किया भी जाएगा तो संग्रहकर्त्ता अपने जीवन में ही उसे बहुत कुछ बांट देगा। हर प्रकार से इसके कारण धन के वितरण में कुछ अधिक समानता आ जाएगी।

धन-वितरण-सम्बन्धी असमानता दूर करने का अन्य उपाय हमको समाजवाद के अन्तर्गत मिलता है। समाजवादियों का कथन है कि सारी असमानता पूंजीवाद-प्रथा के कारण है। पक्के समाजवादी, कार्ल मार्क्स के कथनानुसार समाजवाद आर्थिक विषमता और पूंजीवाद का एक आवश्यक परिणाम है अर्थात् अन्त में उत्पत्ति तथा विनिमय के सब साधनों पर राज्य का अधिकार होगा। इस राज्य में मज़दूरों का बोलबाला होगा।

समाजवाद विशेषतया रूस में प्रचलित है। कहा जाता है कि वहां स्त्रियां तथा बच्चे सार्वजनिक सम्पत्ति हैं, वहां गृहस्थ-जीवन का लोप हो गया है, कोई ईश्वर को नहीं मानता, इत्यादि। रूस में समाजवाद के कारण क्या दशा हो रही है यह ठीक ठीक कहना कठिन है। परन्तु इतना तो सब को विदित है कि जब से रूस ने समाजवाद अपनाया तब से क्या आर्थिक क्षेत्र में, क्या युद्धक्षेत्र में, सब ओर रूस ने आश्चर्यजनक उन्नति कर ली है। आजकल रूस संसार की महान शक्तियों में गिना जाता है।

अस्तु, दर असल यह देखना चाहिए कि क्या समाजवादी सरकार

उत्पत्ति व विनिमय के 'प्रत्येक' साधन पर अधिकार कर सकती है। अथवा केवल मुख्य मुख्य साधनों पर अधिकार होने से काम चल जाएगा। पर क्या हर एक साधन पर सरकारी अधिकार हो सकता है ? क्या आरी, कुदाली, टोकरी आदि सब वस्तुएं राज्य की होंगी ?

स्वयं रूसी सरकार भी अपनी जनता को कुछ निजी सामान रखने की अनुमति देती है। हमको भी असमानता को पूरी तौर से दूर करने की आवश्यकता नहीं है, अपितु हमारा ध्येय तो आधुनिक अति विषम असमानता को बहुत कुछ दूर करना है। यदि राज्य का उत्पत्ति तथा विनिमय के प्रधान साधनों पर अधिकार हो जाए तो भी हमारा ध्येय पूर्ण हो जाएगा।

भारत और असमानता—अंत में प्रश्न उठता है कि असमानता की दृष्टि से भारत में क्या दशा है। यहां जमींदार, महाजन, कल-कारखानों के मालिक और उच्च राज-कर्मचारियों आदि का जीवन कैसा है और उसकी तुलना में किसान मजदूर आदि का रहन-सहन कैसा है। एक ओर मुट्ठी भर राजा महाराजाओं, वायसराय और गवर्नरों तथा कुछ पूंजीपतियों के इन्द्रभवन हैं दूसरी ओर असंख्य लोगों की घास फूस की टूटी फूटी झोपड़ी हैं या उनका भी अभाव है। एक ओर षटरस भोजन से इतनी तृप्ति होती है कि उसकी जूठन चील-कौवों के लिए फेंकी जाती है, दूसरी ओर आए दिन फाके किए जाते हैं।

इस असमानता को दूर करने के लिए पहले तो भारत के लोगों में परमार्थ या परोपकार भाव जागृति करना आवश्यक है। यों ही यहां कितने ही आदमी अपना बहुमूल्य समय राष्ट्रीय कार्य, साहित्य-सेवा, या

शिक्षाप्रचार आदि में लगाते हैं। जिसका प्रतिफल वे सामान्य भोजन वस्त्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं लेते।

परन्तु यह सोचना गलत होगा कि हमारे पूंजीपति मज़दूरों की तनख्वाहें बढ़ावेंगे। हम आए दिन मिलों की विफल हड़तालों का हाल समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं। संयुक्तप्रांत में कानपुर में गत कई वर्षों से मिल-मज़दूर और मिल-मालिकों का झगड़ा चला आ रहा है। प्रांतीय सरकार की ओर से जांच कमेटी नियुक्त हो चुकी, उसकी रिपोर्ट निकल गई तब भी मज़दूरों को कोई विशेष आर्थिक सन्तोष न मिला। रही टैक्स की बात। भारत में विभिन्न प्रांतीय कांग्रेसी मंत्रिमंडल जमींदारों, अमीरों तथा अधिक तनख्वाह पाने वाले मनुष्यों से ज्यादा टैक्स वसूल करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इससे होने वाली आमदनी के द्वारा छोटे कर्मचारियों की तनख्वाहें बढ़ाई जाती हैं तथा अन्य प्रकार से लगान आदि घटा कर ग़रीबों को लाभ पहुँचाया जा रहा है।

परन्तु समाजवाद अभी भारत से काफी दूर है। हालांकि देश के अंदर समाजवादियों का आंदोलन धीरे धीरे जोर पकड़ता जा रहा है परन्तु इस समाजवादी आंदोलन में भाग लेने वाले व्यक्ति अधिकतर इसलिए इसमें भाग लेते हैं कि अमीरों और धनवानों की सम्पत्ति हड़प ली जायगी। कांग्रेस के कारण अत्याचार पीड़ित देशवासियों में भ्रातृभाव और साथ साथ काम करने की भावना की वृद्धि हो रही है।

भारतीय आदर्शः—भारत का प्राचीन आदर्श यह था कि धन को व्यय करते समय धनवान व्यक्तिगत भोग का ख्याल न करके समाज के हित को ध्यान में रखते थे और अपनी रुचि के अनुसार अपने धन से

जनता की शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन आदि की व्यवस्था करते थे। क्या ही अच्छा हो यदि हम समाजवाद का स्वागत करने के पहले उस अपनी भूत-कालीन संस्कृति की छाप लगा सकें, ताकि भारतीय समाजवाद भारतीय जनता का हित तो करे ही पर संसार के लिए शिक्षाप्रद तथा कल्याणकारी भी हो।

अभ्यास के प्रश्न

(१) पूंजीवाद में असमानता बढ़ने के प्रधान कारण लिखिये।

(२) असमानता की वृद्धि से जो हानियां होती हैं उनका दिग्दर्शन कराइये।

(३) असमानता करों द्वारा किस प्रकार कम की जा सकती है?

(४) सरकार द्वारा वस्तुओं का उत्पादन कार्य करने से देश को क्या हानिलाभ होते हैं?

(५) भारत में असमानता के उदाहरण दीजिये।

(६) रूस में समाजवाद के जमाने में जनता को क्या लाभ हुए? संक्षेप में लिखिये।

(७) परोपकार के भावों के प्रचार से असमानता किस प्रकार दूर की जा सकती है?

छठवां खंड

राजस्व

पैंतीसवाँ अध्याय

—:*o*:—

सरकारी आय-व्यय का साधारण परिचय

प्राक्कथन—'राजस्व' में इस बात का विचार किया जाता है कि सरकार देश में क्या क्या कार्य करती है कि जिनके लिए उसे खर्च करना होता है। और यह रुपया किस किस मद से, किस प्रकार वसूल किया जाता है। यहां पर सरकार का आशय केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकार से तो है ही, म्युनिसिपैलिटिया और जिला बोर्ड आदि स्थानीय संस्थाएँ भी इसी के अन्तर्गत मानी जाती हैं।

सरकारी आय-व्यय में व्यय का महत्व—सरकारी आय-व्यय में और लोगों के निजी आय में एक विशेष अन्तर है। साधारण आदमी अपनी आमदनी के अनुमान से ही निश्चित करते हैं कि उन्हें अमुक अमुक कार्य करना चाहिए। परन्तु सरकार की बात दूसरी है। वह पहले यह सोचती है कि उसे इस वर्ष अमुक-अमुक कार्य करने हैं, वह उनके लिए आवश्यक खर्च का अनुमान करती है और इसके आधार पर वह यह बिचार करती है कि उसे किस किस मद से कितनी आय वसूल करनी चाहिए, जिससे उसका सब खर्च चल जाय। लेकिन यह बात नहीं है कि वह जितना खर्च सोचती है उतनी आय वसूल

करती ही हो। अन्य लोगों की तरह उसे भी इस बात का ध्यान रखना पड़ता ही है कि वह कितनी आय वसूल कर सकती है।

सरकार के कार्य—सरकार के कार्यों के निम्नलिखित भेद होते हैं:—(१) देश की बाहर के शत्रुओं से रक्षा; (२) देश के भीतर शान्ति और सुव्यवस्था; (३) जनता की शारिरिक, मानसिक, आर्थिक और नैतिक उन्नति; (४) ऐसे कार्य जिनके लिए बड़ी पूंजी की आवश्यकता हो, तथा जिन्हें जन-साधारण सुगमता और मितव्ययिता-पूर्वक न कर सके। आज कल सरकार के कार्यों का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। प्राचीन काल में अनेक स्थानों में, सरकार का मुख्य कार्य देशरक्षा और शान्ति सुव्यवस्था होता था। अब जनता चाहती है कि सरकार न केवल शिक्षा, स्वास्थ्य आदि राष्ट्र-निर्माणकारी कार्य करे, वरन् सामाजिक और आर्थिक उन्नति के कार्यों में भी सहायक हो। उदाहरणवत् भारतवर्ष में बालविवाह आदि का निषेध, हरिजनों की सामाजिक बाधाएँ हटाना, किसानों की ऋण-ग्रस्तता दूर करना, स्वदेशी उद्योग धन्धों की उन्नति और संरक्षण करना देश की बेकारी एवं निर्धनता हटाना आदि।

आय-व्यय का अनुमान-पत्र—इसमें आगामी वर्ष की अनुमानित आय और व्यय ब्योरेवार लिखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त, तुलना की सुविधा के लिए इसमें गत वर्ष की आय-व्यय के वास्तविक अंक दिये जाते हैं, और प्रचलित वर्ष की आय-व्यय के नौ-दस महीने के वास्तविक, और शेष दो-तीन महीनों के अनुमानित अंकों का योग दिया जाता है, जिसे संशोधित अनुमान कहते हैं। सरकारी हिसाब के लिए

किसी वर्ष की पहली अप्रैल से अगले वर्ष की इकत्तीस मार्च तक।एक साल समझा जाता है।

सन् १६१६ ई० के शासन-सुधारों के बाद से प्रान्तीय सरकारों के आय-व्यय के अंक केन्द्रीय सरकार के बजट में नहीं रखे जाते। प्रत्येक प्रान्त अपने आय-व्यय का अनुमान-पत्र अलग-अलग बनाता है। इस प्रकार समस्त ब्रिटिश भारत के लिए एक बजट न होकर कई बजट होते हैं।

आय के मुख्य भेद—सरकार की आय के मुख्य भेद निम्न लिखित हैं:—

(१) कर।

(२) सरकारी शुल्क।

(३) व्यवसायिक आय।

इसके अतिरिक्त आय के कुछ साधन ये हैं:—सरकारी सम्पत्ति और नजूल (सरकारी जमीन), लावारिस सम्पत्ति, युद्ध आदि के लिए लोगों का दिया हुआ दान, चन्दा या सहायता, और जब्त किया हुआ माल तथा जुर्माना।

कर—कर, सरकार को उसके उन कार्यों के लिए अनिवार्य रूप से दिया हुआ धन है, जो सार्वजनिक हित के लिए किये जाँय, चाहे उन कामों से कर-दाता को व्यक्तिगत लाभ हो या न हो। कर सर्व-साधारण से वसूल किये जाते हैं, अतः जनता को यह ज्ञात होना चाहिए कि करों से प्राप्त धन किन-किन कार्यों में व्यय होता है; प्रत्येक कर जनता के प्रतिनिधियों के मतानुसार निर्धारित होना चाहिए।

प्रत्यक्ष और परोक्ष कर—कर दो तरह के होते हैं; प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष कर उस कर को कहते हैं, जिसका भार उसी आदमी या संस्था पर पड़ता है, जिससे वह लिया जाता है। इसे देते समय कर-दाता यह भली भाँति जान लेता है कि वह कितना कर, और किस रूप में, सरकार को देता है। उदाहरणवत् आय-कर और मालगुजारी आदि प्रत्यक्ष कर है। परोक्ष कर उस कर को कहा जाता है, जिसका भार उसके चुकाने वाले दूसरों पर डाल देते हैं। उदाहरणवत्, व्यापारी आयात या निर्यात पर जो कर देते हैं, उसे माल बेचने के समय, अपने ग्राहकों से वसूल कर लेते हैं। व्यवहारोपयोगी चीजों—कपड़े, नमक, शराब, अफीम आदि पर लगने वाले कर परोक्ष कर हैं।

प्रत्यक्ष कर लोगों को बहुत अखरते हैं, परन्तु परोक्ष करों की भरमार होनी भी बहुत हानिकर होती है। जीवनोपयोगी पदार्थों पर लगाये हुए करों से दरिद्र-से-दरिद्र आदमी भी नहीं बच सकता। इनसे निर्धनों का कष्ट बहुत बढ़ जाता है, अतः ये कर यथा-सम्भव न लगाये जाने चाहिएँ। हाँ, विलासिता के पदार्थों पर लगे हुए करों से यह बात नहीं होती; कारण इन पदार्थों को प्रायः अमीर लोग खरीदते हैं, और वे कर-भार सहज ही सह सकते हैं।

फीस या शुल्क—यह न्याय, शिक्षा, रजिस्टरी करने या पेटेंट देने आदि कुछ विशेष कार्यों के लिए सरकार द्वारा अनिवार्य रूप से लिया हुआ धन है। यह उसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह से लिया जाता है, जो उक्त किसी कार्य से लाभ उठाना चाहता है। इसका 'अनिवार्य रूप' समझने के लिए कल्पना करो कि एक आदमी को कोई अदालती

डिग्री सरकार से मान्य करानी है। उसे किसी ऐसी अदालत में ही अपने मुक़द्दमे का फ़ैसला करना होगा, जो सरकार द्वारा स्थापित या अनुमोदित हो। इसी प्रकार किसी व्यक्ति की शिक्षा सम्बन्धी डिग्री, सनद या डिप्लोमा सरकार तभी मान्य करती है, जब कि उसने सरकारी या सरकार-सम्बद्ध संस्था में शिक्षा पायी हो, या परीक्षा दी हो; इसलिए शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता को सरकार द्वारा मान्य कराने के लिए उसे उक्त संस्थाओं की फ़ीस या शुल्क देना अनिवार्य है। साधारणतया फीस का परिमाण किये हुए कार्य की तुलना में कम रहता है। उदाहरण के लिए एक स्कूल के चलाने में जितना ख़र्च पड़ता है, उस स्कूल में पढ़नेवालों की फ़ीस उस अनुपात से कम ही रहती है। भारतवर्ष में न्याय-शुल्क ख़र्च की अपेक्षा कहीं अधिक है, इससे सरकार को काफ़ी आय होती है; यह अनुचित है।

करों के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। उनमें और फ़ीस में यह अन्तर है कि कर उन कामों के वास्ते लिये जाते हैं, जिनका सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से न हो, जो सब के लिए लाभदायक समझे जाते हों; इसके विपरीत, फ़ीस केवल उन व्यक्तियों से ली जाती है, जो फ़ीस के उपलक्ष्य में प्रत्यक्ष तथा व्यक्तिगत रूप से लाभ उठाते हैं।

व्यवसायिक आय—भारतवर्ष में सरकार के व्यवसायिक कार्य रेल, डाक, तार जंगल और आबपाशी हैं,* यदि इन कार्यों से बहुत

---

* रेल, डाक, तार, नहर आदि से जो कुल आय होती है, उसमें से इन कार्यों के प्रबन्ध और संचालन आदि में खर्च होनेवाला रुपया निकाल कर हिसाब में विशुद्ध आय ही दिखायी जाती है।

अधिक मुनाफ़ा होता है तो यह स्पष्ट ही है कि इनके सञ्चालन अर्थात् प्रबन्ध आदि में जो व्यय होता है, उसकी अपेक्षा प्रजा से धन अधिक वसूल किया जाता है। कुछ आदमी इस आय को बहुत अच्छी समझते हैं, कारण कि यह उन लोगों से वसूल की जाती है, जो इसे देना सहन कर सकते हैं। परन्तु यदि फजूलखर्ची होती हो या मुनाफा अधिक रहता हो तो यह आय भी प्रजा को बहुत दुसह्य हो जाती है, और इससे व्यापार आदि में बाधा हो सकती है।

सरकारी आय की मद्दें—भारतवर्ष में सरकारी आय की मद्दें इस प्रकार हैं।

१—आय कर
२—मालगुजारी
} प्रत्यक्ष कर

३—आयात निर्यात-कर
४—नमक
५—आबकारी
६—अफीम
} परोक्ष कर

७—अन्य कर—देशी राज्यों का नजराना; प्रान्तों का मनोरंजन कर।

८—स्टाम्प
९—रजिस्टरी
१०—पुलिस
११—न्याय
१२—शिक्षा
१३—स्वास्थ्य और चिकित्सा
१४—निर्माण-कार्य
१५—टकसाल
} फीस या शुल्क

२०—सूद की आय—म्युनिसिपैलिटियों या किसानों आदि को उधार दिये हुए रुपये का सूद।

२१—सैनिक आय—सैनिक स्टोर आदि की बिक्री से आय।

२२—विविध—स्टेशनरी और रिपोर्टों की बिक्री से आय।

केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय आय—सरकारी आय के तीन भेद किये जा सकते हैं—केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय। कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जिनको देश भर में समान रूप से करना आवश्यक होता है; उनमें एक ही प्रकार की नीति तथा कार्य-पद्धति काम में लायी जाती है। उदाहरणवत् यह आवश्यक है कि विदेश से आने वाले, तथा यहाँ से बाहर जाने वाले माल के सम्बन्ध में एक ही प्रकार की नीति रहे; आयात-निर्यात पर लगने वाले करों की दर में भिन्न-भिन्न प्रान्तों की दृष्टि से भेद न हो; डाक तार के नियम तथा दर सर्वत्र समान हों; सरकारी मुद्रा या सिक्का भी सब प्रांतों में एक समान ही प्रचलित हो। ऐसे कार्यों को भारत-सरकार करती है, और उनसे होने वाली आय केन्द्रीय आय गिनी जाती है।

इसके विपरीत, कृषकों से भिन्न-भिन्न स्थानों में सरकार का संबन्ध एक ही प्रकार का नहीं है, कहीं स्थायी बन्दोबस्त है, कहीं अस्थायी;

कहीं ज़मींदारी या ताल्लुकेदारी प्रथा है, कहीं रय्यतवारी। अतः यह विषय प्रान्तीय सरकारों के सुपुर्द है। प्रत्येक प्रान्त में इससे होने वाली आय वहाँ की प्रान्तीय सरकार वसूल करती है। इसी प्रकार आबपाशी, जंगल और न्याय आदि सम्बन्धी आवश्यकताएँ तथा परिस्थितियां भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों की पृथक् पृथक् हैं, इन मद्दों से होनेवाली आय प्रान्तीय समझी जाती है। हाँ, छोटे-छोटे (चीफ़-कमिश्नरों के) प्रान्तों का प्रबन्ध वास्तव में केन्द्रीय सरकार करती है, अतः उनकी सब आय केन्द्रीय ही होती है।

गत वर्षों में, भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारों की कुल वार्षिक आय लगभग दो सौ करोड़ रुपये रही है; लगभग १२० करोड़ रुपये की आय भारत-सरकार की, और शेष प्रान्तीय सरकारों की। प्रत्येक मद्द से होने वाली आय प्रति वर्ष कुछ घटती-बढ़ती रहती है। कुछ कार्यों को, जिनका सम्बन्ध किसी नगर या ग्राम-समूह से ही होता है, करने का अधिकार स्थानीय संस्थाओं अर्थात् म्युनिसिपैलिटियों या जिला-बोर्डों को दिया हुआ है। इन संस्थाओं को कुछ करों आदि की आय होती है, यह आय स्थानीय आय कहलाती है।

व्यय के मुख्य भेद—सरकार के द्वारा होने वाले व्यय का स्थूल वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है:—

(१) देशरक्षा के लिए—स्थल-सेना, जल-सेना, वायु-सेना, और सैनिक सामग्री का व्यय।

(२) शान्ति सुव्यवस्था के लिए—इसमें पुलिस, न्याय, जेल और शासन सम्मिलित हैं। शासन में गवर्नर-जनरल, गवर्नरों और

मेजिस्ट्रेटो आदि के सम्बन्ध में किया जाने वाला खर्च सम्मिलित होता है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापक मंडलों और सेक्रेटरियों की मद में होने वाले खर्च का, और कर वसूल करने के खर्च का भी समावेश इसी में होता है।

(३) जन-हितकारी—शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, कृषि, उद्योग, सिविल निर्माण-कार्य, मुद्रा, टकसाल और विनिमय, मनुष्य गणना, दुर्भिक्ष-निवारण आदि का खर्च।

(४) व्यावसायिक कार्य—रेल, डाक, तार, जंगल और नहर आदि का खर्च। इन मद्दों के व्यय के हिसाब में, विविध कर्मचारियों के वेतन आदि का खर्च न दिखा कर, केवल इन कार्यों में लगी हुई पूंजी का सूद ही दिखाया जाता है।

केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय व्यय—सेना, रेल, डाक, तार, मुद्रा और टकसाल आदि जो कार्य सम्पूर्ण राज्य के लिए किये जाते हैं, उनके वास्ते खर्च भारत-सरकार करती है। यह खर्च केन्द्रीय व्यय कहलाता है। जो कार्य किसी खास प्रान्त के वास्ते आवश्यक होता है, और जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की पद्धति बर्ती जाती हैं, उसके लिए उस प्रान्त की सरकार खर्च करती है। यह खर्च प्रान्तीय व्यय कहलाता है; यथा शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, आबपाशी, जंगल, उद्योग, पुलिस, न्यायालय, और जेल, आदि। [चीफ-कमिश्नरों के प्रान्तों में होने वाला खर्च भारत-सरकार ही करती है।] जो कार्य किसी नगर, ग्राम या ग्राम-समूह के लिए किया जाता है, उसके लिए खर्च स्थानीय संस्थाएँ करती हैं। यह खर्च स्थानीय व्यय कहलाता है।

स्थूल दृष्टि से भारतवर्ष की केन्द्रीय तथा सब प्रान्तीय सरकारों का वार्षिक खर्च लगभग दो सौ करोड़ रुपये है। इसमें से १२० करोड़ रुपया तो भारत-सरकार खर्च करती है, और ८० करोड़ रुपया विविध प्रान्तीय सरकारों द्वारा खर्च होता है।

सरकारी व्यय और लोक-नियंत्रण—केन्द्रीय अर्थात् भारत-सरकार द्वारा होने वाले व्यय में से लगभग ८० प्रति शत पर व्यवस्थापक सभा का मत नहीं लिया जाता; उसका निर्णय कौंसिल-युक्त गवर्नर जनरल ही करता है। हां, सन् १९३५ ई० के विधान के अनुसार प्रान्तों में बहुत कुछ उत्तरदायी सरकारों की स्थापना हो गया है। वे विशेषतया कांग्रेसी सरकारें, बहुत सोच-समझ कर खर्च करती हैं, उन पर लोक-प्रतिनिधियो का नियन्त्रण है। स्थानीय सस्थाएँ प्रान्तीय सरकारों के अधीन हैं, अतः उनके द्वारा होने वाला व्यय भी, (जिसका परिमाण अपेक्षाकृत कम ही होता है) जनता के हित की दृष्टि से ही किया जाता है।

स्मरण रहे कि उत्तरदायी शासन की स्थापना केवल गवर्नरों के प्रान्तों में की गयी है, चीफ-कमिश्नरों के प्रान्तों में नहीं। गवर्नरों के प्रान्त निम्नलिखित हैं:—(१) बम्बई (२) मदरास, (३) संयुक्त-प्रान्त (४) बिहार, (५) उड़ीसा, (६) मध्यप्रान्त और बरार (७) पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त (८) सिन्ध (९) आसाम, (१०) पंजाब और (११) बंगाल। इनमें से प्रथम सात में कांग्रेसी सरकार है, ८, और ९ में कांग्रेस अन्य दलो से मिल कर शासन कर रही है। पंजाब और बंगाल में गैर-कांग्रेसी सरकारें हैं।

चीफ कमिश्नरों के प्रान्त निम्नलिखित हैं:—(१) देहली, (२) अजमेर, मेरवाडा, (३) कुर्ग, (४) अन्दमान-निकोबार, (५) ब्रिटिश बिलोचिस्तान, और (६) पंथ पिपलोदा ।

अभ्यास के प्रश्न

(१) सरकार की आय के मुख्य साधन उदाहरणों सहित समझाइये ।

(२) निम्नलिखित मदों में से कौन सी टैक्स (कर) हैं और कौन सी शुल्क या व्यवसायिक आय के साधन ।

चुंगी, कोटफीस, डाक का महसूल, साइकल रखने की लाइसेंस फी, आबपाशी शुल्क ।

(३) निम्नलिखित करों में से कौन से प्रत्यक्ष हैं और कौन से परोक्ष ?

दियासलाई पर कर, नमक कर, मालगुजारी, मृत जायदाद पर कर, विवाह-कर, कृषि-आय कर ।

(४) प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों में क्या फर्क होता है ? अपने देश के लिए आप किस प्रकार के टैक्स पसन्द करते हैं और क्यों ?

(५) स्पष्ट रूप से बताइए कि आप प्रत्यक्ष तथा परोक्ष टैक्सों से क्या समझते हैं ? परोक्ष टैक्सों के विरुद्ध कौन कौन सी दलीलें पेश की जाती हैं ?

छत्तीसवाँ अध्याय

—:०:—

केन्द्रीय सरकार का आय-व्यय

सरकारी आय-व्यय का साधारण परिचय दे चुकने पर अब हम केन्द्रीय आय-व्यय का विचार करते हैं। पहले केन्द्रीय सरकार की आय की बात लीजिये।

केन्द्रीय सरकार की आय—अगले पृष्ठ पर दिये हुए नक्शे से ज्ञात होगा कि भारत-सरकार को भिन्न-भिन्न मद्दों से कितनी कितनी आय होती है। स्मरण रहे कि (१) चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों की (प्रान्तीय विषयों की) आय केन्द्रीय सरकार के हिसाब में शामिल की जाती है, कारण इसका सम्बन्ध केन्द्रीय सरकार से ही रहता है। (२) हिसाब में शुद्ध आय ही दिखायी गयी है। रेल, डाक, तार, नहर आदि व्यवसायिक कार्यों से जो कुल आय होती है, उसमें से इन कार्यों के संचालन आदि में खर्च होनेवाला रुपया निकाल दिया गया है।

केन्द्रीय सरकार की अनुमानित आय

सन् १६३८-३६ ई०

मद	लाख रुपये
१—आयात-निर्यात-कर	४३,८१
२—उत्पादन-कर	
(चीनी आदि पर)	७,७६
३—आय-कर }	१२,४२
४—कारपोरेशन-कर }	१,५५
५—नमक	८,३५
६—अफीम	४५
७—अन्य करों से आय	१,०७
८—रेल	३२,५७
६—आबपाशी	१
१०—डाक, तार	७५
११—सूद की आय	६६
१२—सिविल शासन	१,००
१३—मुद्रा टकसाल	६७
१४—सिविल निर्माण-कार्य	३१
१५—सैनिक आय	५,६०
१६—विविध—	
स्टेशनरी, प्रिटिंग, पेन्शनादि	१,५५
योग	११८,५३

अब नक्शे की मुख्य मुख्य मदों का कुछ विशेष विचार करते हैं ।

आयात-निर्यात-कर—आयात-निर्यात-कर भारतवर्ष में बाहर से आने वाले, तथा यहां से विदेश जाने वाले माल पर लगता है। आयात-कर खेती के औजारों, कागज बनाने के मसाले, किताबों, सिक्कों आदि को छोड़ कर अधिकांश विदेशी माल पर लगता है। इसके दो उद्देश्य हैं, (१) सरकारी आय; साधारणतया यह कर वस्तुओं के मूल्य के हिसाब से लगाया जाता है। (२) स्वदेशी वस्तुओं का संरक्षण, यह ऐसी विदेशी वस्तुओं पर लगाया जाता है, जिनकी प्रतियोगिता से यहां की बनी वैसी वस्तुओं का संरक्षण करना अभीष्ट होता है। चीनी पर कम से कम ७॥) फी हंडरवेट और दियासलाई पर १॥=) फी कोड़ी बक्स संरक्षण कर लगता है। आयात-कर उन व्यापारिक समझौतों का विचार करते हुए लगाये जाते हैं, जो भारतवर्ष और इङ्गलैण्ड में, अथवा भारतवर्ष और जापान में हुए हैं। इङ्गलैण्ड के माल पर दस फी सदी कर की रियायत है, अर्थात् उस पर अन्य विदेशी माल की अपेक्षा इतना कर कम लगता है। इसके बदले में इङ्गलैण्ड भारतवर्ष के माल पर इतना ही कर कम लगाता है। लोहा, कागज, कपड़ा इत्यादि के आयात पर संरक्षता कर लगाया गया है।

उत्पादन-कर—यह कर भारतवर्ष में बनने वाली चीनी और दियासलाई पर लगता है। विदेश से आने वाली इन वस्तुओं पर भारी संरक्षण कर लगने के कारण वहां से इन वस्तुओं का आयात कम होता है, और फल स्वरूप सरकार को उस मद्द से आय भी कम होती है। उसकी पूर्ति के लिए केन्द्रीय सरकार ने यहां कारखाने की बनी चीनी पर २) प्रति मन, खांडसारी चीनी पर ।=) प्रति मन कर

लगाया है, और दियासलाई के ४०, ६० तथा अधिक सींख वाले बक्सो पर प्रति कोड़ी क्रमशः १), १।) और २) उत्पादन कर लगाया जाता है।

आय-कर—यह कर विशेषतया मुनाफे या वेतन पर लगता है। किसी भी वर्ष आय-कर उससे पिछले वर्ष की आमदनी पर लगाया जाता है। अतः कुल आय-कर और उसकी वसूली के आधार पर देश की, पिछले वर्ष की आर्थिक स्थिति का अन्दाज लगाया जा सकता है।

भारतवर्ष में आय-कर सन् १८६० ई० से लगने लगा है। इस समय दो हजार रुपये से कम आमदनी पर कर नहीं लगाया जाता, कारण, कि यह माना जाता है कि इतनी आय एक परिवार के निर्वाह के लिए आवश्यक है। व्यक्तियो, रजिस्टरी न की हुई फर्मों (कोठियों) और संयुक्त परिवारों की (दो हजार रुपये या इससे अधिक) आय पर इस कर का स्वरूप वर्द्धमान है। अर्थात् जितनी आय अधिक होती है उतनी ही कर की दर बढ़ती जाती है। प्रत्येक कम्पनी, और रजिस्टरी की हुई फर्म से आय-कर एक निर्धारित दर से लिया जाता है।

सुपर-टैक्स योरपीय महायुद्ध के समय से लगाया गया है। यह पचास हजार या इससे अधिक की आय पर लगता है। आय-कर की भाँति इसकी दर भी वर्द्धमान है।

नमक-कर—यह एक उत्पादन कर है, और उस नमक पर १।) प्रति मन के हिसाब से लगता है, जो यहाँ बनाया जाता है। विक्रय के

लिए नमक तैयार कराने का अधिकार एक मात्र सरकार को है, नमक तैयार करने का खर्च बहुत थोड़ा होता है, कुछ खर्च किराये में लगता है। परन्तु इस पर जो कर लगता है, वह इस लागत से कई गुणा होता है। नमक भोजन का आवश्यक पदार्थ होने से उस पर लगने वाला कर जीवन-रक्षक वस्तु पर कर है और इसका भार गरीब से गरीब आदमी पर भी पड़ता है। इस प्रकार इस कर का अनुचित होना स्वयं सिद्ध है। इसीलिए इस कर का यहाँ घोर विरोध किया जाता है।

स्मरण रहे कि यद्यपि भारतवर्ष में विशाल समुद्र-तट, नमक की झील, तथा नमक के पहाड़ होने के कारण, यहाँ जनता की नमक की आवश्यकता सहज ही पूरी हो सकती है, तथापि यहाँ कुछ नमक बाहर से भी आता है। इसका कारण सरकार की इस कर-सम्बन्धी नीति है। सरकार स्वाभाविक रूप से पाये जाने वाले या सहज ही बनाये जा सकने वाले इस पदार्थ का जनता को स्वेच्छा-पूर्वक उपयोग नहीं करने देती। वह इस पर अपना एकाधिकार रखती है, और खूब भारी कर लगाती है। उधर, विदेशी कम्पनियों को विलायती तैयार माल लाने के लिए जितने जहाजों की जरूरत होती है, यहाँ से कच्चा माल ले जाने के लिए उनसे अधिक जहाज लाने पड़ते हैं। जहाजों को खाली लाना कठिन है। अतः वे इन अधिक जहाजों में नमक (तथा कोयला आदि वजनी सामान) नाममात्र के किराये पर ले आती हैं, उसे वे आयात-कर देकर भी भारत के नमक से सस्ते दामों पर बेच सकती हैं, और बेचती हैं।

अफीम-कर—अब से तीस वर्ष पहले अफीम की, चीन आदि

देशों में खूब निर्यात होती थी, और भारत-सरकार को इस मादक पदार्थ के कर से खूब आमदनी होती थी। अब भारतवर्ष से, औषधि के रूप के सिवाय, इसकी कहीं निर्यात नहीं होती; फल-स्वरूप इस मद्द की आय भी बहुत ही कम, पहले की अपेक्षा तो नगण्य-सी ही (लगभग ४५ लाख रुपये वार्षिक) होगयी है।

अन्य करों से आय—पूर्वोक्त करों के अतिरिक्त, केन्द्रीय सरकार को कुछ आय तो देशी राज्यो से मिलने वाले नजराने से होती है, जो प्रायः उन संधियों के अनुसार मिलता है, जिनसे पूर्वकाल में देशी राज्यों के कुछ स्थानों का ब्रिटिश भारत के स्थानों से परिवर्तन हुआ था, या जिनसे देशी नरेश अपने राज्य में फौज रखने के उत्तरदायित्व से मुक्त हुए थे।

रेल—भारतवर्ष में रेलों में लगभग नौ सौ करोड़ रुपये लगे हुए हैं। परन्तु सिचाई और सड़कों आदि के कहीं अधिक उपयोगी कार्यों में पूंजी भयंकर कंजूमी करके लगायी गयी है। इसके अतिरिक्त, रेलों में अधिकांश पूंजी एवं प्रबन्ध विदेशी है; जनता के हितो की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता। तीसरे दर्जे के यात्रियों को, जिनकी संख्या अन्य सब दर्जों के यात्रियों से अधिक होती है, बहुत शिकायतें रहती हैं। यदि माल ले जाने की दरों में आवश्यक परिवर्तन किया जाय और जनता की सुविधाओं का यथेष्ट विचार रखा जाय, तो रेलों के द्वारा होने वाले व्यापार और यात्रा की वृद्धि हो और फलतः उनकी आय भी बढ़े।

इस मद्द की आय के हिसाब के वास्ते सरकारी रेलों की कुल आय में से उनके चलाने का खर्च तथा कम्पनियों को दिया हुआ मुनाफा घटा दिया जाता है, और शेष मे कम्पनियों की रेलो से होने वाली आय जोड़ दी जाती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है सन् १९२५ ई० से रेलो का हिसाब अन्य सरकारी हिसाब से पृथक् कर दिया गया है। इस समय यह व्यवस्था है:—रेलो में लगी हुई पूंजी का एक प्रतिशत सरकारी आय मे सम्मिलित किया जाता है, इसके अतिरिक्त जिस वर्ष निर्धारित से अधिक मुनाफ़ा होता है, उस वर्ष के अधिक मुनाफे का पंचमांश भी सरकार को मिलता है। अगर सैनिक महत्व वाली रेलों से नुकसान हो तो उतनी रकम सरकार को दी जाने वाली रकम से काट ली जाती है। अगर सरकार को दी जाने वाली रकम चुकाने के बाद रेलवे रिजर्व फंड के लिए तीन करोड़ से अधिक रुपया रह जाय, तो जितना रुपया अधिक हो, उसका तृतीयांश सरकार को दिया जाता है।

डाक और तार—इस मद्द की आय में वह रकम दिखायी जाती है जो कुल आय में से संचालन-व्यय निकाल कर शेष रहती है। कुल आय में (क) भारतवर्ष में होने वाली डाक और तार की आय, मनीआर्डर-कमीशन और इंडो-योरोपियन तारों की आय तथा (ख) इंगलैंड में होने वाली इंडो-योरोपियन तारों की आय सम्मिलित होती है। व्यय में (१) भारतवर्ष के कार्यालयों का व्यय, स्टेशनरी, और छपाई, डाक लाने और ले जाने का खर्च, तार की लाइन आदि का खर्च, (२) इंगलैंड में ईस्टर्न मेल के लिए दी जाने वाली रकम तथा

(३) भारतवर्ष और इंगलैंड में होने वाले इंडो-योरोपियन तारों का खर्च सम्मिलित है।

भारतवर्ष में सरकार ने जनता की सामर्थ्य और सुविधा का विचार न करते हुए पोस्टकार्डों और लिफाफों का मूल्य बढ़ा रखा है, इससे लोगों के पारस्परिक व्यवहार-वृद्धि में बड़ी रुकावट है। पार्सलों के महसूल की दर बढ़ने से अब जन साधारण को वी. पी. से पुस्तकें मँगाने का खर्च बहुत कष्टप्रद हो गया है।

सूद की आय—सूद का आय में भारत-सरकार द्वारा प्रान्तों को दिये हुए ऋण और पेशगी का सूद, रेलवे कम्पनियों को दी हुई पेशगी का सूद तथा प्रोविडेंट फंड की सिक्यूरिटियों का सूद, तथा इंगलैंड में होने वाली सूद की कुछ आय सम्मिलित है।

निर्माण कार्य—इस मद्द में सरकारी मकानों का किराया, उनकी बिक्री का रुपया, तथा इस प्रकार की अन्य विविध आय सम्मिलित है।

मुद्रा, टकसाल और विनिमय—इस मद्द में सरकार के 'पेपर करेंसी रिज़र्व' नामक कोष में जो—सिक्यूरिटियाँ रखी जाती हैं, उनकी रकम का सूद तथा भारतवर्ष के लिए पैसा इकन्नी आदि सिक्के ढालने का लाभ सम्मिलित है। रुपया ढालने का लाभ 'गोल्ड स्टेंडर्ड रिजर्व' अर्थात् मुद्रा ढलाई-लाभ-कोष में डाला गया है। विनिमय की आय के सम्बन्ध में, इस मद्द में होने वाले व्यय के प्रसंग में लिखा जायगा।

सैनिक आय—इस आय में सैनिक स्टोर, कपड़े, दूध, मक्खन

तथा पशुओं की बिक्री से, और सैनिक निर्माण-कार्य से होने वाली आय सम्मिलित है।

स्टेशनरी और प्रिंटिंग आदि—भारत-सरकार की अपनी स्टेशनरी और छापेखाने की व्यवस्था है। इस मद्द में सरकारी गजट, रिपोर्टों तथा पुस्तकों आदि की बिक्री से होने वाली, तथा प्रेस की अन्य आय सम्मिलित है।

केन्द्रीय सरकार का व्यय—अगले पृष्ठ पर दिये हुए नक्शे में यह बताया गया है कि भारत-सरकार किन-किन मद्दों में और कितना-कितना रुपया प्रतिवर्ष खर्च करती है। स्मरण रहे कि—

(१) चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों का (प्रान्तीय विषयों का) व्यय केन्द्रीय सरकार के हिसाब में शामिल किया गया है, कारण, इस व्यय के लिए केन्द्रीय सरकार ही उत्तरदायी है।

(२) केन्द्रीय व्यय की मद्दों में, कर वसूल करने के खर्च में आयात-निर्यात-कर, आय-कर, अफीम और नमक, आदि विभागों के खर्च के अतिरिक्त अफीम और नमक तैयार करने का खर्च भी सम्मिलित है।

(३) हिसाब में विशुद्ध व्यय ही दिखाया गया है। रेल, डाक, नहर आदि व्यवसायिक कार्यों के व्यय में इनके विविध कर्मचारियों के वेतन आदि का खर्च न दिखा कर, केवल इन कार्यों में लगी हुई पूँजी का सूद ही दिखाया गया है।

केन्द्रीय सरकार का अनुमानित व्यय

सन् १९३८-३९ ई०

मद्	लाख रुपये
१—कर प्राप्ति का व्यय:—	४,३४
२—रेल (सूद आदि)	३०,०२
३—आबपाशी	११
४—डाक, तार	८०
५—सूद	१४,६२
६—सिविल शासन:—	११,३१
७—मुद्रा, टकसाल	३७
८—सिविल निर्माण-कार्य	३,१२
९—सैनिक व्यय	५०,७८
१०—विविध:—	
स्टेशनरी, प्रिंटिंग, पेन्शनादि	३,६३
योग	११९,१०

अब मुख्य मुख्य मद्दों का कुछ परिचय दिया जाता है।

कर-प्राप्ति का व्यय—इस व्यय में आयात-निर्यात-कर, उत्पादन-कर (चीनी आदि का), आय-कर, अफीम और नमक आदि विभागों के कर्मचारियों के वेतनादि के अतिरिक्त, अफीम और नमक तैयार करने का खर्च भी सम्मिलित है। यह खर्च यहाँ अन्य देशों की अपेक्षा

अधिक होने का एक कारण यह है कि भारतवर्ष में विशेषतया भारत-सरकार के अधीन काम करनेवाले अधिकतर अंगरेज हैं, और उन्हें वेतन बहुत अधिक दिया जाता है।

रेल, आबपाशी, डाक और तार—इस व्यय में इन मद्दों में लगायी हुई पूंजी का सूद सम्मिलित है। ये कार्य मुख्यतया आय के लिए किये जाते हैं। आबपाशी का पूरा व्यय प्रांतीय बजट में देखिये।

सूद—पहले कहा जा चुका है कि भारतवर्ष की केन्द्रीय सरकार तथा सब प्रान्तों की सरकारें लगभग दो सौ करोड़ रुपया वार्षिक खर्च करती हैं। खर्च की अन्य मद्दें तो ऐसी हैं, जिनके बदले में हमें कुछ काम या कोई वस्तु मिलती है, परन्तु एक मद्द ऐसी भी है जिसके बदले में हमें न तो इस समय ही कुछ मिलता है, और न भविष्य में ही कुछ मिलेगा। वह मद्द है, लगभग १४ करोड़ रुपये वार्षिक सूद की। यह सूद उस रकम (पूंजी) पर दिया जाता है, जो भारत-सरकार ने ऋण लेकर भूतकाल में युद्ध इत्यादि खर्च की है। [उत्पादक कार्यों के ऋण का सूद इस मद्द से अलग उन कार्यों के हिसाब में दिखाया जाता है।]

सिविल शासन—इस मद्द में निम्नलिखित व्यय सम्मिलित होता है :—गवर्नर-जनरल तथा भारत-सरकार के सदस्यों, भारतीय व्यवस्थापक-सभा और राज्य-परिषद्-सम्बन्धी खर्च, केन्द्रीय सेक्रेटेरियट और हेड-क्वार्टरों के आफिस का खर्च, बंदरगाहों, हवाई जहाजों, स्वगृह (होम) विभाग, राजनैतिक विभाग, तथा हिसाब की जाँच सम्बन्धी

खर्च, चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों* में होने वाला (चीफ कमिश्नरों, जिलाधीशों, और उनके अधीन कर्मचारियों, पुलिस, न्याय, और जेल, विज्ञान, शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, कृषि और उद्योग-धंधे सम्बन्धी) खर्च। भारतवर्ष में उच्च अधिकारियों को इतना वेतन मिलता है जितना संसार के अनेक धनी देशों में भी नहीं मिलता। भारतवर्ष के गवर्नर-जनरल का वार्षिक वेतन २,५०,८००) रु० है, जब कि ब्रिटिश साम्राज्य के प्रधान मंत्री का वेतन केवल ५००० पौंड अर्थात् ७५,०००) रु० है।* फिर, कहाँ इङ्गलैण्ड की समृद्धि और कहाँ भारतवर्ष की दरिद्रता !

गवर्नर-जनरल से नीचे उतर कर भिन्न-भिन्न पद वालों को वार्षिक वेतन क्रमशः कम मिलता है। कुछ उदाहरण लीजिए—

गवर्नर-जनरल की प्रबन्धकारिणी कौंसिल के मेम्बर, प्रत्येक	८०,०००)
कमांडर इन चीफ (जंगी लाट)	१,००,०००)

निम्न श्रेणी के अनेक सरकारी नौकर तो प्रति वर्ष केवल डेढ़ सौ रुपये पाते हैं। इस प्रकार गवर्नर-जनरल का वेतन इन कर्मचारियों की अपेक्षा सोलह सौ गुने से अधिक है। ऐसी ही बात, कुछ

* गवर्नर-जनरल के व्यय, प्रबन्ध-सम्बन्धी भत्ता, कन्ट्रैक्ट अलाउंस, स्टाफ और खानदान का भत्ता, दौरे का भत्ता, बैंड, शरीर-रक्षक, और व्यक्तिगत स्टाफ आदि का खर्च मिलाकर उसका वेतन १७,१८,६००) रु० प्रति वर्ष हो जाता है।

कम परिमाण में, अन्य उच्च पदाधिकारियों के विषय में कही जा सकती है, जिनकी नियुक्ति, वेतन-निर्धारण, और नियत्रण भारतमंत्री या सम्राट द्वारा होता है। इनका वेतन कानून से निर्धारित है, उसमें केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल कुछ कमी नहीं कर सकता। अतः इस मद्द में कुछ वास्तविक कमी तभी हो सकती है, जब विधान में यथेष्ट परिवर्तन हो।

मुद्रा, टकसाल और विनिमय—यह मद्द केन्द्रीय भी है, और प्रान्तीय भी है। इस मद्द के केन्द्रीय हिसाब में, इन विषयों के कार्यालयों तथा टकसालो को चलाने का खर्च शामिल है। विनिमय की कानूनी दर एक शिलिंग छः पेंस फी रुपया है। इस प्रकार इङ्गलैंड मे भारतवर्ष-सम्बन्धी जो खर्च होता है, उसे चुकाने के लिए एक पौंड पीछे, तेरह रुपए पांच आने चार पाई दिया जाता है। जब कभी यह दर गिर जाती है, उदाहरण के लिए फी रुपया एक शिलिग चार पेंस हो जाती है, और प्रति पौंड १५ रु० देने पड़ते हैं, तो इससे जो क्षति होती है, वह विनिमय की मद्द के खर्च में डाल दी जाती है। (यदि विनिमय की दर बढ़ जाय तो उससे होनेवाला लाभ, विनिमय की आय में शामिल किया जाता है)

सिविल निर्माण-कार्य—इस मद्द में भारत सरकार से सम्बन्ध रखने वाली इमारतें तथा दफ्तर, एवं समुद्रों में रोशनीघर आदि बनाने तथा उनकी मरम्मत करने का व्यय सम्मिलित है।

सैनिक व्यय—भारतवर्ष में कुल स्थायी (रेग्युलर) सेना में लगभग ढाई लाख सैनिक या अफसर हैं। सन् १८५७ ई० से पूर्व

योरोपियन सैनिकों की संख्या प्रायः पांचवां हिस्सा होती थी; अब वे एक तिहाई रहते हैं। ऊँचे पद वाले अफसर अधिकतर अङ्गरेज होते हैं। उपर्युक्त स्थायी सेना के अतिरिक्त और भी सेना है जो सहायक या 'आग्ज़िलियरी' कहलाती है, इसमें भारतीय तथा योरोपियन होते हैं जो सैनिक शिक्षा पाये हुए, अथवा कुछ समय नौकरी किये हुए होते हैं। ये अपना निजी कार्य करते हैं और आवश्यकता होने पर लड़ने के लिए बुला लिये जाते है। भारत-सरकार की सहायता के लिए देशी राज्य भी कुछ सेना अपने खर्च से रखते हैं, इसकी शिक्षा आदि ब्रिटिश अफसरों की देख-रेख में होती है। यह तो स्थल-सेना की बात हुई। अब जल-सेना की बात लीजिए। अब से कुछ समय पहले तक भारत-वर्ष ब्रिटिश सरकार को प्रति वर्ष प्रायः दस लाख रुपये देता था, और ब्रिटिश सरकार भारतवर्ष के सामुद्रिक संरक्षण के लिए जिम्मेदार थी। पर अब भारतीय नौ-सेना बनाने की योजना की गयी है। छः जहाजों का जंगी बेड़ा कायम किया गया है, इसका नाम है 'रायल इण्डियन नेवी' अर्थात् भारत की शाही जलसेना।

वायुसेना 'रायल एयर फोर्स' कहलाती है। इसका उपयोग अधिकतर पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त में होता है। हवाई जहाजों में बैठ कर उड़ने की शिक्षा देने के लिये कुछ स्थानों में 'मिलिटरी फ्लाइङ्ग स्कूल' खोले गये हैं।

भारतवर्ष के सैनिक व्यय में (क) काम करने वाली (इफ़ेक्टिव), और काम न करने वाली सेना, (ख) समुद्री बेड़ा और (ग) सैनिक मकान आदि का व्यय सम्मिलित है। इनमें (क) सम्बन्धी कुछ

व्यय भारतवर्ष के अतिरिक्त इङ्गलैंड में भी होता है। भारतवर्ष में व्यय विशेषतया निम्नलिखित विषयों में होता है:—स्थायी सेना, शिक्षा, सैनिक अस्पताल, डिपो, सेना का सदर मुकाम (हेड क्वार्टर), जल-सेना, हवाई फौज, वायुयान आदि, सहायक और टेरीटोरियल विशेष कार्य-कर्त्ता, स्टाक-हिसाब। सेना-सम्बन्धी जो व्यय इङ्गलैण्ड में होता है, वह मुख्यतया इन विषयों में होता है:—भारतवर्ष की ब्रिटिश सेना के कार्य के बदले 'वार आफिस' (युद्ध-विभाग) को देने के वास्ते, भारतवर्ष में काम करने वाली ब्रिटिश सेनाओं की यात्रा के समय का वेतन और भत्ता, अफसरों की फर्लो (अवकाश) का भत्ता, अफसरों के परिवार, विवाह आदि का भत्ता, ब्रिटिश सेना से लिये हुए स्टोर के बदले युद्ध-विभाग को देने के वास्ते, ब्रिटिश सेना को कपड़ों का एलाउंस और बेकारी का बीमा, विनिमय-सम्बन्धी, स्टोर खरीदने के लिए, हवाई फौज, स्टाक-हिसाब आदि।

सन् १८५६ ई० में भारतवर्ष का सैनिक-व्यय साढ़े बारह करोड़ रुपये था। अगले वर्ष यहाँ राज्यक्रान्ति हुई, उसके बाद यह व्यय साढ़े चौदह करोड़ रुपये हुआ। सन् १८८५ ई० में यह सत्रह करोड़ हो गया। योरोपीय महायुद्ध से पूर्व सन् १६१३-१४ ई० में यह लगभग ३० करोड़ था। यहाँ तक भी गनीमत थी; महायुद्ध में यह और बढ़ा। सन् १६२१-२२ ई० में यह ७८ करोड़ पर जा पहुँचा। इस वर्ष किफायत कमेटी नियत हुई। पश्चात् व्यय कुछ घटा। अब यह लगभग पचास करोड़ रुपये वार्षिक है।

भारतवासियों की आर्थिक स्थिति को देखते हुए यह व्यय अत्यन्त

अधिक है। भारतीय नेताओं, राजनीतिज्ञों तथा व्यवस्थापक सभाओं ने इसका घोर विरोध किया है। इस व्यय के बहुत अधिक होने के कारण यहाँ अन्य लोकोपयोगी कार्यों के लिए धन की चिन्तनीय कमी होती है। अतः यह आवश्यक है कि इसे शीघ्र काफी घटाया जाय; यदि अधिक नहीं तो इसमें इतनी कमी तो की ही जाय कि यह आधा रह जाय।

अभ्यास के प्रश्न

(१) भारत की केन्द्रीय सरकार के व्यय की मुख्य मद कौन कौन सी हैं? उन्हें उनके महत्व के लिहाज से लिखकर प्रत्येक की आलोचना कीजिए।

(२) गवर्मेन्ट आफ इंडिया के आय-व्यय की मदों का पर्चा बनाइए और अन्दाज से हरेक मद की रकम भरिए।

(३) भारत की केंद्रीय सरकार के आय बढ़ाने के साधन लिखिये।

(४) भारत की वर्तमान केंद्रीय सरकार के व्यय कम करने के तरीके समझाइये।

(५) भारत का सैनिक खर्च किस प्रकार घटाया जा सकता है?

(६) भारत में रेलों से क्या हानि लाभ हुए हैं?

(७) नमक कर के पक्ष और विपक्ष की दलीलें लिखिये।

(८) भारतीय आय-कर के दरों की आलोचना कीजिये।

(९) भारत में वर्तमान आयात निर्यात दरों से उद्योग धंधों को कहाँ तक लाभ पहुँचा है?

(१०) भारत में सिविल शासन का खर्च किस प्रकार कम किया जा सकता है?

सैंतीसवाँ अध्याय

—:o:—

प्रान्तीय आय-व्यय

पिछले अध्याय में केन्द्रीय सरकार के आय-व्यय के विषय में विचार कर चुकने पर अब प्रान्तीय सरकारों के आय व्यय के सम्बन्ध में लिखा जाता है। प्रान्तीय सरकारों से आशय यहां गवर्नरों वाले प्रान्तों की सरकारों से ही है; (चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों का आयव्यय केन्द्रीय हिसाब में सम्मिलित होता है)।

संयुक्त प्रान्त की आय—पहले प्रान्तीय आय के विषय को लीजिए। उदाहरण स्वरूप नीचे संयुक्त प्रान्त की सरकार की आय के अंक दिये जाते हैं:—

संयुक्त प्रान्त की अनुमानित आय

(सन् १९३८-३९ ई०)

आय की मदें	लाख रुपये
१—मालगुजारी	६२२
२—आबकारी	१२६
३—स्टाम्प	१४६

आय की मदें	लाख रुपये
४—जंगल	४८
५—रजिस्टरी	११
६—मोटर आदि कर	१०
७—अन्य कर*	५
८—आबपाशी	१६४
९—सूद	११
१०—सिविल निर्माण-कार्य	१५
११—न्याय	११
१२—जेल	६
१३—पुलिस	६
१४—शिक्षा	१४
१५—स्वास्थ्य-चिकित्सा	६
१६—कृषि और सहकारिता	२६
१७—उद्योग-धन्धे	६
१८—शासन-सम्बन्धी अन्य आय†	३
१९—विविध‡	२१
योग	१२,५७

*इसमें मनोरंजन-कर तथा अन्य छोटे-छोटे कर सम्मिलित हैं।

†इसमें वैज्ञानिक विभाग की तथा शासन सम्बन्धी ऐसे विभागों की आय सम्मिलित है; जिनका नक्शे में उल्लेख नहीं है।

‡स्टेशनरी, प्रिंटिंग सम्बन्धी आय, तथा पेन्शन के लिए दिया हुआ चन्दा आदि।

मालगुजारी—इस मद्द में साधारण मालगुजारी, सरकारी इस्टेट की बिक्री, जमीन का महसूल तथा अब्वाब के अतिरिक्त निम्नलिखित आय भी सम्मिलित होती है:—मालगुजारी, खास अदालतों से किया हुआ जुर्माना, कुछ जगहों में खास पटवारी रखने के उपलक्ष्य में होनेवाली आमदनी, खेतों की हद ठीक करने के लिए अमीनों की फीस, उन जंगलों या जमीनों से होनेवाली खनिज पदार्थों की आय, जो जंगल-विभाग के प्रबन्ध में न हों।

प्रान्तीय सरकार की आमदनी का प्रमुख साधन मालगुजारी ही है। इसकी (एवं लगान की) अधिकता के कारण अधिकांश कृषकों की, जो भारतीय जनता का बृहदंश हैं, इस समय बुरी दशा है। उन्हें मालगुजारी अपनी मजदूरी में से देनी पड़ती है, इसलिए उनको कई महीनों तक अध-भूखे रहना पड़ता है।

अस्तु, किसानों और छोटे जमीदारों के उद्धार के लिए यह आवश्यक है कि उनकी जमीन उनकी ही मौरूसी जायदाद समझी जाय, और उनसे मिलने वाली सरकारी मालगुजारी में काफी कमी हो। हर्ष की बात है कि अब प्रान्तीय सरकारें इस ओर ध्यान दे रही हैं। संयुक्त-प्रान्त की सरकार ने कुछ नियमों के साथ लगान और मालगुजारी में ३३ प्रतिशत कमी करने का विचार किया है।

आबकारी-कर—मादक पदार्थों पर लगाया जाने वाला कर आबकारी-कर कहलाता है। यह कर प्रान्तीय है और भांग, चरस, शराब, अफीम आदि मादक पदार्थों पर लगाया जाता है। यहां मादक पदार्थों को बनाने या तैयार करने का सरकार को प्रायः एकाधिकार

है। इनकी बिक्री से जो आय होती है, उसमें से उत्पादन व्यय निकलने पर जो शेष रहे, वह सरकारी मुनाफा है, और आय में सम्मिलित होता है। इस मद्द का ब्यौरा यह है—लाइसैंस, डिस्टलरी (शराब की भट्टी) की फीस, शराब और अन्य मादक पदार्थों की बिक्री पर महसूल, आबकारी विभाग का अफीम की बिक्री से लाभ, मादक पदार्थों के सेवन सम्बन्धी जुर्माना, आदि।

विगत वर्षों में इस मद्द की आय में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही थी, प्रान्तीय सरकारों ने अपनी आय घटने की आशंका के कारण, मादक पदार्थों के प्रचार को रोकने का विशेष प्रयत्न नहीं किया। परन्तु अब सन् १९३७ ई० में प्रान्तीय सरकारों, और उनमें से भी विशेषतया कांग्रेसी सरकारों ने मादक वस्तुनिषेध के सम्बन्ध में अपनी स्पष्ट नीति घोषित कर दी और अन्यान्य प्रान्तों के समान संयुक्त प्रान्त के कुछ-कुछ जिलों में मद्य-पान-निषेध का प्रयोग उत्साह-पूर्वक किया जा रहा है।

स्टाम्प—यह दो प्रकार का होता है, अदालती और गैरअदालती। अदालती स्टाम्प की आय में कोर्ट फीस या अदालतों में पेश होने वाले मुकद्दमों के कागजों और दरख्वास्तों पर लगाये जानेवाले टिकटों की आदमनी शामिल है। गैर-अदालती स्टाम्प में व्यापार और उद्योग-सम्बन्धी कागजों (हुंडी, पुर्जे, चेक, रुपयों की रसीद आदि) पर लगने वाले टिकटों की आमदनी गिनी जाती है।

अदालती स्टाम्प प्रत्यक्ष रूप से न्याय पर कर है। गैर-अदालती स्टाम्प भी, परोक्ष रूप में, न्याय-कर ही है। रुपया लेने की रसीद पर

या हुंडी आदि पर स्टाम्प इसीलिए तो लगाया जाता है कि पीछे आवश्यकता होने पर न्याय के लिए प्रमाण रहे।

जंगल—इस मद्द में निम्नलिखित आय होती है:—लकड़ी या अन्य पैदावार (बांस, घास, ईंधन, कोयला, राल आदि) जो सरकार ले, लकड़ी या अन्य पैदावार जो जनता के आदमी लें, जंगल का लावारसी और जब्त किया हुआ माल, विदेशी लकड़ी या अन्य जंगल की पैदावार पर महसूल, इस विभाग सम्बन्धी जुर्माना, जब्ती आदि।

रजिस्टरी—इस मद्द की आय निम्न विषयों में होती है:—दस्तावेजो की रजिस्टरी कराने की फीस, रजिस्टरी की हुई दस्तावेजों की नकल की फीस या जुर्माने आदि। कागजों की रजिस्टरी होने से लोगों को बेईमानी करने का अवसर कम होता है।

आबपाशी—इस मद्द की आय, कुल आय में से संचालन-व्यय निकाल कर दिखायी जाती है। कुल आय में कुछ आय तो प्रत्यक्ष होती है, और कुछ वह होती है जो आबपाशी के कारण मालगुजारी के बढ़ने से होती है। भारतवर्ष में नहरों और बड़े तालाबों का कार्य बहुत बढ़ने की आवश्यकता है। कार्य बढ़ने के साथ आय का बढ़ना अनुचित नहीं, परन्तु इसकी व्यवस्था इस प्रकार होनी चाहिए कि जनता की सुविधा का सम्यक् ध्यान रखा जाय, और दर नियमित रहे।

सूद—सूद की प्रान्तीय आय जिला और अन्य 'लोकल फंड' कमेटियों, म्युनिसिपैलिटियों, जिला-बोर्डों, जमींदारों, किसानों तथा सहकारी समितियों आदि को दिये हुए ऋण के सूद से होती है।

न्याय—इस विषय में निम्न प्रकार की आय होती है, अनाधिकृत माल की बिक्री, कोर्ट-फीस जिसमें दीवानी अदालत के अमीन और कुड़क-अमीन आदि की फीस शामिल है, हाईकोर्ट या उसके अधीन दीवानी अदालतों की फीस, मजिस्ट्रेटों का किया हुआ जुर्माना, और जब्ती आदि; वकालत की परीक्षा-फीस, अन्य फीस और जुर्माने आदि।

सरकारी हिसाब में प्रायः न्याय की आय, खर्च की अपेक्षा बहुत कम दिखायी जाती है। वास्तव में यह बहुत अधिक होती है। सरकारी हिसाब में कम दिखाने का कारण यह है कि स्टाम्प की बहुत सी आमदनी, जो कि पृथक दिखायी जाती है, वास्तव में न्याय-सम्बन्धी ही होती है, इसके विषय में पहले कहा जा चुका है।

पुलिस—इस मद्द में निम्नलिखित विषयों की आय होती है—सार्वजनिक विभागों या प्राइवेट संस्थाओं आदि को दी गयी पुलिस सम्बन्धी आय, हथियार रखने के कानून से आय, मोटर आदि की रजिस्टरी कराने आदि की फीस, जुर्माने और जप्ती।

शिक्षा—इस मद्द में निम्नलिखित आय का समावेश होता है:—सरकारी आर्ट तथा औद्योगिक कालिजों की फीस; माध्यमिक तथा प्रारम्भिक स्कूलों की फीस, सुधारक स्कूलों के कारखानों की आय। (५) जनरल सहायता, या दान। (६) विविध; परीक्षा-फीस, सिविल एंजिनियरिंग कालेज, किताबों और अन्य सामान की बिक्री, प्रान्तीय परीक्षाओं की फीस आदि।

सर्व साधारणोपयोगी शिक्षा जितनी सुलभ और सस्ती हो, उतना ही अच्छा है। प्रारम्भिक शिक्षा तो निश्शुल्क (एवं अनिवार्य) ही होनी

चाहिए। भारतवर्ष में अभी बहुत थोड़े स्थानों में ऐसा है। अब शिक्षा-प्रचार का यथा-सम्भव प्रयत्न हो रहा है।

स्वास्थ्य और चिकित्सा—इस मद्द की आय निम्न विषयों से होती है—(अ) स्वास्थ्य—दवाइयो और टीका लगाने की चीजों की बिक्री, और सहायता। (आ) चिकित्सा—मेडिकल स्कूलों और कालिजों की फीस; अस्पतालों की आय; पागलखानों की आय, जिसमें ऐसे पागलों को रखने से होनेवाली आय भी सम्मिलित है, जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी हो; म्युनिसिपैलिटियो और छावनियों की सहायता, रसायनिक विश्लेषण की फीस, आदि।

अन्य आय—'विविध' मद्द में सरकारी गजट, रिपोर्टों, पुस्तकों आदि की बिक्री तथा प्रेस की छपाई आदि से होने वाली आय सम्मिलित है।

प्रान्तों को पुराने स्टोर और सामान की, तथा जमीन और मकान ('नजूल') की बिक्री से, सरकारी लेखा-परीक्षक आदि की फीस से और जमीन और मकानों के किराये आदि से भी आ जाती है।

जेलों की आय का भी यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। यह आय विशेषतया उस सामान की बिक्री से होती है, जो जेलों के कारखानों में कैदियों द्वारा तैयार कराया जाता है।

प्रान्तीय सरकारों की आय बढ़ने की आवश्यकता—प्रान्तीय सरकारों की आय बहुत परिमित है। पुनः वे एक ओर तो लगान कम करने और शराब बन्द करने के कार्यक्रम से अपनी आय घटा रही हैं, दूसरी ओर शिक्षाप्रचार, स्वास्थ्यरक्षा, ग्रामसुधार आदि

अनेक जन-हितकारी कार्यों के लिए चिन्तित हैं। अतः उनकी आय बढ़ने की अत्यन्त आवश्यकता है।

कृषि-आय-कर—प्रान्तोय सरकारों की आय-वृद्धि का एक उपाय यह है कि कृषि से होने वाली आय पर भी कर लगे। भारतवर्ष में अनेक जमींदार, ताल्लुकेदार और नवाबों आदि को कृषि से काफी आय है, और उनको प्रायः कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता। इससे उनका जीवन बहुधा आनन्दोपभोग में ही बीतता है। उन्हें कर से मुक्त रखने से सरकार बहुत-सी आय से वंचित रहती है; उन पर कर लगाया जाना उचित ही है।

कुछ आदमी कृषि-आय-कर को गैर-कानूनी बताते हैं। पर स्मरण रहे कि सन् १६२४ ई० की कर-जांच-समिति ने अपनी एक सिफारिश यह भी की थी कि खेती की आमदनी पर भी आय-कर उसी दर से लगाना आवश्यक है, जिस दर से, वह अन्य आय पर लगता है। पुनः सन् १६३५ ई० के विधान में प्रान्तीय सरकारों को कृषि-आय-कर प्राप्त करने का अधिकार दिया गया; यदि यह कर गैर-कानूनी होता, तो विधान में ऐसी व्यवस्था न की जाती। इस प्रकार इस कर को गैर-कानूनी कहने में कुछ सार नहीं है। बिहार में, जहां कि जमींदारों की संख्या और प्रभाव पर्याप्त है, कांग्रेसी मन्त्री-मंडल ने कृषि-आय-कर लगा दिया है।

वेतन-कर—संयुक्त प्रान्त की सरकार ने इस वर्ष बजट में २५००) रु० से अधिक वार्षिक वेतन पाने वाले सरकारी तथा गैर-सरकारी कर्मचारियों पर वेतन-कर लगाने का आयोजन किया है। प्रधान मंत्री

ने बजट पेश करते समय यह स्पष्ट कर दिया कि इस कर से होने वाली आय का अधिकांश भाग छोटे कर्मचारियों का वेतन बढ़ाने में व्यय किया जायगा। भारतवर्ष में वेतनों में कितनी असमानता है, यह सर्वविदित है, अनेक आदमी केवल ८), १०) रु० मासिक पाते है तो कुछ व्यक्ति बीस इक्कीस हजार रुपये मासिक तक भी पाने वाले हैं। यदि उच्च कर्मचारियों के वेतन की दर में कमी कर के उस बचत का उपयोग निम्न कर्मचारियों का वेतन बढ़ाने में किया जाय तो जनता की आर्थिक स्थिति कितनी सुधर जाय। परन्तु प्रान्तों में स्वराज्य की स्थापना मानी जाने पर भी शासन-विधान की बलिहारी है कि यहां प्रधान मंत्रियों को उच्च कर्मचारियों के वेतन में कमी करने का अधिकार नहीं है। अतएव सरकार इस अभाव की यत्किंचित पूर्ति यह कर लगा कर कर रही है। यह कर सर्वथा वैधानिक, कानूनी और आर्थिक दृष्टि से तो जायज है। नैतिक दृष्टि से तो इसे प्रत्येक विचारशील व्यक्ति की सहानुभूति और समर्थन प्राप्त होना चाहिए।

पेट्रोल पर कर—मध्यप्रान्त की सरकार ने पेट्रोल पर कर लगाने का विचार किया तो भारत-सरकार ने इसका वैधानिक आधार पर विरोध किया। उसका मत था कि शासन-विधान के अनुसार किसी प्रान्तीय सरकार को ऐसा कर लगाने का अधिकार नहीं है। अन्ततः यह विषय संघ-न्यायालय में उपस्थित किया गया। उसने अपना निर्णय मध्य प्रान्त की सरकार के पक्ष में दिया। अब प्रान्तीय सरकारों को इस कर के द्वारा अपनी आयवृद्धि करने का अधिकार है और कई सरकारें इसका उपयोग कर रही हैं।

वस्तुओं की बिक्री पर कर—मदरास में प्रान्तीय सरकार ने अपनी आय बढ़ाने के लिए वस्तुओं की बिक्री पर कर लगाया है। यह कर दुकानदारों से उनकी बिक्री की कुल रकम पर, बहुत अल्प परिमाण में लिया जाता है। संयुक्त प्रान्त की सरकार भी इस कर को प्रचलित करने का विचार कर सकती है।

जायदाद और पूंजी पर कर—जायदाद और पूंजी पर कर लगाने का भी कुछ लोगों का विचार हो रहा है। स्थिर सम्पत्ति के मूल्य का ठीक अनुमान करना कठिन होता है। इसलिए भूमि और मकान के अतिरिक्त यह कर मृत्यु-कर या विरासत-कर के स्वरूप में ही लगाया जाता है। जब किसी आदमी की जायदाद उसके मरने पर उसके उत्तराधिकारी को मिलती है और उस पर कर लगाया जाता है, तो उसको मृत्यु-कर ('डेथ ड्यूटी') या विरासत कर ('सक्सेशन ड्यूटी') कहते हैं। यह प्रायः बहुत हल्के और क्रमशः वर्द्धमान रखे जाते हैं। यह उन आदमियों पर पड़ते हैं, जो उस जायदाद के उत्पादक नहीं हैं जिस पर कर लगाये जाते हैं, इसलिए यह उन्हें बहुत अखरते नहीं।

संयुक्त प्रान्त का व्यय—प्रान्तीय सरकारें किस किस मद्द में खर्च करती हैं, इसका कुछ अनुमान अगले पृष्ठ पर दिये हुए संयुक्त प्रान्त के सरकारी खर्च के नक्शे से हो जायगा।

संयुक्त प्रान्त का अनुमानिक व्यय

(सन् १९३८–३९ ई०)

व्यय की मद्दें	लाख रुपये
कर प्राप्ति का व्यय	१,५६
आबपाशी	१,१५
सूद	६०
शासन	१,४५
न्याय	७१
जेल	३१
पुलिस	१,६७
शिक्षा	२,११
स्वास्थ्य-चिकित्सा	६०
कृषि	७६
सहकारिता	६
उद्योग धन्धे	२१
अन्य शासनव्यय	१
सिविल निर्माणकार्य	६४
अकाल-निवारण	१
पेन्शन	१०४
स्टेश्नरी प्रिंटिंग	१५
विविध	१०
योग	१३,१७

अब व्यय की मुख्य मुख्य मद्दों पर क्रमशः विचार करते हैं:—

कर-प्राप्ति का व्यय—इसमें मालगुजारी, आबकारी, स्टाम्प, जंगल, रजिस्टरी आदि के कर वसूल करनेवाले कर्मचारियों का वेतन आदि सम्मिलित है।

आबपाशी—यह मुख्यतया आय की मद्द है, इसके सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। भारतवर्ष में जहाँ रेलों में अपार द्रव्य खर्च किया गया है, इस मद्द में अपेक्षाकृत बहुत कम, और विशेषतया इसी शताब्दी में खर्च किया गया है।

शासन—इस मद्द में निम्नलिखित व्यय सम्मिलित हैं—गवर्नरों और उनके मंत्रियों का वेतन और दौरे का खर्च, प्रान्तीय व्यवस्थापक मंडलों सम्बन्धी खर्च, प्रान्तीय सेक्रेटेरियट, रेवन्यू बोर्ड, कमिश्नरों, कलेक्टरों और उनके सहायकों तथा तहसीलदारो और उनके अधीन कर्मचारियों का वेतन और आफिस खर्च, हिसाब की जांच सम्बन्धी खर्च।

केन्द्रीय शासन के व्यय के सम्बन्ध में पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है। उसकी ही तरह प्रान्तीय शासन भी कुछ अंशों में बहुत मँहगा है। सन् १६३५ ई० के शासन-विधान से प्रान्तों में उत्तरदायी शासन स्थापित हो गया है, तथा प्रान्तों की सरकारों को अनेक जन-हितकारी कार्यों के लिए रुपये की बहुत आवश्यकता है। अतः प्रान्तीय नौकरियां प्रान्तीय सरकारों के अधीन होनी चाहिए तथा उनका वेतन भी प्रान्तीय परिस्थिति के अनुसार निर्धारित होना चाहिए। ऐसा

होने से कार्य अच्छा होने के अतिरिक्त रुपये की बचत भी कुछ हो सकती है।

यहां यह उल्लेख करना आवश्यक है कि कांग्रेस ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया है कि यहां साधारणतया किसी नौकर का अधिक-से-अधिक मासिक वेतन ५००) रु० हो। आरम्भ में बहुत-से आदमियों ने इसका उपहास तथा आलोचना की। परन्तु समय आया, कांग्रेस ने अपनी बात को क्रियात्मक रूप देकर दिखा दिया। इस समय आठ प्रान्तो में कांग्रेसवादी सज्जन मंत्री-पदों पर नियुक्त हैं, और केवल पांच-पांच सौ रुपये मासिक ले रहे हैं। इनकी योग्यता किसी भी सिविल पदाधिकारी से कम नहीं है। इन्होंने इतने वेतन पर काम करके प्रमाणित कर दिया है कि कांग्रेस का प्रस्ताव उत्तरदायित्वयुक्त एवं व्यावहारिक है। कहना नहीं होगा कि यह प्रस्ताव भारतवासियो की वर्तमान परिस्थिति के सर्वथा अनुरूप है, और जिन व्यक्तियों को किसी कारण अधिक वेतन मिल रहा है, उन्हें स्वेच्छापूर्वक अपनी अधिक आय का परित्याग करना चाहिए। यथेष्ट कानून बना कर इस मद में बचत की जानी चाहिए।

न्याय—इस मद में निम्नलिखित व्यय सम्मिलित है:—हाईकोर्ट, ऐडवोकेट-जनरल, जुडीशियल कमिश्नर, दीवानी और सेशन कोर्ट, जिला और सेशन जज, सबार्डिनेट जज, मुन्सिफ, और अदालत खफीफा आदि का खर्च।

हाईकोर्ट के जजों के वेतन और भत्ते आदि को छोड़ कर, न्यायसम्बन्धी खर्च प्रान्तीय सरकारों के अधीन हैं, और वे, विशेषतया कांग्रेस सरकारें, इसमें यथा-सम्भव मितव्ययिता कर रही हैं। यद्यपि

आनरेरी (अवैतनिक) मजिस्ट्रेट पहले भी होते थे, परन्तु अनेक दशाओं में अधिकारियों के कृपा-पात्र होने के अतिरिक्त उनमें न्याय-कार्य सम्पादन करने की कुछ योग्यता न होती थी। अब संयुक्त प्रान्त आदि में जिन व्यक्तियों को इन पदों पर नियुक्त किया गया है, उनकी शिक्षा, योग्यता आदि का समुचित विचार रखा गया है। इस प्रकार इस विभाग का खर्च बढ़ाए बिना भी कार्य-क्षमता बढ़ाई जा रही है।

गांवों के छोटे-छोटे मामलों का फैसला करने आदि के लिए ग्राम-पंचायतों की भी अधिकाधिक स्थापना हो रही है, पंचों की नियुक्ति में उनकी इस कार्य सम्बन्धी योग्यता का लिहाज रखा जाता है। पंचायतों से विशेष लाभ यह है कि पंच स्थानीय व्यक्ति होने से मामले मुकद्दमे के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी रखते हैं, और इसलिए न्याय अच्छा कर सकते हैं। क्योंकि पंचायतों में वकील लोग पैरवी नहीं कर सकते, अतः इन के द्वारा मुकद्दमे का फैसला कराने में लोगों का खर्च भी कम होता है।

जेल-विभाग—इस मद्द में जेल-प्रबन्ध, तथा जेलों के सामान-सम्बन्धी खर्च सम्मिलित हैं। जेलों के प्रबन्ध-व्यय में इन्सपेक्टर-जनरल और उनके दफ़्तर आदि, सेन्ट्रल जेल, जिला जेल, हवालात, जेल सम्बन्धी पुलिस, जरायम पेशा जातियों के सुधारार्थ किया हुआ व्यय, और कैदियों के जेल से छूटने पर उन्हें निर्वाहार्थ दिया हुआ रुपया शामिल है। जेलों के खर्च में कैदियों के वास्ते लिया हुआ खाद्य-पदार्थ खरीदने में तथा जेल के कारखानों में काम करने वाले नौकर,

क्लर्क, आदि के वेतन में, तथा पत्र-व्यवहार आदि में होने वाला खर्च गिमा जाता है।

इस समय तक भारतवर्ष के जेलो मे नागरिकों का जीवन सुधरने के बजाय बिगड़ता ही रहा है। शासन-सूत्र ग्रहण करने पर कांग्रेस वालो ने जेल की प्रणाली में आमूल परिवर्तन करने का निश्चय किया है। है। कई सुधार कार्य मे परिणत हो गये हैं। आशा है, अब जेल केवल दंड भोगने की जगह न रह कर, जीवन को सुधारने, उसे नागरिकता की दृष्टि से अधिक उपयोगी बनानेवाली संस्था होगी।

पहले जेलो मे बहुत से आदमी केवल इसलिए कैद करके रखे जाते थे, कि वे तत्कालीन शासन-पद्धति को दूषित मानते तथा इसका विरोध करते थे। अब कांग्रेसी सरकारों के पदाधिकारी तक शासन-पद्धति की आलोचना करते हैं और दूसरों द्वारा की जानेवाली उचित, लोक-हितैषिता-मूलक आलोचना का स्वागत करते हैं। अतः कांग्रेसी प्रान्तो में राजनैतिक कैदियों को छोड़ दिया गया है। इसके फल-स्वरूप जेलो का यह खर्च कम हो रहा है।

पुलिस—इसमे निम्नलिखित व्यय सम्मिलित है :—(क) इन्स-पेक्टर-जनरल, डिप्टी इन्सपेक्टर-जनरल इत्यादि बड़े बड़े अफसरो का, तथा जिला-सुपरिन्टेन्डेन्ट, उनके अधीन कर्मचारी, और पुलिस के सिपाहियों आदि का वेतन, और आफिस-खर्च, (ख) खुफिया विभाग (सी० आई० डी०) का खर्च, (ग) गावो की पुलिस का खर्च, (घ) रेलवे पुलिस का खर्च।

गत वर्षों में प्रान्तीय सरकारों का और जनता का पारस्परिक सम्बन्ध सन्तोषप्रद नहीं था। अधिकतर पुलिसवाले अपने आपको जनता का सेवक न मान कर, लोगों पर अपना रोब गांठते थे। अब प्रान्तों में जनता की ही सरकार होने से उपर्युक्त स्थिति में बहुत परिवर्तन हो गया है। प्रान्तीय सरकारें इस बात की ओर भी ध्यान दे रही हैं कि पुलिस कर्मचारी संख्या में यथा-सम्भव कम हों, पर हों अधिक योग्य, शिक्षित और सभ्य। वे यह प्रयत्न कर रही हैं कि उच्च पदाधिकारियों का वेतन कुछ कम करके, भारतवासियों की अधिकाधिक नियुक्ति करें और इस प्रकार कुल मिला कर इस मद्द का खर्च घटावें।

गावों की पुलिस के खर्च के सम्बन्ध में खर्च बहुत अधिक घटने की सम्भावना नहीं है, उसका अधिकांश भाग चौकीदार का वेतन होता है, जो कम ही है।

स्वास्थ्य और चिकित्सा—इस मद्द में इन विषयों का खर्च सम्मिलित है :—

(अ) स्वास्थ्य—कार्यालय-व्यय, वेतन, भत्ता और सामान आदि, स्वास्थ्य के लिए जिला बोर्डों और अन्य संस्थाओं को, तथा यात्रा के स्थानों को सहायता; नगरों या देहातों में स्वास्थ्य की उन्नति; प्लेग, मलेरिया, और छूत की बीमारियों का निवारण।

(आ) चिकित्सा—कार्यालय-व्यय; सुपरिन्टेन्डेन्ट; जिला चिकित्सा-अफसर और अन्य कर्मचारी; अस्पताल और शफाखाने; सामान; मकान किराया; विविध कर्मचारियों का वेतन और भत्ता आदि; रोगियों के वस्त्र और भोजन; चिकित्सार्थ सहायता; दाइयां, सेवासमिति,

आयुर्वेदिक कालिज आदि; मेडिकल स्कूल और कालिज; पागलखाना; रासायनिक परीक्षक।

देश में मृत्युसंख्या बहुत बढ़ी हुई है, बुखार, चेचक, हैजा, आदि बीमारियों ने घर कर रखा है प्रति वर्ष लाखों आदमी इनके शिकार होते हैं। और पाश्चात्य देशों के अनुभव से यह कहा जा सकता है, कि यथेष्ट वैज्ञानिक उपायों का अवलम्बन करने से इनमें से अधिकांश के प्राण बचाये जा सकते हैं। अतः प्रत्येक प्रान्तीय सरकार का कर्तव्य है कि इस दिशा में आगे बढ़े। अन्यान्य कांग्रेसी सरकारों में संयुक्तप्रान्त की सरकार इस विषय में प्रयत्न कर रही है।

शिक्षा—इस मद्द में इन विषयों का खर्च होता है:—विश्वविद्यालय और कालेज, हाई और मिडल स्कूल, प्रारम्भिक शिक्षा, अन्य खास-खास पेशों आदि के स्कूल; डायरेक्टर, इन्स्पेक्टर और इनके सहायकों आदि का वेतन; आफिस खर्च; छात्रवृत्ति। शिक्षाकार्य में सब प्रान्तों में कुल मिला कर लगभग बीस करोड़ रुपये प्रतिवर्ष खर्च होता है; प्रायः बारह करोड़ रुपये प्रान्तीय सरकारों द्वारा, कुछ म्युनिसिपैलिटियों और जिला-बोर्डों द्वारा, तथा शेष प्राइवेट संस्थाओं द्वारा खर्च होता है।

विगत वर्षों में शिक्षा में बहुत ही कम व्यय हुआ है। और जो व्यय हुआ है, उसका भी राष्ट्रीय दृष्टि से जनता को यथेष्ट लाभ नहीं मिला है। उच्च शिक्षा पर अपेक्षाकृत अधिक व्यय होना, शिक्षा संस्थाओं की इमारतों आदि का बहुत ध्यान रखना, उच्च शिक्षा का माध्यम अँगरेजी करना, सर्वसाधारण की शिक्षा की अवहेलना विविध

पेशों की यथेष्ट शिक्षा की व्यवस्था न होना आदि बातें सर्वविदित हैं। इन दोषों का परिणाम यह है कि देश में निरक्षरता का भयंकर साम्राज्य है। केवल दस फ़ीसदी स्त्री-पुरुष कुछ पढ़ना लिखना जानते हैं। कालेजों से निकले हुए अधिकतर युवक नौकरी की तलाश में इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं। शिक्षितों की बेकारी बहुत बढ़ गयी है।

प्रान्तो में प्रजातन्त्रात्मक सरकारों की स्थापना हो जाने तथा शिक्षा के प्रान्तीय विषय होने से प्रान्तीय सरकारो, विशेषतया कांग्रेस-सरकारों ने उपर्युक्त बातो का विचार करके शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन करने का निश्चय किया है, जिससे उपर्युक्त दोषों का निवारण हो।

अन्यान्य प्रान्तो में, सयुक्त प्रान्त में, स्थान स्थान पर वाचनालय और पुस्तकालय स्थापित किये जा रहे हैं और प्रौढ-शिक्षा-प्रचार का भी आन्दोलन हो रहा है। जनता से निरक्षारता दूर करने का कार्य बहुत भारी है, तथापि भरसक प्रयत्न किया जा रहा है।

कृषि—इस मद्द का खर्च नीचे लिखे विषयो मे होता हैं—

(अ) निरीक्षण—अधीन कर्मचारी; पशुपालन; कृषि प्रयोग; कृषि-इजिनियरिंग; कृषि-कालिज और अन्वेषण-शाला; अन्य निरीक्षक कर्मचारी; कृषि-फार्म; नुमाइश और मेले; बनस्पतिशाला; जिलों के और अन्य बाग़; कृषि-स्कूल।

(आ) पशु-सम्बन्धी व्यय—निरीक्षण; नुमाइश या मेलों में इनाम; अस्पताल और शफाखाने; पशु-पालन-क्रिया; अधीन कर्मचारी।

(इ) सहकारी साख—रजिस्ट्रार; डिप्टी और सहायक रजिस्ट्रार; क्लर्क और नौकर; हिसाब की जाँज; सफर का भत्ता; आकस्मिक व्यय; छोटे नौकरों का वेतन; टाइप राइटर, किताब, कपड़े आदि।

प्रान्तीय सरकारों की आय का एक मुख्य साधन किसानों से प्राप्त मालगुजारी है। और, किसान ही देश के अन्नदाता हैं। उनकी भलाई के लिए जितना अधिक खर्च किया जा सके, अच्छा है। कृषि-विभाग के प्रयत्नों पर ही किसानों की, और इसलिए अधिकांश जनता की उन्नति निर्भर है। हर्ष का विषय है कि अन्यान्य प्रांतीय सरकारों में संयुक्त प्रांत की सरकार इस दिशा में विशेष प्रयत्नशील है।

उद्योग धन्धे—इस मद्द में खर्च इन विषयों में होता है—निरीक्षण, उद्योग धन्धों की सहायता, अन्वेषण-संस्थाएँ, उद्योग और शिल्प संस्थाएँ, औद्योगिक बोर्ड की इच्छा से किया जाने वाला खर्च।

इस विभाग में भी विगत वर्षों में बहुत कम व्यय हुआ है, स्वदेशी उद्योग धन्धों को बहुत कम प्रोत्साहन मिला है। अब प्रांतीय सरकारें इस ओर ध्यान दे रही हैं। उदाहरणार्थ संयुक्त-प्रांत में इस वर्ष (१६-३८) लगभग पचास प्रार्थियों को निम्नलिखित उद्योग सम्बन्धी तथा अन्य कार्य आरम्भ करने के लिए आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया गया—अलमारी बनाना और लकड़ी का अन्य कार्य, तेल पेरना, जूते बनाना, रँगाई और छपाई, रंगीन खड़िया और स्लेट की पेन्सिलें

बनाना, मिश्रित धातुओं का बनाना, मोजे, ताले और साबुन बनाना, कपड़े बुनना आदि। प्रांत के व्यवसाय तथा उद्योग धन्धों की उन्नति के लिए प्रांतीय सरकार कम सूद पर रुपया उधार देने को भी तैयार है। इस हेतु सरकार "संयुक्त-प्रांतीय इन्डस्ट्रियल फाइनैंसिंग कारपोरेशन लिमिटेड" नामक बैंक १५ लाख रुपये की पूंजी से खोल रही है। अखिल भारतवर्षीय चरखा संघ तथा ग्राम-उद्योग संघ को प्रांतीय सरकारों की सहानुभूति और सहयोग प्राप्त है। आशा है अब छोटे उद्योग धन्धों की क्रमशः उन्नति होगी। प्रांतीय सरकारें बड़े उद्योग धन्धों संबंधी विविध समस्याएँ सुलझाने और उनकी उन्नति में सहायक होने का भी विचार कर रही हैं। पिछले दिनो जहां-जहां पूंजीपतियों तथा मज़दूरों का संघर्ष अथवा हड़तालें हुईं, उस प्रांत की सरकार ने तत्परता-पूर्वक उसका अन्त कराने का प्रयत्न किया। यही नहीं, इस बात का सदैव ध्यान रखा गया कि श्रमजीवियों का भावी जीवन अधिक सुखमय तथा उन्नत हो, एवं पूंजीपति कुछ स्वार्थ-त्याग के भाव से काम लें।

पेशों सम्बन्धी शिक्षा का कार्य अग्रसर करने का भी प्रयत्न हो रहा है। कुछ व्यक्तियों को विशेष रूप से ऐसी शिक्षा दी जायगी कि वे अमली तरीके से गाँव वालों को शिक्षित बनावें। प्रान्तीय सरकारें कुछ छात्रवृत्तियाँ भी देती हैं, जिनकी सहायता से छात्र-वृत्ति पाने वाले व्यक्ति विदेशों में जाकर व्यापार या व्यवसाय सम्बन्धी औद्योगिक या शिल्प विषयों की शिक्षा प्राप्त कर सकें, या इस प्रकार के व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर सकें जिन से प्रान्त

के उद्योगों द्वारा तैयार की हुई वस्तुओं की बिक्री में ठोस सहायता मिले।।

उद्योग धन्धों की उन्नति के लिए एक अत्यन्त आवश्यक बात यह है कि तैयार पदार्थों की खपत हो। यह तय हुआ है कि कौन्सिल और असेम्बली के अध्यक्षों, मन्त्रियों तथा पार्लिमैंटरी सेक्रेटरियों के इस्तेमाल के लिए हाथ का बना कागज, और बाकी सरकारी कर्मचारियों को भारत में बना कागज दिया जायगा।

निर्माण-कार्य—इस मद्द में निम्नलिखित खर्च होता है:—नयी इमारतों का खर्च, नयी सड़कों का खर्च, सड़कों और इमारतों की दुरुस्ती का खर्च, अफसरों का वेतन और आफिस खर्च, औजार इत्यादि खरीदने का खर्च, म्युनिसिपैलिटी, जिला-बोर्ड और कस्बों की इमारतों के लिए दी जाने वाली रकम, स्वास्थ्य-रक्षा के लिए निर्माण-कार्य, इमारतें तथा पुल आदि।

अब तक इस मद्द सम्बन्धी खर्च में सर्वसाधारण की आवश्यकताओं का विचार बहुत कम किया गया। राजधानियों की सरकारी इमारतों तथा सड़कों आदि पर ही विशेष ध्यान दिया गया। जिलों में भी सदर-मुकाम और सब-डिविजन के केन्द्र में बीच की सड़कें तो कुछ अच्छी हालत में रखी गयीं, परन्तु अन्य रास्तों पर कृपा-दृष्टि नहीं की गयी। सड़कों का काम अब से कुछ समय पूर्व तक अधिकांश में जिला-बोर्डों तथा म्युनिसिपल बोर्डों के हाथ में रहा, जिनका ध्यान अपने ही इलाके भर में रहता है, और जिनके पास सदैव ही अपने कार्यों को

अच्छी तरह पूरा करने के लिए रुपये की कमी होती है। दफ़्तरों आदि की कुछ खास-खास इमारतें तथा इनी-गिनी सड़कें बनवा देने में इनके कर्तव्य की इति-श्री समझी जाती रही। अब कई सड़कें प्रान्तीय कर दी गयी हैं, और वैसे भी प्रान्तीय सरकारें इस कार्य की ओर अधिक ध्यान दे रही हैं। अतः सड़कों की दशा सुधर रही है। तथापि अभी बहुत काम करना शेष है।

अभ्यास के प्रश्न

(१) यू० पी० सरकार के प्रधान आय व्यय के मदों का वर्णन कीजिए। प्रजा की आर्थिक भलाई की उन्नति के लिए आपकी राय में यू० पी० सरकार व्यय की किन मदों में बचत कर सकती है तथा अन्य किन मदों से आय बढ़ा सकती है? कारण सहित उत्तर दीजिए।

(२) संयुक्त प्रांत की सरकार के कौन कौन से मुख्य मुख्य आय के साधन व व्यय के मद हैं? उन्हें महत्व के हिसाब से लिखिए और प्रत्येक की विवेचना कीजिए।

(३) युक्त प्रान्त में प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य कर देने में जो अधिक व्यय करना पड़ेगा वह किस प्रकार प्राप्त हो सकेगा?

(४) युक्त प्रांत की सरकार उद्योग धन्धों की उन्नति के लिये क्या कर रही है?

(५) प्रान्तीय ग्रामसुधार योजना की आलोचना कीजिये।

(६) युक्त प्रान्त की सरकार की आय बढ़ाने के मुख्य साधन क्या हैं ?

(७) मादक वस्तुओं का निषेध कहां तक व्यावहारिक है ? यदि आंदोलन सफल हुआ तो प्रांतीय सरकार और जनता को क्या हानिलाभ होंगे ?

(८) इस प्रान्त की मालगुजारी प्रथा के गुण दोष लिखिये ।

(९) इस प्रान्त की सरकार के खर्च घटाने के तरीके समझाइये ।

अड़तीसवाँ अध्याय

—०:-:०—

स्थानीय राजस्व

पिछले दो अध्यायों में केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों के आय-व्यय के सम्बन्ध में लिखा जा चुका है। अब हम स्थानीय राजस्व अर्थात् म्युनिसिपैलिटियों, जिला-बोर्डों आदि स्थानीय संस्थाओं के आय-व्यय का विचार करते हैं। ये संस्थाएँ प्रांतीय सरकारों की अधीनता और नियंत्रण में कार्य करती हैं। यद्यपि एक परिमित सीमा तक इनकी अपनी आय है, और उसे ये कुछ बढ़ा भी सकती हैं, तथापि अभी तक ये बहुत कुछ सरकारी सहायता के ही आश्रित हैं।

स्थानीय करों का विचार—कर-सम्बन्धी मुख्य-मुख्य बातें इस खंड के पहले अध्याय में बतायी जा चुकी हैं। यहां स्थानीय करों के विषय में विचार करते हैं। ये कर विशेषतया निम्नलिखित हैं:—

१—व्यापार पर कर

२—मकान-कर

३—यात्री-कर

४—हैसियत-कर

व्यापार पर कर—भारतवर्ष में कई प्रान्तों में स्थानीय संस्थाओं की अधिकतर आय उस महसूल से होती है जो इस देश के ही दूसरे स्थानों से इन संस्थाओं की सीमा के अन्दर आनेवाले माल पर लगता है। इसे चुंगी कहते हैं। इस कर का भार उन आदमियों पर पड़ता है जो इस माल का उपयोग करते हैं।

इस कर से होने वाली आय अनिश्चित रहती है। कर-दाता को बड़ी असुविधा रहती है। उसे जब अपने परिवार के आदमियों के साथ नगर में प्रवेश करते समय चुंगी की चौकी पर ठहरना पड़ता है तो बुरा लगता है। यह कर जब जीवनरक्षक पदार्थों पर लगता है तो इसका भार धनिकों की अपेक्षा गरीबों पर अधिक पड़ता है। इसके वसूल करने का खर्च अपेक्षाकृत अधिक होता है, और इसमें धोखा देकर कर से बचने की भी बहुत गुंजाइश है। इस कर के कारण आदमियों तथा गाड़ियों आदि की आवाजाई में बाधा उपस्थित होती है। इसलिए अनेक लोगों का मत है कि यह कर उठा दिया जाना चाहिए।

मकान-कर—यह कर मकान के वार्षिक किराये पर निर्धारित दर से लगाया जाता है; और बहुधा मकान के मालिक पर न पड़ कर उसके किरायेदार पर पड़ता है, क्योंकि मालिक किराये के साथ ही प्रत्यक्ष अथवा गौण रूप से इसे वसूल कर लेता है। देहातों में इस कर के समान 'अब्वाब' लिया जाता है, यह प्रायः मालगुजारी के साथ उस पर एक आना फी रुपये के हिसाब से लिया जाता है। इसे सरकार वसूल करती है, और पीछे जिला बोर्डों को दे देती है।

यात्री-कर—कुछ तीर्थ-स्थानों आदि में यात्री कर लिया जाता है। इसका भार वहाँ आने वालों पर पड़ता है, जो, यह समझा जाता है कि उन स्थानों से लाभ उठाते हैं। यह कर प्रायः रेलवे टिकट के मूल्य के साथ सुभीते से वसूल कर लिया जाता है।

हैसियत-कर—यह आय-कर की भाँति प्रत्यक्ष कर है, इसका परिमाण बहुत कम रखा जाता है। इसे प्रायः जिला-बोर्ड लेते हैं। कुछ स्थानों में नौकर रखने वालों से भी कर लिया जाता है।

फ़ीस आदि—कुछ विशेष कार्यों के उपलक्ष्य में स्थानीय संस्थाएँ नागरिकों से फीस या शुल्क लेती हैं, जैसे पानी (नल) का शुल्क, रोशनी का शुल्क (बिजली आदि), स्कूल फीस आदि। कुछ शुल्क विलासिता की वस्तुओं पर, अथवा सुव्यवस्था की दृष्टि से लिये जाते हैं, यथा मोटर, साइकिल, तांगा, कुत्ता आदि रखने का शुल्क।

भारतवर्ष की स्थानीय स्वराज्य संस्थाएँ—भारतवर्ष की वर्तमान स्थानीय संस्थाओं के निम्नलिखित भेद मुख्य हैं:—

१—पंचायतें—

२—स्थानीय बोर्ड, जिला-बोर्ड।

३—म्युनिसिपैलिटियाँ, कारपोरेशन।

४—पोर्ट ट्रस्ट।

५—इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट।

पंचायतें—इनमें चार पाँच या अधिक सदस्य तथा एक सरपंच होता है। ये पंचायतें छोटे-मोटे दीवानी तथा फौजदारी मामलों का बिना

फीस फैसला करती हैं। इन्हें गांवों में शिक्षा, सफाई और आवारा फिर कर नुकसान पहुँचाने वाले मवेशियों के सम्बन्ध में कुछ अधिकार होता है। ये साधारण अपराध करने वालों पर कुछ जुर्माना कर सकती हैं; मुक़दमा लड़ने वालों (वादी प्रतिवादी) से कुछ फीस ले सकती हैं। इन्हें जिला-बोर्ड या सरकार से कुछ रकम मिलती है। इसके अतिरिक्त, ये निर्धारित नियमों के अनुसार अपने क्षेत्र के आदमियों पर कुछ कर लगा सकती हैं, तथा अपराधियों पर कुछ जुर्माना भी कर सकती हैं।

बोर्ड—देहातों में प्रारम्भिक शिक्षा और स्वास्थ्य आदि का एवं पशुओं की उन्नति कार्य करने वाली मुख्य संस्थाएँ बोर्ड कहलाती हैं। इनके तीन भेद हैं; किसी-किसी प्रान्त में तो इनमें से तीनों ही प्रकार के बोर्ड हैं और कहीं-कहीं केवल दो या एक ही तरह के हैं :—

१—लोकल बोर्ड, यह एक गाँव में या कुछ ग्रामों के समूह में होता है।

२—ताल्लुका या सब-डिविजनल बोर्ड; यह एक ताल्लुके या सब-डिविजन में होता है। यह लोकल बोर्डों के काम की देखभाल करता है।

३—जिला-बोर्ड; यह एक जिले में होता है, और जिले भर के लोकल बोर्डों (या ताल्लुका-बोर्डों) का निरीक्षण करता है। भारत में दो सौ से अधिक जिला-बोर्ड, और लगभग छः सौ अधीन-जिला-बोर्ड हैं। जिला-बोर्डों के क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों की संख्या है, बाईस करोड़ से भी अधिक है। उपर्युक्त कार्यों तथा इस जन-संख्या

को देखते हुए बोर्डों की कुल वार्षिक आय, जो लगभग सत्रह करोड़ रुपये है, बहुत कम है। आय अधिकतर उस महसूल से होती है जो भूमि पर लगाया जाता है, और जो सरकारी वार्षिक लगान या माल-गुजारी के साथ ही प्रायः एक आना, या इससे अधिक, फी रुपये के हिसाब से वसूल करके इन बोर्डों को दे दिया जाता है। इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य किन किन कार्यों से आय होती है, यह नीचे दिये हुए इलाहाबाद के जिला-बोर्ड के आय के नकशे से ज्ञात हो जायगा। व्यय के नक्शे से जिला-बोर्ड के कार्य-क्षेत्र की कल्पना अच्छी तरह हो सकती है।

इलाहाबाद डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की आय व्यय का बजट

सन् १९३९–४० ई०

आय

	रुपये	रुपये
प्रांतीय सरकार से सहायता		
शिक्षा	२,६९,३६८	
चिकित्सा	१२,५५०	
स्वास्थ्य	११,३२८	
अन्य	५६,४००	३,४९,६४६
अब्वाब		२,५१,५७४
टैक्स हैसियत व जायदाद		३०,०००
मवेशीखाना		१७,६००
यातायात		३६,०००

	रुपये
शिक्षा-शुल्क	१०,५००
चिकित्सा	१,१५०
पब्लिक हेल्थ	१,५००
पशुचिकित्सा	१३०
बाजार	१,३००
किराया	२,०००
दरख्त लगाना	७००
अन्य	५,०००
कर्ज	१४,२००
बेलेन्स (वर्ष के आरंभ में)	१६,६६६
	कुल ७,३८,२६६

व्यय

	रुपये
आम इंतजाम	३६,२८०
मवेशी खाना	१२,०१५
शिक्षा	४,१७,८६७
चिकित्सा	४१,०६६
स्वास्थ्य	१६,१०३
टीका चेचक	११,२६५
मवेशी अस्पताल	१२,६४०

	रुपये
मेला व नुमायश	५००
दरख्त लगाना	१,४७०
सिविल निर्माण-कार्य	४६,७६०
अन्य	७,५००
कर्ज	१४,२००
बैलेन्स (वर्ष के अंत में)	१७,५४३
कुल	७,३८,२६६

जैसा कि स्पष्ट है, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की आय का सब से बड़ा जरिया गवर्मेन्ट ग्रान्ट है। अधिकतर सरकार पढ़ाई का खर्च देती है। चिकित्सा और स्वास्थ्य की मदों में सरकार से करीब २४ हजार रुपया मिलता है। बोर्ड स्वयं भी इन मदों से ढाई हजार रुपया पैदा कर लेता है। इसके अलावा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड भूमि पर कर लगाता है। यह कर सरकारी मालगुजारी का १० फीसदी तक हो सकता है, यह प्रांतीय सरकार द्वारा मालगुजारी के साथ ही वसूल किया जाता है और इसे अव्वाब कहते हैं। "टैक्स हैसियत व जायदाद" मकानों तथा अन्य मालियत की कीमत पर तथा अन्य ग्रामीण धंधों से होनेवाली आय पर लगाया जाता है।

लोगों का नुकसान करनेवाले जानवरों के मालिकों के ऊपर होनेवाले जुरमाने से मवेशीखाने में १७६०० रु० की खासी रकम आती है, तथा नदी पार करने के लिए घाटों पर पुल व नावों का इन्तजाम करने के कारण ३६००० रु० मिल जाता है।

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के स्कूलों में पढ़ने तथा वहां के बोर्डिङ्गों में रहने वाले विद्यार्थियों से फीस के रूप में साढ़े दस हजार रुपए मिलते हैं। बोर्ड की जमीन में जो बाजार लगते हैं अथवा बोर्ड की जो दूकानें किराए पर उठी हैं उनसे करीब साढ़े तीन हजार रुपए आते हैं। सूखे पेड़ों अथवा पेड़ के फलों को बेच देने से बोर्ड को सात सौ रुपए मिलते हैं। अन्य आयों तथा कर्ज की १४,२०० रु० की रकम और करीब १७ हजार के बेलेन्स को लेकर इस प्रकार १६३६-४० में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को करीब ७ लाख ३८ हजार रुपयों की आमदनी होगी।

बोर्ड की आय का सबसे बड़ा भाग शिक्षा पर व्यय होता है। बोर्ड की ओर से ट्रेनिंग व मिडिल स्कूल खुले हैं। दस्तकारी की शिक्षा भी दी जाती है। अछूतों के लिए अलग इन्तजाम है। प्राइमरी स्कूल तथा इस्लामियां मकतबों पर करीब दो लाख रुपया व्यय होता है।

चिकित्सा व स्वास्थ्य की मदों पर इलाहाबाद डिस्ट्रिक्ट बोर्ड करीब ५७,००० रु० खर्च करता है। पश्चिमी तथा देशी दोनों तरह की दवाइयों का इन्तजाम रहता है। जगह जगह पर सफाई का ख्याल रक्खा जाता है। बच्चों को टीका लगाने के लिए बोर्ड का ग्यारह हजार रुपया खर्च होता है। जानवरों के इलाज में भी साढ़े बारह हजार लग जाते हैं।

मवेशीखानों की देखरेख में १२०१५ रु० व्यय हो जाते हैं। नुमायश लगाने अथवा मेलों के प्रबन्ध में तो केवल पाच सौ रुपए व्यय किए जाते हैं। हां पेड़ों को लगाने तथा उनके इन्तजाम में डेढ़ हजार खर्च होते हैं। इमारतों की देखरेख व मरम्मत पर करीब ४७

हजार रुपए लगते हैं। इन मदों के अलावा आम इन्तजाम करने में ३६,२८० रुपए खर्च होने का अनुमान किया गया है।

म्युनिसपैलिटियां और कारपोरेशन—इनका क्षेत्र शहरों या नगरों में हैं। ब्रिटिश भारत में (जिसमें अब बर्मा नहीं है) सब म्युनिसिपैलटियों की संख्या ७२७ और कुल आय १४ करोड़ रुपये है। इनमें से कलकत्ता, बम्बई और मदरास की म्युनिसिपैलिटियों को कारपोरेशन कहते हैं, केवल इन तीनों की ही आय तीन करोड़ रुपये से अधिक है।

नीचे इलाहाबाद म्युनिसिपल बोर्ड के आय व्यय का नक़्शा दिया जाता है। इससे ज्ञात होगा कि साधारणतया म्युनिसिपल बोर्डों की आय किन-किन साधनों से होती है, तथा वे कैसे कैसे कार्य किया करते हैं।

इलाहाबाद म्युनिसिपैलिटी का बजट

सन् १६३६–४० ई०

अनुमानित आय

	रुपये	रुपये
म्युनिसिपल करः—		
चुंगी	४,७२,०००	
मकान व जायदाद	१,६६,५००	
घरेलू जानवर व सवारी	५३,५००	
पानी	३,८२,३००	
यात्री-कर	७६,०००	
अन्य	११,६००	११६५,२००

		रुपये
खास कानून के अनुसारः—		
मवेशीखाना	१,५००	
इक्का तांगा आदि	२२,०२५	२३,५२५
म्युनिस्पिल जायदाद आदिः—		
जमीन, मकान, सराय आदि का किराया	१,०३,०००	
जमीन व उपज की बिक्री	१,६००	
स्कूल, दवाखाना, बाजार आदि से फीस	२५,७१०	
पानी की बिक्री	१,३२,०००	
अन्य फीस व जुर्माना	३३,०००	
सूद आदि	१,१९०	२,९६,५००
प्रान्तीय सरकार से सहायता		५०,१९३
अन्य		४ ,५४०
कर्ज		२,८६,६५४
बैलेंस (वर्ष के आरंभ में)		७०,१५८
कुल		१९,३७,७७०

इलाहाबाद की प्रत्येक जनता पर :—

म्युनिस्पिल टैक्स (कर) का भार	रु० ६।११।८
म्युनिस्पिल आय का भार	रु० ८।१५।७

अनुमानित व्यय सन् १९३९-४०

आम इन्तजाम		१,६८,६६४
जनता की रक्षा:—		
आग	११,६०६	
रोशनी	६२,०४६	१,०३,६५५
स्वास्थ्य व अन्य सहूलियत:—		
पानी	३,७१,८६७	
नाली व मोरी	२,२११६६	
सफाई	२,७०२५६	
अस्पताल व टीका	४६७१५	६,१३,२७७
पार्क आदि		६,८६०
मवेशीखाना, कसाईखाना, सराय आदि		६,७१०
मवेशी अस्पताल		१५,२२६
जन्म मरण रजिस्टर		३,६२८
सिविल निर्माण कार्य:—		
सड़क	६४,४००	
इमारत	१०,१६४	
अन्य	३४,६५२	१,३६,५४६
शिक्षा:—		
स्कूल व कालेज	१,५६,०००	
लाइब्रेरी, म्यूजियम	३२,२२८	१,६१,२२८
अन्य		१,०२,६६०
कर्ज व सूद		१,७४,५८७
बैलेन्स (वर्ष के अंत मे)		७०,०६६
कुल		१६,३७,७७०

उपरोक्त बजट से स्पष्ट है कि म्युनिसिपल बोर्ड की आय के चार मुख्य साधन हैं:—

(१) म्युनिसिपल कर—इसमें चुंगी उस माल पर लगाई जाती है जो बाहर से म्युनिसिपल बोर्ड की हद्द के अन्दर आता है। चुंगी के कारण इलाहाबाद में बिकने वाले माल के दाम तो बढ़ ही जाते हैं इसमें चोरी करके माल लाने तथा घूसखोरी बढ़ती है। म्युनिसिपैलिटी के टैक्सों में चुंगी से ही सब से अधिक रुपया आता है। इसके बाद पानी के टैक्स से आय होती है। यह अधिकतर नल की टोंटी के छेद के हिसाब से निश्चित होता है। मकान व जायदाद पर जो टैक्स लगाया जाता है वह उक्त मकान व जायदाद की कीमत का ख्याल करके लगाया जाता है। यात्रियों पर लगाया जाने वाला टैक्स रेलवे टिकट में ही शामिल कर लिया जाता है। फिर रेलवे यह रकम साल के अंत में म्युनिसिपैलिटी को दे देती है।

(२) खास एक्ट के अनुसार टैक्स—इसमें इक्के तांगों पर लगने वाले टैक्स से ही साढ़े तेईस हजार की रकम आती है।

(३) म्युनिस्पिल जायदाद आदि—बजट में इसके अंतर्गत आने वाली मदें स्पष्ट हैं।

(४) प्रांतीय सरकार से सहायता—इलाहाबाद म्युनिसिपैलिटी को सरकार से लगभग पचास हजार रुपया सालाना सहायता मिलती है।

व्यय—इलाहाबाद म्युनिसिपल बोर्ड के व्यय की खास मदें निम्न-लिखित हैं—

(१) आम इतजाम—यह खर्च म्युनिसिपल दफ़्तर पर और कर इकट्ठा करने आदि में होता है।

(२) जनता की रक्षा—इस साल म्युनिसिपैलिटी फायर ब्रिगेड रखने में करीब बारह हजार रुपए खर्च करेगी। सड़कों और गलियों में रोशनी करने में करीब ६२ हजार रुपया खर्च होंगे।

(३) स्वास्थ्य—म्युनिसिपल बोर्ड की ओर से जनता के लिए पानी का इंतजाम करने में लगभग पौने चार लाख रुपया खर्च हो जाता है। गंदा पानी बहाने के लिए जो नालियां बनी हैं उनकी सफाई व देखरेख में सवा दो लाख की बड़ी रकम खर्च होती है। अन्य प्रकार की सफाई में पौने तीन लाख रुपए खर्च होते हैं।

(४) सिविल निर्माण-कार्य—म्युनिसिपैलिटी की सड़क व इमारतों की मरम्मत यह विभाग करता है।

(५) शिक्षा—इस मद के अन्तर्गत हिन्दी व अंगरेजी के स्कूलों व दस्तकारी के काम सिखाने वाली संस्थाओं को सहायता दी जाती है। स्थानीय लाइब्रेरी व वाचनालयों को भी आर्थिक सहायता दी जाती है।

(६) कर्ज व सूद—म्युनिसिपैलिटी कुछ रुपया तो पुराने कर्ज की अदाएगी में और कुछ सूद के रूप में खर्च करती है।

पोर्ट-ट्रस्ट—बन्दरगाहों का स्थानीय प्रबन्ध करने वाली संस्थाएँ 'पोर्ट ट्रस्ट' कहलाती हैं। ये घाटों पर मालगोदाम बनवाती हैं, और व्यापार के सुभीते के लिए नाव और छोटे जहाज की सुव्यवस्था करती हैं। प्रधान पोर्ट-ट्रस्ट कलकत्ता, बम्बई, करांची, मदरास और चटगाँव में हैं। इनकी कुल आय साढ़े सात करोड़ रुपये है।

इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट—बड़े बड़े शहरो की उन्नति या सुधार के लिए कभी-कभी विशेष कार्य करने होते हैं, जैसे सड़कों को चौड़ी करना, घनी बस्तियो को हवादार बनाना, गरीबो और मजदूरो के लिए मकानो की सुव्यवस्था करना आदि। ये कलकत्ता, बम्बई, इलाहाबाद, लखनऊ और कानपूर आदि में हैं।

उपसंहार—किसी गाँव या नगर मे सड़क बनवाना, नालियां बनवाना या साफ कराना, बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध करना आदि स्थानीय कार्य उसी स्थान के निवासियों के प्रतिनिधि विशेष उत्साह और कुशलता-पूर्वक कर सकते हैं। इससे स्थानीय संस्थाओं के महत्व का अनुमान हो सकता है। हमारी पचायतो और जिला-बोर्डों की ही नहीं, म्युनिसिपैलिटियो तक की आर्थिक स्थिति अच्छी नही है। उनकी आय बहुत कम है और उन्हें अपने कार्य सम्पादन करने के लिए आवश्यक द्रव्य के वास्ते सरकार का मुखापेक्षी रहना पड़ता है। उनके द्वारा किये जाने वाले कार्यों का असन्तोषप्रद रहना स्वाभाविक ही है। अब प्रांतीय सरकारो का इन सस्थाओ के प्रति बहुत सहानुभूति तथा सहयोग का भाव है।

अभ्यास के प्रश्न

(१) युक्त प्रान्त के म्यूनिसिपल बोर्डों के आय व्यय की मुख्य मुख्य मदों को संक्षेप में बताइए। विशेष महत्व रखने वाली मदों का विवेचन कीजिए।

(२) यू० पी० जिला बोर्डों के आय के प्रधान साधन व व्यय की

प्रधान मदें कौन कौन सी हैं ? हर एक मद पर अपनी राय संक्षेप में दीजिए।

(३) चुंगी के गुण दोष लिखिये।

(४) युक्त प्रांत में म्युनिसिपैलिटियों और जिला बोर्डों की आय बढ़ाने के मुख्य साधन क्या हैं ?

(५) इस प्रांत की म्युनिसिपैलिटियों और जिला बोर्डों के खर्च कम करने के तरीके समझाइये।

(६) यदि आप अपने नगर की म्यूनिसिपैलिटी के सदस्य निर्वाचित कर दिये जांय तो नगर की दशा सुधारने के लिये आप कौन सी योजना पेश करेंगे ?

(७) जिला बोर्डों द्वारा देहातों में शिक्षा-प्रचार का कार्य अधिक जोरों से कैसे किया-जा सकता है ?

उनतालिसवाँ अध्याय

—०:०—

आर्थिक स्वराज्य

पिछले अध्यायों में भारतवर्ष से सरकारी आय-व्यय की विविध मद्दों का यथा सम्भव ब्यौरेवार वर्णन किया गया है। अब, इस अध्याय में यह विचार करना है कि यहां की राजस्व-नीति कहां तक राष्ट्रीय हितों के अनुकूल अथवा प्रतिकूल है, और हमें आर्थिक विषयों के स्वराज्य की कैसी आवश्यकता है।

भारतवर्ष की आर्थिक पराधीनता—भारतवर्ष को अपनी राजस्व व्यवस्था करने में बहुत कम स्वतंत्रता है। यहाँ के लोक-प्रतिनिधियों को अपनी इच्छानुसार देश का आय-व्यय बढ़ाने घटाने का अधिकार नहीं है। सन् १९३८-३९ के अनुमान-पत्र का उदाहरण लें तो १२० करोड़ रुपये के केन्द्रीय व्यय में से सेना, रेल और सूद तथा 'राजनैतिक' खर्च एवं अनेक उच्च पदाधिकारियों के वेतन और भत्ते आदि के १०२ करोड़ रुपये से अधिक के व्यय पर अर्थात् लगभग ८५ प्रतिशत पर व्यवस्थापक मंडल का मत नहीं लिया जाता। शेष मद्दों के जिस थोड़े-से व्यय के सम्बन्ध में मत लिया जाता है, उनके संबंध में भी, आवश्यकता समझने पर गवर्नर-जनरल अपने उत्तरदायित्व के विचार से व्यवस्थापक

मंडल के निर्णय के विरुद्ध कार्य कर सकता है। सन् १९३५ ई० के विधान के अनुसार यहाँ प्रान्तों में स्वराज्य की स्थापना हो जाने की बात कही जाती है, पर इस स्वराज्य में भी अनेक पदाधिकारियों के वेतन आदि के व्यय पर प्रान्तीय व्यवस्थापक मंडलों का कोई नियंत्रण नहीं है।

आय की बात लीजिए। हमें विदेशी माल पर, अथवा विदेशी कम्पनियों द्वारा बनाये हुए यहाँ के माल पर यथेष्ट कर लगाने का अधिकार नहीं। सरकार नमक पर टैक्स कम न करे तो हम केवल मौखिक विरोध कर पाते हैं, उस पर ध्यान देना या न देना शासकों की कृपा पर निर्भर है। हमारी 'गोल्ड स्टैन्डर्ड रिजर्व' आदि की करोड़ों रुपये की रकम भारत-मंत्री के पास जमा रहती है, उससे इंगलैंड के बड़े बड़े बैंक और धनी व्यापारी लाभ उठाते हैं; निर्धन भारत अपने ही कोष का उपयोग नहीं कर सकता। केन्द्रीय सरकार, व्यवस्थापक मंडल का मत लिये बिना ही, इंगलैंड से चाहे जितना ऋण लेकर हम पर लाद देती है, चाहे अन्य देशों से ऋण अधिक अनुकूल शर्तों पर ही क्यों न मिलता हो। कहाँ तक कहें, हमारी पराधीनता-सूचक बातों की सूची काफी बड़ी है!

इसका परिणाम; आर्थिक दुर्दशा—आर्थिक पराधीनता का एक अनिवार्य परिणाम देश का आत्मिक या नैतिक पतन है। उसकी बात यहाँ छोड़ ही दें, तो हमारी आर्थिक दुर्दशा भी इस समय कुछ कम नहीं है। वीर-प्रसविनी भारत-भूमि के पुत्रों में निर्बलता, रोग और

निर्जीवता देख कर कौन सहृदय दो आंसू न बहावेगा ? बच्चे, बूढ़े और रोगियों के लिए दूध आदि की भयङ्कर कमी है, हमारे लाखों भाई-बहनों को दोनों वक्त खाने को नहीं मिलता, और उनसे भी अधिक वे लोग हैं, जो हमेशा कम खाने से शरीर-पोषण-योग्य खुराक नहीं पाते—पा नहीं सकते। इसके सिवा हिन्दुस्तान के लाखों गांवों में दिन-रात भूकों मरते हुए कितने गरीब होंगे, यह कौन कह सकता है। इस परिस्थिति का जिम्मेदार कौन है ? क्या ब्रिटिश-शासन के भयंकर खर्च के लिए वसूल किये जाने वाले नये नये टैक्स, सेना और सूद आदि में इतना अधिक खर्च हो जाना कि शिक्षा, स्वास्थ्य और उद्योग-धन्धों के लिए केवल नाम-मात्र की रकम रह जाय, बड़ी-बड़ी अधिकांश नौकरियाँ विदेशियों को देना और भारत-सन्तान को अपने ही देश में परदेशी की तरह रखना, उक्त परिस्थिति के कुछ कारण नहीं है ? जो लोग ब्रिटिश शासन के अमन-चैन पर मुग्ध हैं, वे तस्वीर का यह दूसरा पहलू भी तो देखें !

आर्थिक स्वराज्य की रूप-रेखा—अस्तु, उक्त शोचनीय परिस्थिति का इलाज क्या है ? आर्थिक पराधीनता दूर हो, और आर्थिक दृष्टि से तो हमें स्वराज्य अवश्य ही मिल जाय। इसका अभिप्राय यह है कि भारत-सरकार और प्रान्तिक सरकारों का समस्त आय-व्यय भारतीय प्रतिनिधियों के अधिकार में रहे। वे भारतवर्ष के हित को लक्ष्य में रख कर चाहे जिस खर्च में कमी करें, और चाहे जिस प्रकार कर लगावें। इस समय केन्द्रीय शासक और प्रान्तीय गवर्नर भारत-मन्त्री और ब्रिटिश पार्लिमेंट के प्रति उत्तरदायी हैं। उन सब को भारतीय

जनता के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। नीचे हम आर्थिक स्वराज्य-सम्बन्धी मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख करते हैं:—

१—भारतीय आय-व्यय की पाई-पाई पर भारतीय जनता के प्रतिनिधियों का अधिकार हो। राज्य-प्रबन्ध के लिए कर तो सदैव ही देने पड़ेंगे, परन्तु आर्थिक स्वराज्य होने की दशा में उनका परिमाण, वसूल करने का ढङ्ग, तथा उन्हें खर्च करने की व्यवस्था आदि प्रत्येक बात में सार्वजनिक हित का ध्यान रखा जायगा।

२—हमें उच्च से उच्च सरकारी पदाधिकारी की नियुक्ति, बर्खास्तगी और वेतन-निर्धारण का अधिकार होना चाहिए।

३—हमें अपने आयात-निर्यात-कर निर्धारित करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए, जिससे भारतीय हितों का सम्यक् ध्यान रखा जा सके, और इङ्गलैंड या उसके उपनिवेशों के हित के लिए भारत को व्यर्थ की हानि न उठानी पड़े। इसी प्रकार यदि विदेशी कम्पनियाँ भारतवर्ष में अपनी पूँजी लगा कर यहाँ के कच्चे पदार्थों और सस्ती मजदूरी से लाभ उठाते हुए यहाँ का शोषण करना चाहें तो हमें उन पर भी यथेष्ट आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार होना चाहिए।

४—हमें अपनी मुद्रा, टकसाल की व्यवस्था करने और विनिमय की दर निर्धारित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। और मुद्रा-ढलाई-लाभ-कोष ('गोल्ड स्टैंडर्ड रिजर्व') आदि का समस्त रुपया समुद्र पार इङ्गलैंड में न रख कर भारतवर्ष में ही रखने का अधिकार होना चाहिए, जिससे वह यहां की जनता के काम आ सके।

५—भारतीय व्यवस्थापक सभा के लोक-निर्वाचित प्रतिनिधियों को आवश्यकतानुसार रुपया उधार लेने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए; जब भारतवर्ष में काफी रुपया न मिले तो जर्मनी, अमरीका आदि जिस देश से हमें अनुकूल शर्तों, तथा कम सूद पर मिले, वहां से हम ले सकें, केवल इङ्गलैंड से ही लेने का बन्धन हम पर न होना चाहिए।

६—रिजर्व बैङ्क के संगठन में भारतीय हितों के सुरक्षित रखने और उस पर भारतीयों का नियंत्रण रहने की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे वह हमारी कृषि, उद्योग और व्यापार तथा विनिमय आदि के सम्बन्ध में यथेष्ट सहायक हो सके।

७—हमें विदेशों से व्यापारिक संधि करने, भारतीय हित का ध्यान रखते हुए उन्हें आवश्यक सुविधाएँ देने, तथा वहाँ अपने वाणिज्य-दूत या कमिश्नर रखने आदि का अधिकार होना चाहिए। इस प्रकार हमारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व्यर्थ के बन्धनों से जकड़ा न रहना चाहिए।

यहां कुछ थोड़ी-सी ही बातों का उल्लेख किया गया है, इन से आर्थिक स्वराज्य की रूप-रेखा का आभास हो सकता है।

हमारी आर्थिक उन्नति—जब स्वराज्य ही हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है, तो आर्थिक स्वराज्य तो उसका एक अंश ही है। इसकी चाह कोई अनोखी बात नहीं है। हम अपने देश की—अपने भाई-बहिनों की—आर्थिक उन्नति चाहते हैं, यह आर्थिक स्वराज्य बिना कठिन ही नहीं, असम्भव है। आर्थिक स्वराज्य पाकर हम अपने देश-प्रेमी नवयुवकों को सैनिक शिक्षा देकर ऐसे आदमी हर समय तैयार

रखेंगे, जो जरूरत के समय स्वयं जननी जन्मभूमि की रक्षा करें। हम स्थायी सेना बहुत कम रखेंगे और उसमें केन्द्रीय (भारत सरकार की) आय का लगभग आधा भाग स्वाहा न करके उसमें बहुत बचत करेंगे, और उस बचत से अपने बहुत से उपयोगी कार्य निकालेंगे। अन्यान्य बातों में हम अपने देश से अविद्यान्धकार को दूर कर ज्ञान के प्रकाश में रहेंगे। मँहगी, रोगों और व्याधियों का वहिष्कार कर देंगे। कृषकों पर भूमि-कर का भार कम कर के हम उन्हें सुख से पेट-भर रोटी खाने देंगे। उद्योग-धन्धों की उन्नति के यथेष्ट साधन प्रस्तुत करके हम अपने इधर-उधर वृथा भटकने वाले बेकारों के लिए आजीविका-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करेंगे। इस प्रकार आर्थिक स्वराज्य से देश में सुख-शान्ति का राज्य होगा।

अभ्यास के प्रश्न

(१) भारतवर्ष की आर्थिक पराधीनता के उदाहरण दीजिये। सन् १९३५ की शासन-व्यवस्था से इस पराधीनता में कितनी कमी हुई है ?

(२) भारतवासियों की आर्थिक दुर्दशा के प्रमाण दीजिये।

(३) यदि भारतवासियों को आर्थिक स्वराज्य मिल जाय तो आर्थिक उन्नति किस प्रकार हो सकेगी ?

(४) अपने प्रांत की स्थायी आर्थिक उन्नति के लिये एक पंचवर्षीय योजना तैयार कीजिये।

(५) आर्थिक स्वराज्य से देश में सुख-शांति की वृद्धि किस प्रकार होगी ?

परिशिष्ट १

पारिवारिक व्यय-संबंधी बातें कैसे प्राप्त की जांय ?

जैसा कि पहले अध्याय में बतलाया जा चुका है, अर्थशास्त्र में मनुष्यों के धन-सम्बन्धी प्रयत्नों का विवेचन होता है। मनुष्यों के अधिकाश आर्थिक प्रयत्न धन को प्राप्त करने और उसके खर्च करने से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिये यदि कुछ मनुष्यों की मासिक या वार्षिक आमदनी और खर्च की मद्दों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया जाय तो अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को अच्छी तरह से समझने में बड़ी सहायता मिलती है। अर्थशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी को कुछ पारिवारिक आय-व्यय-पत्र (बजट) स्वयं इकट्ठा करके अध्ययन करना चाहिये।

पारिवारिक व्यय उपभोग के लिये अथवा धन की उत्पत्ति के लिये किया जाता है। जो रकम उपभोग के लिये खर्च की जाती है उससे परिवार की आर्थिक दशा का पता लगता है। जो रकम धन की उत्पत्ति के लिये खर्च की जाती है उससे वस्तु के लागत खर्च और मुनाफा का पता लगता है।

नवें अध्याय में पारिवारिक आय-व्यय के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है और उसमें एक किसान और एक क्लर्क के वार्षिक पारि-

है और निपुणता-दायक या जीवन-रक्षक पदार्थों पर काफी खर्च नहीं हो रहा हो तो परिवार की भलाई इसी में है कि वह मादक वस्तुओं का उपयोग बन्द कर दे, विलासिता और ऐश आराम की वस्तुओं का उपयोग कम कर दे और जीवन रक्षक पदार्थों का उपयोग बढ़ा दे।

अपना निजी बजट तैयार कर लेने पर फिर किसी किसान, मजदूर या क्लर्क का बजट तैयार करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये यह आवश्यक है कि जिस व्यक्ति का बजट तैयार करना हो उससे घनिष्टता प्राप्त की जाय और उसको अपना विश्वास-पात्र बनाया जाय। कोई भी व्यक्ति अपने खर्च का सच्चा हाल तब तक न देने को तैयार होगा जब तक उसको यह विश्वास न हो ायगा कि आप उसकी बतलाई हुई बातों का दुरुपयोग न करेंगे। इसलिये प्रत्येक विद्यार्थी को परिचित और विश्वसनीय व्यक्ति से ही खर्च का हिसाब प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि वह उस व्यक्ति के खर्च का हिसाब प्रतिदिन उसी प्रकार लिख लिया करे जिस प्रकार वह अपना हिसाब लिखता है और हिसाब लिखने में उसको उन सब बातों का ध्यान रखना चाहिये जो ऊपर बतलाई गई हैं।

यह अक्सर देखा गया है कि ऐसे सज्जन जो पारिवारिक व्यय के संबंध में सामग्री इकट्ठी करते है, किसी अपढ़ किसान या मजदूर के पास जाकर एक दो घण्टे में उससे अपनी वर्ष भर की सब आमदनी और खर्च का हाल पूछ लेते हैं। इस प्रकार जो सामग्री प्राप्त होती

है उसका कुछ भी महत्व नहीं है। अधिकांश किसान या मजदूर अपढ़ हैं। जो थोड़े बहुत पढ़े हुए भी हैं वे भी अपनी आमदनी और खर्च का हिसाब नहीं रखते। एक दो घण्टे के अन्दर वे जो कुछ बतलाते हैं वह अनुमान के आधार पर ही रहता है। इस अनुमान के गलत होने की बहुत अधिक संभावना रहती है। इसलिये इस प्रकार सामग्री इकट्ठी करने से कुछ लाभ नहीं है। विद्यार्थी को चाहिये कि वह प्रतिदिन अपने चुने हुए किसान, मजदूर या अन्य किसी व्यक्ति का पूरा पूरा हिसाब लिखता जाय। तब ही उसे विश्वसनीय बातों का पता लगेगा।

लागत खर्च का हिसाब—किसी वस्तु का लागत खर्च जानने के लिये यह आवश्यक है कि खेती के लिये कम से कम एक वर्ष और अन्य छोटे उद्योग-धंधों के लिये कम से कम एक माह का आय-व्यय का पूरा पूरा हिसाब प्राप्त किया जाय। खेती का लागत खर्च जानने के लिये किसी किसान की आमदनी और खर्च का हिसाब एक वर्ष तक रखना होगा। हिसाब रखने में उन सब बातों का ध्यान रखना होगा जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। एक वर्ष का हिसाब तैयार होने पर आमदनी में से वे सब रकमें निकाल दी जावेंगी जिनका संबंध खेती से नहीं है। यदि उस किसान ने नजदीक के शहर में मजदूरी करके वर्ष भर में ३०) कमा लिये तो यह रकम उसकी आमदनी के हिसाब से कम कर दी जावेगी। उसके खर्च के हिसाब से वे सब रकमें निकाल दी जावेंगी जो उसके परिवार के उपभोग के लिये व्यय की गई हैं। इनका विचार अलग किया जायगा। लागत खर्च में तो केवल वे

हों रकमें ली जावेंगी जिनका उपयोग वस्तु की उत्पत्ति करने में किया गया है। लागत खर्च का हिसाब लगाने में निम्नलिखित बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना आवश्यक है:—

(१) यदि जमीन पर कोई लगान या किराया न दिया जाता हो तो उसका अनुमान अलग लगाना चाहिये और उसे लागत खर्च में जोड़ देना चाहिये।

(२) जितने दिन उत्पादक या उसके परिवार के व्यक्तियों ने काम किया हो उनकी मजदूरी का अनुमान अलग लगाना चाहिये और उसे लागत खर्च में जोड़ देना चाहिये।

(३) अचल पूंजी की घिसावट का अनुमान लगाकर उसे भी लागत खर्च में जोड़ देना चाहिये। घिसावट का अनुमान लगाने के लिये यह जान लेना आवश्यक है कि मशीन, या वस्तु कितने समय तक चलेगी।

(४) उत्पादक ने अपनी जो कुछ पूंजी लगाई हो उसका बाजार की दर से ब्याज (सूद) का अनुमान लगाकर उसे भी लागत खर्च में जोड़ देना चाहिये।

(५) उत्पन्न की हुई वस्तुओं की बिक्री से जो रकम प्राप्त हुई हो उसमें से उसके उत्पादन में जो खर्च हुआ उसे घटा देने पर जो रकम बचे उसे मुनाफा मानना चाहिये। मुनाफे की रकम को भी लागत खर्च में जोड़ देना चाहिये। यदि मुनाफे के बदले हानि हो तो उसका उल्लेख स्पष्ट रूप से कर देना चाहिये।

उपभोग-संबंधी व्यय का फार्म

परिवार के मुखिया का नाम.........

परिवार में व्यक्तियों की संख्या.........

मनुष्य.........

स्त्री.........

बच्चे.........

पेशा.........जाति.........

खर्च का हिसाब.........से.........तक

१—भोजन

वस्तु का नाम	परिमाण	दर रु० आ०	मूल्य रु० आ०
(अ) अनाज			
गेहूँ			
जौ			
बाजरा			
चना			
चावल			
उर्द			
अन्य			
(ब) फल व तरकारी			
(स) दूध			
घी			

वस्तु का नाम	परिणाम	दर रु० आ०	मूल्य रु० आ०
(क) मांस			
मछली			
अंडे			
(ख) नमक			
मसाला			
तेल			
गुड़			
चीनी			
मिठाई			
अन्य			
मीजान भोजन सामग्री			

२—कपड़ा

वस्तु का नाम	परिमाण	दर रु० आ०	मूल्य रु० आ०
(अ) मर्दों के लिये			
धोती			
कुरता-कमीज			
कोट			
टोपी			
अन्य			

वस्तु का नाम	परिणाम	दर रु० आ०	मूल्य रु० आ०
(ब) औरतों के लिये			
धोती			
अन्य			
(स) बच्चों के लिये			
(क) अन्य			
रजाई			
चद्दर			
अंगोछा			
अन्य			
मीजान कपड़े			

३—मकान

मकान का किराया—

मकान की मरम्मत—

मीजान मकान संबंधी खर्च

४—लकड़ी व रोशनी

खर्च की मद	परिमाण	दर	मूल्य
जलाऊ लकड़ी			
मिट्टी का तेल			
बिजली			
अन्य			
मीजान			

५—घर का सामान

खर्च की मद	परिमाण	दर	मूल्य
टेबल, कुर्सी			
चारपाई			
बर्तन			
सन्दूक			
अन्य			
मीजान			

६ स्वास्थ्य

वैद्य या डाक्टर की फीस

दवाई का मूल्य

सफाई का खर्च

अन्य

मीजान स्वास्थ्य

७ शिक्षा

फीस

पुस्तक

स्लेट

अध्यापक का वेतन

अन्य

मीजान शिक्षा

८ मादक वस्तुएं

वस्तु का नाम	परिमाण	दर	मूल्य
शराब			
अफीम			
भांग, गांजा, चरस			
सिगरेट, बीड़ी			
तंबाकू			
चाय (यदि आदत पड़ गई हो)			
मीजान			

९ सूद

सूद की रकम जो दी गई

१० फुटकर खर्च

सामाजिक और धार्मिक— रु० आ०

मुंडन

विवाह

यज्ञोपवीत

श्राद्ध

कथा

दान

मेहमान

कर और अदालती खर्च—

अदालती

वकील

जुर्माना

टैक्स (कर)

अन्य

कानूनी खर्च

अन्य फुटकर खर्च—

पान

सिनेमा

नाई

धोबी

मेहतर

नौकर

साबुन

रिश्तेदारों को सहायता

मनोरंजन खर्च

डाक खर्च

समाचार पत्र

याता खर्च

अन्य

मीजान फुटकर खर्च

उपभोग के खर्च का संक्षिप्त विवरण

खर्च की मद	रु० आ०	प्रतिशत
१—भोजन		
२—कपड़ा		
३—मकान		
४—लकड़ी व रोशनी		
५—घर का सामान		
६—स्वास्थ्य		
७—शिक्षा		
८—मादक वस्तुएं		
९—सूद		
१०—फुटकर		
मीजान		१००

खेती के लागत-खर्च का फार्म

किसान का नाम...............

पूरा पता......................

जमीन का रकबा...............एकड़

खर्च का हिसाब...............से.........तक

१—लगान

लगान जो जमींदार को दिया, रुपया...

२—मजदूरी

(अ) जो मजदूरी मजदूरों को दी, रुपया.........

(ब) किसान और उसके परिवार के
व्यक्तियों की मजदूरी रुपया........

मीजान

३—बीज व खाद

बीज

रबी के लिए	रु०
खरीफ के लिए	रु०
खाद गोबर का	रु०
अन्य खाद	”

मीजान

४—सूद

कर्ज जो केवल खेती के लिये लिया गया—रु०

सूद की दर प्रतिशत

सूद का परिमाण रु०

५—घिसावट

सामान	कीमत	अनुमानित ज़िंदगी	वार्षिक घिसावट रु० आ०
बैल			
औजार			
कुआँ			
अन्य			
मीजान			

६—बिक्री-खर्च

किराया गाड़ी	रु०
चुंगी	”
कमीशन	”
अन्य	”
मीजान	

७—आमदनी

फसल	परिमाण	दर रु०	मूल्य रु० आ०
गेहूँ			
बाजरा			
जौ			
चना			
अन्य			
भूसा			
कर्बी			
मीजान			

लागत खर्च का संक्षिप्त विवरण

खर्च की मद	खर्च	प्रतिशत
१—लगान		
२—मजदूरी		
३—बीज व खाद		
४—सूद		
५—घिसावट		
६—बिक्री खर्च		
७—मुनाफा		
मीजान		

उपर्युक्त फार्म में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने से किसी अन्य वस्तु के लागत खर्च निकालने का फार्म आसानी से तैयार किया जा सकता है।

परिशिष्ट २

सहायक पुस्तकों की सूची

हम नीचे चुनी हुई हिन्दी और अंग्रेजी पुस्तकों की सूची देते हैं। इनके पढ़ने से अर्थशास्त्र के समझने में सहायता मिलेगी।

अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

संपत्तिशास्त्र—पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी (इन्डियन प्रेस प्रयाग)

उत्पत्ति—डाक्टर बालकृष्ण जी।

संपत्ति का उपभोग—श्री दयाशंकर दुबे और श्री मुरलीधर जोशी।

धन की उत्पत्ति—श्री दयाशंकर दुबे और श्री भगवानदास जी केला (श्री रामनारायन लाल, बुकसेलर, प्रयाग)

भारतीय अर्थशास्त्र

भारत की साम्पत्तिक अवस्था—श्रीराधाकृष्ण जी झा (हिन्दी पुस्तक एजेंसी)

भारतीय अर्थशास्त्र (दूसरा संस्करण)—श्री भगवानदासजी केला (भारतीय ग्रन्थमाला वृन्दाबन)

बैंक

भारतीय बैंकिंग—श्रीद्वारकालाल गुप्त (राय साहब रामदयाल अग्रवाल, प्रयाग)

आर्थिक भूगोल

औद्योगिक और व्यापारिक भूगोल—श्री शंकरसहाय सक्सेना (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग)

राजस्व

राष्ट्रीय आय-व्यय-शास्त्र—श्री प्राणनाथ विद्यालंकार

भारतीय राजस्व—श्री भगवानदास केला (भारतीय ग्रन्थमाला वृन्दावन)

ग्राम्य अर्थशास्त्र

ग्रामों का पुनरुद्धार—श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह (हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग)

ग्रामीण अर्थशास्त्र—श्री ब्रजगोपाल भटनागर (हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग)

ग्राम सुधार—श्री गंगाप्रसाद पांडेय और श्री रमेशचंद पांडेय

सुखी जीवन—श्री देवीसहाय श्रीवास्तव (श्रीरामप्रसाद सिन्हा, पटकापुर, कानपुर)

अर्थशास्त्र के कोष

अर्थशास्त्र शब्दावली—श्री दयाशंकर दुबे, श्रीभगवानदास केला और श्री गदाधर अंबष्ट (भारतीय ग्रंथमाला)

हिन्दी वैज्ञानिक कोष—नागरी-प्रचारिणी सभा काशी।

अँगरेजी पुस्तकें

Marshall—Economics of Industry.

Clay—Economics for General Reader.

Robinson F. H—Elements of Economics Books I and II.

Lettice Fisher—Getting and Spending.

B. G. Bhatnagar—Outlines of Economics for beginners.

Shankar Lal Agarwal and Ram Narain Gupta—First Principles of Economics.

E. C. Bhatty—A Hand book of Practical and Written Work in Economics.

K. L. Agarwal and G. N. Saharia—Practical and Written Work in Intermediate Economics (Ramnarain Lal, Allahabad.)

Daya Shankar Dubey and Shankar Lal Agrawal—Simple Diagams (Indian Press Ltd. Allahabad.)

परिशिष्ट ३

पारिभाषिक शब्दों की सूची

Agents of Production	उत्पत्ति के साधक
Alluvial Soil	दोमट मट्टी
Altruism	परमार्थवाद
Balance of Trade	व्यापार की बाकी
Barter	अदल-बदल
Bill of Exchange	हुण्डी
Birth-Control	संतान-निग्रह
Boom	व्यापारिक धूम
Budget	बजट, अनुमानित आय-व्यय
Capital	पूंजी
Cess	अब्वाब
Circulating Capital	चल पूंजी
Coin	सिक्का, मुद्रा
Comfort	ऐश-आराम की वस्तुएँ
Competition	प्रतिस्पर्धा
Consolidation of holdings	खेतों की चकबन्दी

Consumption	उपभोग
Conventional necessaries	कृत्रिम आवश्यकता की वस्तुएँ
Cooperation	सहकारिता
Cost of Production	लागत खर्च, उत्पादन व्यय
Cottage Industries	घरेलू उद्योग-धन्धे
Credit Instruments	साखपत्र
Customs Duty	आयात-निर्यात कर
Demand Schedule	मांग की सारिणी
Density of Population	जनसंख्या का घनत्व
Depreciation through wear and tear	घिसावट
Depression	व्यापारिक मन्दी
Desire	इच्छा
Diagram	रेखाचित्र
Direct Tax	प्रत्यक्ष कर
Distribution	वितरण
Division of Labour	श्रमविभाग
Economics	अर्थशास्त्र, संपत्तिशास्त्र
Economic Rent	आर्थिक लगान
Efficiency	कार्यकुशलता, कार्यक्षमता
Elasticity of Demand	मांग की लोच
Enterprise	साहस

Equlibrium of Supply and Demand	मांग और पूर्ति की समता
Ethics	नीतिशास्त्र
Exchange	विनिमय
Export	निर्यात
External Economics	बाह्य बचत
Factors of Production	उत्पत्ति के साधन
Factory	कल कारखाना
Family Budget	पारिवारिक आय-व्यय-पत्र
Famine	दुर्भिक्ष, अकाल
Fee	शुल्क
Feeling	अंतर्वेदना
Finance	राजस्व
Fixed Capital	अचल पूंजी
Foreign Trade	विदेशी व्यापार
Handicraft Stage	कारीगरी अवस्था
Human Geography	मानव भूगोल
Hydro-Electric	जलविद्युत्
Gold Standard Reseme	मुद्रा ढलाई लाभ कोश
Goverment Security	सरकारी सिक्यूरिटी या कर्जपत्र
Import	आयात
Income-Tax	आय-कर

Indirect Tax	परोक्ष कर
Inequality	असमानता
Insurance	बीमा
Intensification of Demand	मांग की प्रबलता
Internal Economics	आभ्यंतरिक बचत
Irrigation	सिंचाई
Joint Stock Company	मिश्रित पूंजी वाली कंपनियां
Labour	श्रम
Land Mortgage Bank	भूमिबंधक बैंक
Land Revenue	मालगुजारी
Large-Scale Production	बड़ी मात्रा की उत्पत्ति
Law of Equimarginal Utility	समसीमांत उपयोगिता नियम
Legal Tender	कानूनन ग्राह्य
Localisation of Industry	उद्योग-धंधे का स्थानीयकरण
Luxuries	विलासिता की वस्तुएं
Machine	मशीन
Management	प्रबंध
Managing Director	प्रधान संचालक
Manufactured Goods	तैयार माल
Marginal Utility	सीमांत उपयोगिता
Market	बाजार

Matter	पदार्थ
Maximum Satsifiction	अधिकतम सन्तु
Means of Communication	संवाद वाहन के साधन
Minerals	खनिज पदार्थ
Mobility	गतिशीलता
Money	रुपया पैसा, द्रव्य
Moral-Self restraint	इंद्रिय निग्रह
National Wealth	राष्ट्रीय संपत्ति
Neccssaries for Efficiency	निपुणतादायक पदार्थ
Necessaries for Life	जीवन रक्षक पदार्थ
Occupancy Tenant	मौरूसी काश्तकार
Octroi Duty	चुंगी
Organisation	व्यवस्था
Paper Money	कागजी मुद्रा
Partnership	साझेदारी
Permanant Settlement	स्थायी बंदोबस्त
Pleateau	पठार
Politics	राजनीति शास्त्र
Preventive Checks	प्रतिबंधक उपाय
Principle of Substitution	प्रतिस्थापन सिद्धांत
Price	कीमत
Productive Canal	उत्पादक नहर

Profit	मुनाफा
Protection to Industries	उद्योग-धंधों का संरक्षण
Public Finance	राजस्व
Raw Material	कच्चा माल
Real Interest	वास्तविक सूद
Real Wages	असली मजदूरी
Satisfiction	संतुष्टि, संतोष
Savings	बचत
Social customs	रीतिरिवाज
Socialism	समाजवाद
Sociology	समाजशास्त्र
Sources of Power	शक्ति के स्रोत
Standard Coin	प्रामाणिक सिक्का
Standard of Living	रहन सहन का दर्जा
Statutory Tenant	कानूनी काश्तकार
Sub-tenant	शिकमी दर शिकमी काश्तकार
Supply	पूर्ति
Token Coin	सांकेतिक सिक्का
Total Utility	कुल उपयोगिता
Transport	यातायात
Utility	उपयोगिता
Value in Exchange	मूल्य
Wants	आवश्यकताएँ
Weakening of Demand	मांग की शिथिलता
Wealth	धन, संपत्ति

शब्दानुक्रमणिका

—०:-:०—

अ

इ

उ

ख

ग

घ

च

ज

द

ब

भ

म

य

र

ल

व

श

स

भारतवर्षीय हिन्दी-अर्थशास्त्र-परिषद्

(सन् १९२३ ई० में संस्थापित)

सभापति—

श्रीयुत पंडित दयाशंकर दुबे, एम्० ए०, एल्-एल् बी० अर्थशास्त्र अध्यापक, प्रयाग-विश्वविद्यालय, प्रयाग।

मंत्री—

(१) श्रीयुत जयदेवप्रसादजी गुप्त, एम्० ए०, बी० कॉम०, एस० एम० कालेज, चंदौसी।

(२) साहित्यरत्न पंडित उदयनारायण जी त्रिपाठी एम्० ए०, अध्यापक, दारागंज हाईस्कूल, दारागंज, प्रयाग।

इस परिषद का उद्देश्य है जनता में हिन्दी-द्वारा अर्थशास्त्र का ज्ञान फैलाना और उसका साहित्य बढ़ाना। कोई भी सज्जन १) प्रवेश शुल्क देकर इस परिषद का सदस्य हो सकता है। प्रत्येक सदस्य को परिषद द्वारा प्रकाशित या संपादित पुस्तकें पौने मूल्य पर दी जाती है।

परिषद की संपादन-समिति द्वारा सम्पादित होकर निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैः-—

(१) भारतीय अर्थशास्त्र (भारतीय ग्रन्थमाला, वृन्दावन)
(२) भारतीय राजस्व (भारतीय ग्रन्थमाला, वृन्दावन)
(३) विदेशी विनिमय (गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ)
(४) अर्थशास्त्र शब्दावली (भारतीय ग्रन्थमाला, वृन्दावन)
(५) कौटिल्य के आर्थिक विचार। (" ")
(६) संपत्ति का उपभोग (साहित्य-मन्दिर; दारागंज, प्रयाग)
(७) भारतीय बैंकिंग (रामदयाल अग्रवाल, प्रयाग)

(८) हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य (भारतीय ग्रन्थ-माला, वृन्दावन)
(९) धन की उत्पत्ति (लाला रामनारायण लाल, प्रयाग)
(१०) सरल अर्थशास्त्र (" " " ")
(११) ग्राम्य अर्थशास्त्र (" " " ")

इनके अतिरिक्त, निम्नलिखित पुस्तकों का सम्पादन हो रहा है:—

(१२) मूल्य-विज्ञान ।
(१३) वितरण
(१४) अङ्क-शास्त्र ।
(१५) समाज शास्त्र

हिन्दी में अर्थशास्त्र-सम्बन्धी साहित्य की कितनी कमी है, यह किसी साहित्य-प्रेमी सज्जन से छिपा नहीं है। देश के उत्थान के लिये इस साहित्य की शीघ्र वृद्धि होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक देश-प्रेमी तथा हिन्दी प्रेमी सज्जन से हमारी प्रार्थना है कि वह इस परिषद का सदस्य होकर हम लोगों को सहायता देने की कृपा करे। जिन महाशयों ने इस विषय पर कोई लेख या पुस्तक लिखी हो, वे उसे सभापति के पास भेजने की कृपा करें। लेख या पुस्तक परिषद द्वारा स्वीकृत होने पर सम्पादन-समिति द्वारा विना मूल्य सम्पादित की जाती है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण परिषद अभी तक कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं कर पाई है, परन्तु वह प्रत्येक लेख या पुस्तक को सुयोग्य प्रकाशक द्वारा प्रकाशित कराने का पूर्ण प्रयत्न करती है। जो सज्जन अर्थशास्त्र सम्बन्धी किसी भी विषय पर लेख या पुस्तक लिखने में किसी प्रकार सहायता चाहते हों, वे नीचे लिखे पते से पत्र-व्यवहार करें।

दारागंज, प्रयाग } दयाशंकर दुबे, ए